पाश्चात्य दर्शन

डा० चन्द्रधर शर्मा

पाश्चात्य दर्शन

लेखक की अन्य रचनायें–

१. Indian Philosophy

२. Dialectic in Buddhism and Vedanta

३. बौद्ध दर्शन और वेदान्त (उत्तर-प्रदेश-राज्य द्वारा पुरस्कृत)

४. सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह

५. श्रद्धाभरणम् (संस्कृत खण्ड-काव्य)

६. स्तोत्र-त्रयी

७. सुर्जनचरितमहाकाव्यम् महाकविचन्द्रशेखरविरचितम् (हिन्दीभाषानुवाद-सहित सम्पादित)

पाश्चात्य दर्शन

चन्द्रधर शर्मा,
एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०, एल् एल्० बी०,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
दर्शन-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भार्गव बुक डिपो बनारस

प्रकाशक
भार्गव बुक डिपो
बनारस ।

प्रथम संस्करण
१९५४
मूल्य चार रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस ।

दिवङ्गता बहिन

सौभाग्यवती

की

पुनीत स्मृति

में

निवेदन

दर्शन समाज, सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य निधि है। किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक परिचय पाने के लिये उसकी दार्शनिक विचारधारा का ज्ञान आवश्यक होता है। पाश्चात्य दर्शन में पश्चिम के अनेक देशों की विचारधाराओं का सङ्गम हुआ है--मुख्यतः ग्रीक, ईसाई और आधुनिक विचारधारा की त्रिवेणी का, जिसमें प्रत्येक विचारधारा कई छोटी छोटी विचार-धाराओं के मिश्रण से बनी है।

प्रस्तुत पुस्तक में पाश्चात्य दर्शन के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। पश्चिम के प्रथम दार्शनिक थेलीज़ से लेकर हेगल तक के विचारों का समावेश इसमें है। हेगल के बाद के दार्शनिक विचार सम-सामयिक दर्शन के अन्तर्गत आ जाते हैं और उनके विवेचन के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है।

प्रस्तुत पुस्तक बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को दृष्टि में रख कर लिखी गई है। साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि पाश्चात्य दर्शन के जिज्ञासु पाठकों तथा अँग्रेज़ी न जानने वाले विद्वज्जनों के लिये भी यह समान रूप से उपयोगी हो। हिन्दी में अभी तक पाश्चात्य दर्शन पर ऐसी कोई पुस्तक नहीं है जो एम० ए० या बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये सर्वथा उपयुक्त हो। इस कारण प्रश्नपत्रों के उत्तर हिन्दी में लिखने की उत्कट इच्छा रखने वाले बहुत से विद्यार्थियों को भी विवश होकर अँग्रेज़ी भाषा की ही शरण लेनी पड़ती है। इस अभाव को दूर करने के लिये यह पुस्तक लिखी गई है।

इस पुस्तक का प्रयोजन पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का सरल, सुगम, स्पष्ट, क्रमिक और संक्षिप्त, किन्तु यथासंभव पूर्ण, परिचय प्रस्तुत करना है। पुस्तक का दृष्टिकोण तुलनात्मक और आलोचनात्मक है। प्रयत्न किया गया है कि यथासम्भव सुबोध भाषा में पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा की विभिन्न प्रवृत्तियों और महत्वपूर्ण विचारों के मूल और वास्तविक स्वरूप को तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक रीति से स्पष्ट कर दिया जाये। पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि कोई भी महत्वपूर्ण विचार या मुख्य प्रवृत्ति छूटने न पाये। अनावश्यक विस्तार और अप्रासंगिक विवेचन को, जिनसे बहुत-सी पुस्तकें प्रायः भरी रहती हैं, छोड़ दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मेरे पाश्चात्य दर्शन के वर्षों के गहन अध्ययन और अध्यापन का परिणाम है। विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का विवेचन करने में मैंने उनके विशेषज्ञ पण्डितों और दर्शन के श्रेष्ठतम इतिहासकारों के ग्रन्थों से स्वच्छन्द सहायता ली है, किन्तु पुस्तक मेरे अपने दृष्टिकोण से लिखी गई है और इसमें यत्र-तत्र मेरे मौलिक विचार भी घुल-मिल गये हैं। प्रयत्न यही किया गया है कि जो कुछ लिखा जाय वह प्रामाणिक और स्पष्ट हो, फिर भी यदि कहीं कोई त्रुटियाँ रह गई हों तो उन सबका उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

पाश्चात्य विचारधारा को हिन्दी में लिखते समय कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनमें भाषा और सांस्कृतिक परम्परा के भेद मुख्य हैं। पाश्चात्य विचारधारा को हिन्दी के कलेवर में जीवित उतार देना कठिन अवश्य है, किन्तु असाध्य नहीं। इस कार्य में मुझे अपने भारतीय दर्शन के गहन अध्ययन से बहुत अधिक सहायता मिली है। भारतीय दार्शनिक विचारधारा और पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा में, भाषा और सांस्कृतिक परम्परा के महत्वपूर्ण भेद होने पर भी, कई महत्वपूर्ण विषयों में साम्य है और इसलिये पाश्चात्य दर्शन के कई पारिभाषिक शब्दों के पर्याय संस्कृत के दार्शनिक वाङमय में उपलब्ध हैं। पाश्चात्य दर्शन के कई पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी में भ्रष्ट अनुवाद करने की अपेक्षा मैंने भारतीय दर्शन में उपलब्ध पर्यायों का ही प्रयोग किया है। जिन शब्दों के लिये पर्याय मुझे नहीं मिल सके उनका उचित अनुवाद कर दिया गया है। मैंने पाश्चात्य दर्शन के विचारों को यथासम्भव भारतीय दर्शन के शब्दों में ही अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अपने ढंग की प्रथम रचना है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये पारिभाषिक शब्दावली पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दे दी गई है। पाश्चात्य दार्शनिक विचारों से साम्य रखने वाले भारतीय दार्शनिक विचारों की ओर टिप्पणी में संकेत कर दिया गया है।

मैं उन सब पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का आभारी हूँ जिनकी कृतियों से या जिनसे मुझे उत्साह, शक्ति और सहायता मिली है।

पुस्तक के प्रकाशन और मुद्रण के लिये मैं बन्धुवर श्रीयुत पृथ्वीनाथजी भार्गव को हार्दिक धन्यवाद अर्पण करता हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी,
विजया दशमी, सं० २०११
ता० ७-१०-१९५४

चन्द्रधर शर्मा

श्रीः

अनुक्रम

द्वितीय खण्ड : आधुनिक युग

"विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्व का साक्षात्कार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।"

—प्लेटो

श्रीः

प्रथम खण्ड : प्राचीन युग और मध्य युग

प्रथम अध्याय

ग्रीक दर्शन : सॉक्रेटीज़ तक

पाश्चात्य दर्शन का जन्म ग्रीस में हुआ। ग्रीक दार्शनिकों ने पहले जड जगत् का विवेचन किया; फिर अन्तर्मुखी दृष्टि से चेतन आत्मा का विश्लेषण किया; और अन्त में जड जगत् तथा चेतन आत्मा का समन्वय तत्व में कर दिया। ग्रीक दर्शन का अध्ययन पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को जानने के लिये तो आवश्यक है ही, किन्तु उसका अपना भी एक आकर्षण है। ग्रीक दर्शन के बिना पाश्चात्य दर्शन को जानना असम्भव है। पाश्चात्य दर्शन के सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का सूत्रपात ग्रीक दर्शन में हो गया था। ह्वाइटहैड (Whitehead) का यह कथन कि "यूरोपीय दार्शनिक-परम्परा प्लेटो के सिद्धान्तों पर धारावाहिक टिप्पणी है", सर्वथा सत्य है। एरिस्टॉटल का मध्ययुग की शास्त्रीय विचारधारा पर जो अत्यधिक प्रभाव पड़ा वह प्रसिद्ध है। मध्ययुग में एरिस्टॉटल ज्ञान के प्रतीक माने जाते थे। प्रसिद्धि है कि एक पिता ने अपने पुत्र को, जिसने सूर्य में कुछ धब्बों को अपने वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध किया था, यह पत्र लिखा: "प्रिय पुत्र ! मैंने एरिस्टॉटल को कई बार पढ़ा है और मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं कही। अतः निश्चित समझो कि जिन धब्बों को तुम सूर्य में बताते हो, वे सूर्य में न होकर तुम्हारी ही आँखों में हैं।" ग्रीक दर्शन के अध्ययन का, यूरोप को धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त करने में और दर्शन का स्वतन्त्र वैज्ञानिक विश्लेषण करने में, विशेष हाथ रहा है। मध्ययुग की धार्मिक दासता को समाप्त करके आधुनिक युग का सूत्रपात करने में ग्रीक दर्शन के अध्ययन ने बड़ा योग दिया है। साथ ही साथ, विश्लेषण और सन्देह के कुप्रभाव को रोकने में और संश्लेषण तथा समन्वयात्मक अन्तर्दृष्टि जाग्रत् करने में एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित करने में भी ग्रीक दर्शन के अध्ययन ने सक्रिय सहायता दी है।

सभ्यता, संस्कृति और दर्शन का ग्रीस में सहसा प्रादुर्भाव होना अनेक विद्वानों के आश्चर्य का विषय रहा है। प्रायः विद्वानों की यही मान्यता है कि यह ग्रीस का अपना स्वतन्त्र विकास है और इस पर कोई बाह्य प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु

बीसवीं शती के कई अन्वेषणों से, विशेषतः भू-गर्भ की खुदाई में प्राप्त कई महत्वपूर्ण वस्तुओं से, यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन ग्रीस पर मिस्र और बेबिलोनिया का प्रभाव निःसन्देह पड़ा है। यह भी बहुत कुछ संभव है कि भारतीय विचारधारा भी, ईरान, मिस्र और बेबिलोनिया होती हुई, ग्रीस के उपनिवेशों में और वहाँ से ग्रीस में पहुँची हो।

ग्रीक दर्शन का सबसे प्राचीन मत 'माइलेशियन मत' (Milesian School) है, जिसके तीन प्रतिनिधि—थेलीज़, एनेक्ज़िमेन्डर और एनेक्ज़िमेनीज़ हैं।

थेलीज़ (Thales):—थेलीज़ पाश्चात्य दर्शन के सर्वप्रथम दार्शनिक हैं। इनकी गणना ग्रीस के 'सप्तर्षियों' में की जाती है। इन्होंने मिस्र की रेखागणित-प्रणाली का ग्रीस में प्रथम बार प्रचार किया। इनका समय ईसा से पूर्व छठी शताब्दी है क्योंकि इन्होंने ५८५ ई० पू. में होने वाले सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी कर दी थी।

थेलीज़ के अनुसार विश्व का परम तत्व 'जल' है।[१] जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति है, जल के ऊपर ही इसकी स्थिति है और जल में ही इसका प्रलय है। जल, बिन्दु रूप से, सबका जनक है। जल गति और परिणाम का सूचक है और उस परिणाम का आधारभूत तत्व भी है। जल तरल है, किन्तु उड़नेवाली भाप के रूप में और घन बर्फ़ के रूप में भी बदलता है। जल जीवन और पोषण के लिये आवश्यक है।

एनेक्ज़िमेन्डर (Anaximander):—थेलीज़ के शिष्य थे। इनकी कृति, "प्रकृति पर निबन्ध" ('On Nature'), यूरोपीय दर्शनसाहित्य की प्रथम रचना है। इसके कुछ अंश प्राप्त हैं। एनेक्ज़िमेन्डर के अनुसार जल या अन्य किसी भौतिक द्रव्य को परम तत्व नहीं माना जा सकता। परम तत्व अनन्त होना चाहिये। चारों भौतिक द्रव्य, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, सान्त हैं। इनमें परस्पर संघर्ष है। यदि इनमें कोई द्रव्य या महाभूत अनन्त होता तो अन्य महाभतों की सत्ता नहीं रहती। अतः परम तत्व इन चारों महाभूतों से भिन्न और इनका भी जनक होना चाहिये। इस परम तत्व को उन्होंने केवल 'असीम' (Apeiron or The Boundless) कह कर पुकारा है। यह अनन्त, नित्य, स्वयम्भू, अविनाशी और अपरिणामी है। इस परम तत्व से सब भूतों की उत्पत्ति है, इसी में उनकी स्थिति है और इसी में उनका लय है।[२] स्वयं अपरिणामी और अगतिशील होने पर भी यह परम तत्व संसार की गति, परिणाम, विरोध और संघर्ष का जनक है। सांसारिक पदार्थों में विरोध या संघर्ष होना अनिवार्य है

---

१. **'अप एव ससर्जादो तासु बीजमवासृजत्।'**

२. **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। 'जन्माद्यस्य यतः'।**

क्योंकि उसी से उनका विकास होता है। इन विचारों का प्रभाव हेरेक्लाइटस और हेगल पर पड़ा है। एनेक्ज़िमेन्डर विकासवाद के भी जनक हैं। उनके अनुसार सृष्टि की 'उत्पत्ति' का वास्तविक अर्थ उसका 'विकास' है। मछली आदि जल-जन्तुओं से पक्षी और पशुओं के द्वारा क्रमशः मनुष्य का विकास हुआ है। एने-क्ज़िमेन्डर ने, यरोप में पहली बार, पृथ्वी को गोल और सूर्य को पृथ्वी से कई गुना बड़ा बताया। उन्होंने ही प्रथम मानचित्र भी बनाया।

एनेक्ज़िमेनीज (Anaximenes):—ये एनेक्ज़िमेन्डर के शिष्य बताये जाते हैं। इनमें न तो अपने गुरु जैसी प्रतिभा थी और न वैसी मौलिकता। इन्होंने वायु को परम तत्व माना और उसे असीम और अनन्त बताया। वायु ही अग्नि का रूप लेती है और तरल होकर जल बन जाती है एवं जम कर पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाती है। आत्मा भी प्राणवायु ही है। इससे गति और जीवन का संचार होता है। समस्त लोक वायु के आधार पर टिके हुये हैं।

माइलेशियन मत का महत्व उसके सिद्धान्तों की अपेक्षा उसकी अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण अधिक है।

माइलेशियन मत के बाद पाइथेगोरियन मत का जन्म हुआ। इसके संस्थापक **पाइथेगोरस** (Pythagoras) थे। इनमें वैज्ञानिक विश्लेषण और रहस्यवादी साधना का समन्वय था। इनका समय ईसा से पूर्व छठी शताब्दी है। गणित के ये संस्थापक माने जाते हैं। रेखागणित में इनके नाम से इनका एक सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है। इनके अनुसार सब पदार्थ संख्यामात्र (Numbers) हैं। संगीत को ये मानसिक दोष दूर करने का साधन मानते थे और दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहते थे। जैसे संगीत में विविध स्वर एक ही तान को ध्वनित करते हैं, वैसे ही दर्शन में भी सब सांसारिक पदार्थ, परस्पर भिन्न होते हुये भी, एक ही तत्व का राग अलापते हैं। माइलेशियन दार्शनिकों ने 'द्रव्य' (Matter) का विवेचन किया। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' (Form) की प्रतिष्ठा की। स्वरूप अतीन्द्रिय, सामान्य और विज्ञानरूप है। अभेद, समन्वय और सामंजस्य इसी के कारण संभव होते हैं। गणित का विषय 'विज्ञान' है। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत जगत् में जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं, वे सब विज्ञानों की क्षीण प्रतिकृति हैं। पाइ-थेगोरस के इन विचारों का प्रभाव प्लेटो के विज्ञानवाद पर पड़ा है।

पाइथेगोरस ने अपने 'समाज' की स्थापना की। इस संस्था के सदस्य धार्मिक और नैतिक जीवन बिताते हुये दर्शन की चर्चा और रहस्यमय साधना करते थे। वे निरामिषभोजी थे और पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। आत्मा की अमरता और ईश्वर की प्रभुता को मानते थे। त्याग, तपस्या और संयम पर उनका विशेष ध्यान था। कर्मवाद में उनकी अटल श्रद्धा थी। प्राक्तन कर्मों से

यह जीवन बना है और इस जन्म के कर्म पुनर्जन्म के स्वरूप का निर्माण करेंगे। शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। गुरु और शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को वे बहुत महत्व देते थे। असली विद्या गुरुकृपा से प्राप्त होती है। संसार जन्म-मरण का चक्र है। इस भवचक्र से छुटकारा पाना मानव-जीवन की सार्थकता है। यह ज्ञान से ही संभव हो सकता है। दर्शन ज्ञान का प्रेम है। असली ज्ञान तटस्थ द्रष्टा का ज्ञान है। निर्लिप्त होकर इस जगत् में साक्षी के समान रहना सर्वोत्तम है। ओलिम्पिक खेलों में तीन प्रकार के मनुष्य आते हैं—प्रथम, वे जो केवल क्रय-विक्रय करने आते हैं; द्वितीय, वे जो खेल में भाग लेते हैं; और तृतीय वे हैं जो केवल दर्शक बनकर आते हैं। इसी प्रकार इस जीवन में भी तीन श्रेणियों के लोग हैं—सबसे नीचे वे हैं जो केवल क्रय-विक्रय करते हैं; मध्यम श्रेणी में वे लोग हैं जो इस जीवन के खेल में सक्रिय भाग लेते हैं; उत्तम श्रेणी में वे हैं जो केवल तटस्थ द्रष्टा हैं। इन्हीं को क्रमशः धन के प्रेमी, यश के प्रेमी और ज्ञान के प्रेमी कहा जाता है। ज्ञान का प्रेमी होना अर्थात् तटस्थ दार्शनिक होना सर्वोत्तम है। प्लेटो ने भी पाइथेगोरस के इन विचारों को अपनाया है। महावीर और बुद्ध के समसामयिक पाइथेगोरस के ये विचार भारतीय विचारों से बहुत कुछ मिलते हैं।

द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) की समस्या के बाद ग्रीक दर्शन में परिणाम (Becoming) और सत्ता (Being) की समस्या आती है।

हेरेक्लाइटस (Heraclitus):—ये ईसा पूर्व छठी शताब्दी के अन्त और पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुये। भगवान् बुद्ध के अन्तिम दिनों में इनका जन्म हुआ था। इनका जन्म भी राजकुल में हुआ था और ये अपने छोटे भाई को उत्तराधिकारी घोषित करके विरक्त हो गये थे। ये बड़े स्वाभिमानी और प्रतिभाशाली थे। रहस्यवाद की ओर इनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। इनकी सूक्तियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने लिखा है—"मेरा दर्शन इने गिने सुयोग्य व्यक्तियों के लिये ही है, क्योंकि गधों को घास चाहिये, स्वर्ण नहीं।" हेरेक्लाइटस क्षणभङ्गवादी थे।

हेरेक्लाइटस के अनुसार अग्नि या तेजस्तत्व परम तत्व है। इसी से जल और पृथ्वी उत्पन्न होती है। यह तत्व ज्वलन्त और गतिशील है। अग्नि और परिणाम, दोनों एक हैं। संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। सब अनित्य और क्षणिक है। वस्तुतः कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो गतिशील या परिणामी हो, किन्तु गति या परिणाम ही एकमात्र तत्व है। विश्व गति है, परिणाम है, धारा है, प्रवाह है, सन्तान है। कोई भी व्यक्ति एक नदी में दो बार नहीं नहा सकता, क्योंकि जिस पानी में प्रथम बार स्नान किया वह बह गया और उसके स्थान पर दूसरा पानी आ गया। दूसरी बार स्नान दूसरे पानी में ही हो सकता है। अग्नि-शिखा प्रतिक्षण बदलती रहती है। कोई वस्तु दो क्षणों तक नहीं टिक सकती। नदी में प्रतिक्षण पानी बहता रहता है; अग्नि-

शिखा में प्रतिक्षण नई लौ उठती रहती है। 'एकता' की भ्रान्ति 'समानता' और 'अविच्छिन्न वेग' के कारण होती है। एक जल-समूह दूसरे जल-समूह के समान है और एक लौ दूसरी लौ के समान। अविच्छिन्न वेग से एक के बाद तुरन्त दूसरा जल-समूह या दूसरी लौ आती रहती है। अतः हमें यह भ्रान्ति हो जाती है कि 'यह **वही** पानी है' या 'यह **वही** शिखा है।' अखण्ड गति, निरन्तर परिवर्तन, अविच्छिन्न प्रवाह, अटूट धारा—यह संसार का नियम है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि बौद्धों ने भी अपने क्षणभंगवाद के प्रतिपादन में जल-प्रवाह और दीप-शिखा के दृष्टान्त दिये हैं।

हेरेक्लाइटस ने संघर्ष, विरोध, निषेध और अभाव को बहुत महत्व दिया है। विरोध और निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन है। अतः जीवन के लिये विरोध आवश्यक है। विरोध का अभाव मृत्यु है। विरोध या निषेध के बिना गति या विकास सम्भव नहीं। प्रत्येक वस्तु अपनी शक्ति से अपनी विरोधी वस्तु में बदलती है और फिर उसको भी अपने साथ लेकर आगे चलती है। विरोध का अर्थ आत्यन्तिक विरोध नहीं है। हेरेक्लाइटस ने तर्कशास्त्र के विरोध-नियम को तिलांजलि नहीं दी है। विरोध का अर्थ है परिवर्तन। आत्यन्तिक विरोध असम्भव है; यह हमारी कल्पना है, वस्तु-सत्य नहीं। पक्ष का विपक्ष में परिवर्तन होता है और फिर समन्वय की आवश्यकता होती है। विरोध तो साधन मात्र है; साध्य समन्वय है। पक्ष और विपक्ष का विरोध (Strife of Opposites) समन्वय (Attunement) को उत्पन्न करता है। हेरेक्लाइटस ने इसे दो दृष्टान्तों से समझाया है। प्रथम, जब धनुष से बाण चलाया जाता है तो चलानेवाले के दोनों हाथ विरोधी दिशाओं में खिंचते हैं, किन्तु लक्ष्य उनका एक ही है। द्वितीय, वीणा के तार भिन्न-भिन्न रीति से खींचे जाते हैं और तब भी विभिन्न स्वर एक ही राग को उत्पन्न करते हैं। अतः विरोध समन्वय का जनक है। हेरेक्लाइटस के इन विचारों को आगे चलकर हेगल ने अपनाया है।

हेरेक्लाइटस में सापेक्षवाद (Relativism) और बुद्धिवाद (Rationalism) दोनों मिलते हैं। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है अतः प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। जो क्षणिक है, उसका सापेक्ष होना अनिवार्य है।[१] समुद्र का पानी मछली के लिये मीठा और मनुष्य के लिये खारा है। "हम हैं भी और नहीं भी हैं।" हम 'सत्' भी हैं, 'असत्' भी हैं, और 'सदसदनिर्वचनीय' भी। जितने भी द्वन्द्व हैं, सब सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ, एक और अनेक; अच्छा और बुरा; गति और स्थिति; परिणाम और सत्ता; जीवन और मरण, सर्दी और गर्मी आदि। जीवन अग्नि है; सुषुप्ति जल है; मृत्यु पृथ्वी है। अग्नि, जल और पृथ्वी—यह 'अवनत मार्ग' (Ano or The Way Down) है; पृथ्वी, जल और

---

१. बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद।

अग्नि--यह 'उन्नत मार्ग' (Keto or The Way Up) है।[१] अवनत मार्ग तत्व के अवतार (Descent) या तिरोभाव (Involution) का मार्ग है; उन्नत मार्ग तत्व के आविर्भाव (Ascent) या विकास (Evolution) का मार्ग है। संसार में, व्यवहार में, ये दोनों मार्ग भिन्न प्रतीत होते हैं। परमार्थ में ये दोनों मार्ग एक हो जाते हैं।[२]

हेरेक्लाइटस सापेक्षवाद पर ही नहीं रुक जाते; उनकी प्रवृत्ति बुद्धिवाद की ओर भी है। अग्नि विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है और सब कुछ इस अग्नि का परिणाम है। विश्व में सार्वभौम नियम है। यह चेतन विज्ञान (Logos) है। यह दिक्कालातीत है। इन्द्रियानुभूतिजन्य ज्ञान क्षीण और मन्द होता है। यह 'अवनत मार्ग' है। शुद्ध ज्ञान विज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है। यह 'उन्नत मार्ग' है। सांसारिक मनष्य अपनी उदर-पूर्ति में ही लगे रहते हैं। उन्हें इस विज्ञान का साक्षात् करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह विशुद्ध विज्ञान निरन्तर जलनेवाली अग्नि की ज्योति है। इसका साक्षात्कार मानव-जीवन का लक्ष्य है।

हेरेक्लाइटस का प्रभाव परवर्ती यूरोपीय दार्शनिकों पर बहुत अधिक पड़ा है। उनके 'विशुद्ध विज्ञान' और 'सापेक्षवाद' का प्रभाव प्रोटेगोरस के इस सिद्धान्त पर कि 'विज्ञानात्मा मनुष्य ही सब पदार्थों का मानदण्ड है' (Homo Mensura), स्पष्ट है। प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् के लिये हेरेक्लाइटस का क्षणिकवाद और सापेक्षवाद स्वीकार कर लिया। उनके सापेक्षवाद ने सोफ़िस्ट लोगों (Sophists) को और बुद्धिवाद ने स्टोइक्स (Stoics) को प्रभावित किया। उनके बुद्धिवाद का प्रभाव आधुनिक युग के बुद्धिवादियों पर पड़ा। उनका यह सिद्धान्त कि "बालक के समान निर्मल हुये बिना ज्योति का साक्षात्कार नहीं होता" ईसाई धर्म को भी मान्य हुआ।[३] उनके संघर्ष के सिद्धान्त की छाप नीत्शे पर पड़ी। उनके क्षणिकवाद का प्रभाव ह्यूम, विलियम जेम्स और बर्गसाँ पर पड़ा। उनके विरोध या निषेध और समन्वय सम्बन्धी विचार हेगल ने स्वीकार किये।

जेनोफ़ेनीज (Xenophanes):—ये स्वतन्त्र विचारक और बुद्धिवादी थे तथा चुभते हुये व्यंग्य कसने में निपुण थे। ये ईश्वर को निराकार और अन्तर्यामी मानते थे और मानव-कल्पित सगुण ईश्वर का खण्डन करते थे। इनका यह कथन प्रसिद्ध है कि "यदि बैलों, घोड़ों और शेरों के हाथ मनुष्य के समान होते और उन हाथों से वे चित्र बना सकते, तो वे ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़े, और शेर के रूप में चित्रित करते।" इनके अनुसार ईश्वर, निराकार, नित्य, अपरिणामी और अन्तर्यामी है। ईश्वर सब में है और सब कुछ ईश्वर में है।

---

१. बन्ध और मोक्ष; संसार और निर्वाण; पितृयान और देवयान; कृष्ण और शुक्ल आदि।

२. 'यः संसारस्तन्निर्वाणम्' और 'बन्ध एव मोक्षः'।

३. तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

पार्मेनाइडीज (Parmenides):—इनका समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी है। प्लेटो के अनुसार जब एथेन्स में इनका वार्तालाप सॉक्रेटीज़ से हुआ तब इनकी अवस्था ६५ वर्ष की थी। पार्मेनाइडीज़ ने कविता में अपनी दार्शनिक कृति लिखी है जिसमें ये स्वर्ग पहुँचते हैं और वहाँ देवी इनको सत्य का दर्शन कराती है।

पार्मेनाइडीज़ का दर्शन हेरेक्लाइटस के क्षणिकवाद का तीव्र खण्डन करता है। इनके अनुसार तत्व 'सत्' है, परिणाम या गति नहीं। तत्व 'शुद्ध सत्ता' (Pure Being) है। वह एक, अद्वितीय, नित्य, अपरिणामी, अविनाशी और कूटस्थ है। गति या परिवर्तन भ्रान्ति है। यह व्यवहार का मार्ग (Way of Opinion) है। शुद्ध 'सत्' परमार्थ का मार्ग (Way of Truth) है।

पामनाइडीज़ का शद्ध 'सत्' शुद्ध 'चित्' भी है। वह विशुद्ध विज्ञानरूप है। सत्ता और बोध एक ही हैं। सत् सदा समरस या एक-सा रहता है। उसमें कोई विक्रिया या परिणाम नहीं होता। वह निरपेक्ष, पूर्ण, स्वयम्भू और नित्य है।

गति, परिवर्तन या परिणाम केवल भ्रान्ति है। वस्तुतः गति असम्भव है। गति या परिवर्तन का अर्थ है 'असत्' और 'सत्' कभी 'असत्' नहीं हो सकता। यदि 'सत्' की परिणति हो, तो वह या तो 'सत्' के रूप में होगी या 'असत्' के रूप में। यदि 'सत्' की परिणति 'सत्' में हो, तो यह कोई परिणति नहीं हुई। और यदि 'सत्' की परिणति 'असत्' में हो, तो यह असंभव है। यदि 'सत्' की उत्पत्ति 'असत्' से हो, तो यह असंभव है क्योंकि शून्य से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और यदि 'सत्' की उत्पत्ति 'सत्' से हो, तो यह कोई उत्पत्ति नहीं हुई क्योंकि इसकी कोई आवश्यकता नहीं अर्थात् जो वस्तु 'सत्' या विद्यमान है उसे फिर 'उत्पन्न' करने की क्या आवश्यकता? इससे सिद्ध हुआ कि गति या परिणाम भ्रान्ति है और तत्व सदा अपरिणामी एवं कूटस्थ है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वस्तुतः इस विश्व की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह संसार गतिशील है और भ्रममात्र है। इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं, इसकी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं। यह पार्मेनाइडीज़ का 'मायावाद' या 'अजातिवाद' है।[१]

'सत्' अविभाज्य है। उसके विभाग या खण्ड नहीं हो सकते। वह व्यापक है, अतः परमाणुओं को 'सत्' नहीं कहा जा सकता। वे भी भ्रममात्र हैं।

'सत्' एक या अद्वितीय और निरपेक्ष है। दो 'सत्' मानने पर दोनों सापेक्ष हो जावेंगे और निरपेक्ष नहीं रह सकेंगे। फिर वे दोनों एक दूसरे की सत्ता को नष्ट कर देंगे। समस्त द्वैत, भेद या प्रपंच भ्रान्तिमात्र है। तत्व अद्वय 'सत्' ही है।

---

१. शून्यवादी बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों ने भी ऐसे तर्कों का प्रयोग किया है।

'सत्' पूर्ण है। उसकी कोई इच्छा या कामना नहीं है, अन्यथा वह अपूर्ण हो जायगा। वह 'आप्तकाम' है।

'सत्' अनन्त है। उसे सान्त मानने पर वह विनाशी और असत् बन जायगा। वह अपरिणामी और कूटस्थ है।

'सत्' स्वयंभू है। उसका स्वयं का कोई कारण नहीं है। वह सबका कारण है। उसके कारण की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आता है।

'सत्' विज्ञानरूप है। वह जड नहीं हो सकता क्योंकि जडता असत् की द्योतक है।

पार्मेनाइडीज़ को यूरोपीय विज्ञानवाद का संस्थापक कहा जा सकता है। उनके अनुसार 'सत्' और 'चित्' एक ही हैं। उन्हें व्यवहार और परमार्थ का भेद भी मान्य है। वे परम अद्वैतवादी हैं। उनका 'सत्' विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। प्लेटो और एरिस्टॉटल भी पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानवादी ही मानते हैं। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार पार्मेनाइडीज़ का 'सत्' भौतिक या जड द्रव्य है। पार्मेनाइडीज़ ने 'सत्' को, अपनी कविता के एक स्थल में, "गतिशून्य गोल द्रव्य" कहा है। इस स्थल को आधार मानकर प्रोफ़ेसर बर्नेट और ज़ेलर ने 'सत्' को "भौतिक" मान लिया है। किन्तु यह अनुचित है। पार्मेनाइडीज़ ने 'सत्' की 'गोल द्रव्य' से **तुलना** की है, उसे 'गोल द्रव्य' रूप नहीं बताया है। किसी भी व्यक्ति को 'गधा' कहने से वह वास्तव में गधा नहीं हो जाता। और फिर ,पार्मेनाइडीज़ के सारे काव्य की केन्द्रीय विचारधारा को न देखकर केवल एक स्थल पर विशेष आग्रह देना भी उचित प्रतीत नहीं होता। प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज़ और एडम्सन ने पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' को "अनन्त विज्ञान और अनन्त जड का सम्मिश्रण" बताया है। प्रोफ़ेसर वेबर का कथन है कि "पार्मेनाइडीज़ और हेरेक्लाइटस का अद्वैतवाद उस संगमरमर के खण्ड के समान है, जिसको हाथ धोने के पात्र का या देवता की मूर्ति का रूप दिया जा सकता है; उसका विकास जडाद्वैतवाद में भी किया जा सकता है और विज्ञानाद्वैतवाद में भी।" हमारे मत में पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानाद्वैतवादी मानना ही उचित है। प्लेटो और एरिस्टॉटल का इस विषय में अनुकरण करना योग्य है। वे दोनों भी पार्मेनाइडीज़ को विज्ञानाद्वैतवादी ही मानते थे। पार्मेनाइडीज़ के अनुयायी मेलिसस ने भी इसी की पुष्टि की है। यह सत्य है कि विज्ञानाद्वैतवाद पार्मेनाइडीज़ में उस विकसित रूप में नहीं मिलता जिसमें वह प्लेटो या स्पिनोज़ा में मिलता है और यह स्वाभाविक भी है।

हेरेक्लाइटस और पार्मेनाइडीज़ दोनों ने इन्द्रियानुभूति का विश्वास न करके तत्व को विज्ञान में खोजा। हेरेक्लाइटस का ध्येय 'अवनत मार्ग' से 'उन्नत मार्ग' की ओर, और पार्मेनाइडीज़ का ध्येय 'व्यवहार' से 'परमार्थ' की ओर जाने का

था। दोनों ने तत्व को विज्ञानस्वरूप माना। हेरेक्लाइटस ने 'विज्ञान के सार्व-भौम नियम' (Logos) की और पार्मेनाइडीज़ ने 'चिद्रूप शुद्ध सत्ता' (Pure Being) की प्रतिष्ठा की। दोनों ही विज्ञानाद्वैतवादी थे। किन्तु दोनों के निष्कर्ष भिन्न थे। हेरेक्लाइटस के अनुसार नित्यत्व भ्रान्ति है और पार्मेनाइडीज़ के अनुसार अनित्यत्व और परिणाम भ्रान्ति है।

ज़ीनो (Zeno):—ज़ीनो ईलिया के निवासी और पार्मेनाइडीज़ के पट्ट शिष्य थे। उनके प्रखर तर्कों के प्रहार भयंकर होते थे। उन्होंने विरोधियों का प्रबल खण्डन करके भेद-प्रपंच और गति को भ्रान्तिमात्र सिद्ध किया। भेद-प्रपंच के विरुद्ध उनके तर्क इस प्रकार हैं:—

यदि 'सत्' अनेक–रूप हो तो उसे एक साथ अणु से भी अणु और महान् से भी महान् होना चाहिये। अनेक–रूप होने के कारण उसे विभाज्य, और सत् होने के कारण अविभाज्य होना चाहिये। किन्तु ये दोनों विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। अतः 'सत्' अद्वितीय है और भेद-प्रपंच मिथ्या है।

यदि 'सत्' अनेक–रूप हो तो उसे एक साथ 'सान्त' और 'अनन्त' दोनों होना पड़ेगा जो असंगत है।

यदि 'सत्' अनेक–रूप हो तो उसकी सत्ता आकाश में माननी पड़ेगी और आकाश से परिच्छन्न होने के कारण वह 'सत्' नहीं रहेगा।

गति के विरुद्ध ज़ीनो के तर्क ये हैं:—

गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पहले इस दूरी की आधी दूरी तक जाना पड़ेगा और इस आधी दूरी के पहले इसकी भी आधी दूरी तय कर लेनी पड़ेगी और इस प्रकार आधी दूरी की संभावना सदा बनी रहने के कारण गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। 'सान्त' समय में यह 'अनन्त' दूरी तय नहीं की जा सकती।

एकिलीज़ (ग्रीस का सबसे तेज दौड़ने वाला पौराणिक व्यक्ति) भी दौड़ में एक कछुये के आगे नहीं निकल सकते, यदि कछुआ उनसे पहले चल चुका हो। क्योंकि जब एकिलीज़ 'क' नामक स्थान पर पहुँचेंगे तब तक कछुआ 'ख' पर पहुँच जायगा और जब एकिलीज़ 'ख' पर पहुँचेंगे तब तक कछुआ 'ग' पर पहुँच जायगा, और इस प्रकार गति का अन्त नहीं होगा।

वेग से उड़ता हुआ तीर भी वस्तुतः स्थिर है, क्योंकि गति का आरम्भ नहीं हो सकता।

अतः न गति का आरम्भ है, न मध्य और न अन्त। इसलिये गति केवल भ्रान्ति है।[1]

मेलिसस (Melissus):—ज़ीनो ने विरोधियों का खण्डन करके पार्मेनाइ-डीज़ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मेलिसस ने पार्मेनाइडीज़ के तर्कों को और

१. बौद्धों, वेदान्तियों और ब्रडले ने ऐसे तर्कों का प्रयोग किया है।

अधिक पुष्ट किया। पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' के विषय में कुछ आधुनिक विद्वानों को जो भ्रान्ति हो गई है कि यह 'सत्' भौतिक है या कि यह भौतिक और विज्ञान रूप दोनों हो सकता है, और जिस भ्रान्ति का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं उस भ्रान्ति का मेलिसस ने निराकरण कर दिया था। मेलिसस ने 'सत्ता-शून्य आकाश' का खण्डन करके 'सत्' को अनन्त विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया। शून्य प्रतीत होने वाला आकाश भी अनन्त 'सत्' से पूर्ण है और यह तभी हो सकता है जब यह 'सत्' भौतिक न होकर विज्ञान रूप हो।

हेरेक्लाइटस का 'परिणाम' अपरिणामी अधिष्ठान के बिना सम्भव नहीं। पार्मेनाइडीज़ का 'सत्' पूर्ण निर्गुण होने के कारण शून्य-वत् प्रतीत होता है। अतः इन दोनों का समन्वय होना आवश्यक था। यह कार्य अपने अपने दृष्टिकोणों से, एम्पेडोक्लीज़, एनेक्ज़ेगोरस और ल्यूसिपस तथा डिमॉक्रिटस ने किया। इस समन्वयात्मक कार्य में, हेरेक्लाइटस के 'परिणाम' और पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' के साथ साथ माइलेशियन मत के 'द्रव्य' का भी मिश्रण कर दिया गया।

एम्पेडोक्लीज (Empedocles):—एम्पेडोक्लीज़ का व्यक्तित्व महान् था। उनको राज्य-सिंहासन भेंट किया गया था, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे देव-तुल्य पूज्य समझे जाते थे और जहाँ कहीं भी वे जाते थे हज़ारों नर-नारी उनके उपदेशों को सुनने के लिये लालायित रहते थे।

एम्पेडोक्लीज़, पार्मेनाइडीज़ के समान, 'सत्' को नित्य और अविकारी मानते हैं। 'सत्' की न उत्पत्ति है और न विनाश। वे हेरेक्लाइटस से इस बात में सहमत हैं कि संसार में परिणाम का साम्राज्य अखण्ड है। माइलेशियन दार्शनिकों में थेलीज़ ने जल को और एनेक्ज़िमेनीज़ ने वायु को परम तत्व माना था। हेरेक्लाइटस ने अग्नि को परम तत्व स्वीकार किया था। एम्पेडोक्लीज़ ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूपी चारों महाभूतों को 'सत्' मान लिया। ये चारों महाभूत नित्य, अविकारी और मौलिक हैं। इनकी न उत्पत्ति होती है और न इनका विनाश होता है। इनका केवल संयोग और वियोग होता है। इस संयोग-वियोग को सिद्ध करने के लिये एम्पेडोक्लीज़ ने दो धर्मों की कल्पना की। एक को उन्होंने 'प्रेम' (Love) कहा और दूसरे को 'विरोध' (Discord)। उनके 'प्रेम' को आकर्षण और 'विरोध' को विकर्षण कहा जा सकता है। 'प्रेम' संयोग का जनक है और 'विरोध' वियोग का। इन चारों महाभूतों के संयोग और वियोग के कारण सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। आरम्भ में ये चारों महाभूत दिव्यलोक में संयुक्त थे। जब 'विरोध' ने 'प्रेम' पर विजय प्राप्त कर ली तब इनका परस्पर वियोग हो गया। तब से ही सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम वायु वियुक्त हुआ, फिर अग्नि, फिर जल और फिर पृथ्वी। जब 'प्रेम' का प्राधान्य होगा तब ये महाभूत फिर दिव्यलोक में संयुक्त

हो जावेंगे। यह प्रलय की अवस्था होगी। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का क्रम चलता रहेगा।

एम्पेडोक्लीज़ के विचारों का न्याय-वैशेषिक के विचारों से बहुत कुछ साम्य स्पष्ट है। किन्तु दोनों में कई महत्वपूर्ण भेद भी हैं। न्याय-वैशेषिक में आत्मा और परमात्मा तथा अदृष्ट का विशिष्ट स्थान है। एम्पेडोक्लीज़ के दर्शन में इनका कोई स्थान नहीं और न उन्होंने अपने महाभूतों को परमाणुरूप माना। इसके लिये ग्रीक दर्शन को एनेक्ज़ेगोरस, ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

एनेक्ज़ेगोरस (Anaxagoras):—एनेक्ज़ेगोरस 'सत्' को नित्य, अविकारी और उत्पत्ति-विनाश-रहित मानने में पार्मेनाइडीज और एम्पेडोक्लीज़ से सहमत हैं। उत्पत्ति को संयोग और विनाश को वियोग मानने में वे एम्पेडोक्लीज़ से सहमत हैं। किन्तु एनेक्ज़ेगोरस के अनुसार एम्पेडोक्लीज़ के चार महाभूत मौलिक तत्व नहीं हैं; ये भी मौलिक तत्वों के संयोग से बने हैं। ये मौलिक तत्व अनन्त हैं। इनको एनेक्ज़ेगोरस ने 'बीज' (Seeds) कहा है। ये 'बीज' अपने मौलिक रूप में विश्व भर में व्याप्त थे। इनमें सहसा वेग से गति उत्पन्न हुई जिसके कारण समान 'बीज' परस्पर आकर्षित होकर एक दूसरे से मिलते चले गये और इस प्रकार इस सृष्टि का निर्माण हुआ।

किन्तु समस्या यह थी कि यह गति कैसे उत्पन्न हुई? इस समस्या का समाधान करने में एनेक्ज़ेगोरस को सहसा एक ऐसी सुन्दर कल्पना सूझी जिसके कारण ग्रीक दर्शन में आज तक उनको प्रतिष्ठित स्थान मिला हुआ है। एनेक्ज़ेगोरस ने यह स्पष्ट स्वीकार किया कि गति जड 'बीजों' में स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती। गति का कारण चेतन तत्व ही हो सकता है जो शक्तिमान् है। इस चित्-शक्ति-युक्त तत्व को एनेक्ज़ेगोरस ने 'परम विज्ञान' (Nous) का नाम दिया। यह 'परम विज्ञान' समस्त विश्व का अधिष्ठाता है और 'बीजों' में गति उत्पन्न करने का कारण है। यह त्रिकालदर्शी है और समस्त जीवन का मूल-स्रोत है। यह 'बीजों' का भी 'बीज' है और विश्व में सामंजस्य और एकरूपता उत्पन्न करता है।[1]

हेरेक्लाइटस ने अपने अग्नितत्व को विज्ञानरूप (Logos) माना था। पार्मेनाइडीज़ ने भी अपने 'सत्' को विज्ञानरूप (Thought) माना था। किन्तु वे दोनों ही इस विज्ञान के स्वरूप को विशद नहीं कर पाये। एनेक्ज़ेगोरस को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने अपने 'परम विज्ञान' (Nous) को इस रूप में रक्खा। किन्तु दुःख की बात है कि स्वयं एनेक्ज़ेगोरस इस 'परम विज्ञान' से लाभ नहीं उठा सके। वे भी इसका विशद विवेचन नहीं कर सके। इसका मुख्य कार्य 'बीजों' में गति उत्पन्न करने तक ही सीमित रह गया। इसके लिये ग्रीक

---

१. न्यायवैशेषिक में यह कार्य ईश्वर अदृष्ट की सहायता से करते हैं।

दर्शन को सॉक्रेटीज़ की प्रतीक्षा करनी पड़ी। प्लेटो ने सॉक्रेटीज़ के मुँह से कहलाया है: "मैंने एक व्यक्ति को एनेक्ज़ेगोरस की पुस्तक पढ़कर कहते हुये सुना कि उनके अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति और उसके सामंजस्य का कारण 'परम विज्ञान' है। मुझे यह सुनकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। किन्तु थोड़ी देर बाद ही मेरी आशाओं पर पानी फिर गया जब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने अपने 'परम विज्ञान' का कोई उपयोग नहीं किया।"

जिस प्रकार प्रोफ़ेसर बर्नेट पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' को जड और प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज़ उसे 'जड-चेतन' मानते हैं, उसी प्रकार का भाग्य इन विद्वानों के हाथों एनेक्ज़ेगोरस के 'परम विज्ञान' को भी मिला है। प्रोफ़ेसर बर्नेट ने इसे "अत्यन्त सूक्ष्म जड तत्व" कहने की कृपा की है और प्रोफ़ेसर गॉम्पर्ज़ ने इसे "न तो सर्वथा जड और न सर्वथा चेतन" बतलाया है। जिस प्रकार मेलिसस, प्लेटो और एरिस्टॉटल पार्मेनाइडीज़ के 'सत्' को विज्ञानरूप समझते थे, उसी प्रकार प्लेटो और एरिस्टॉटल एनेक्ज़ेगोरस के 'परम विज्ञान' को, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, विज्ञानरूप मानते थे। उनकी शिकायत यही थी कि एनेक्ज़ेगोरस अपने इस 'परम विज्ञान' का सदुपयोग नहीं कर सके। प्लेटो का उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। एरिस्टॉटल का कथन यह है: "एनेक्ज़ेगोरस ने अपने 'परम विज्ञान' से वही काम लिया जो नाटककार अपने नाटक में, ऐसी विषम परिस्थिति आ जाने पर जिसे वे सुलझा नहीं सकते, 'भगवान् के हस्तक्षेप' से लेते हैं (अर्थात् भगवान् के हस्तक्षेप से कोई अनहोनी घटना घटाकर विषम परिस्थिति सुलझा लेते हैं)। इस 'परम विज्ञान' का कार्य अपने स्वर्ग से उतरकर उस दुःखपूर्ण ग्रन्थि को काट देना था जिसे सुलझाने का अन्य कोई साधन नहीं था (अर्थात् 'बीजों' में गति का संचार कर देना ही इसका कार्य था)"।

परमाणुवादी ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस:—एम्पेडोक्लीज़ और एनेक्ज़ेगोरस ने परमाणुवादी ल्यूसिपस (Leucippus) और उनके प्रसिद्ध शिष्य डिमॉक्रिटस (Democritus) के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया था। ये परमाणुवादी एम्पेडोक्लीज़ और एनेक्ज़ेगोरस से इस विषय में सहमत थे कि परमतत्व नित्य, अविकारी तथा उत्पत्ति-विनाश-रहित हैं और उत्पत्ति का अर्थ संयोग तथा विनाश का अर्थ वियोग मात्र है। वे एनेक्ज़ेगोरस से इस विषय में सहमत थे कि एम्पेडोक्लीज़ के चारों महाभूत मौलिक न होकर मौलिक द्रव्यों के संयोगमात्र हैं। एम्पेडोक्लीज़ के 'बीजों' को परमाणुवादियों ने अपने अविभाज्य परमाणुओं में परिणत कर दिया। एम्पेडोक्लीज़ ने गति के लिये 'प्रेम' और 'विरोध' की कल्पना की और एनेक्ज़ेगोरस ने 'परम विज्ञान' की शरण ली, किन्तु परमाणुवादियों ने गति को परमाणुओं का ही धर्म मान लिया।

ल्यूसिपस और डिमॉक्रिटस के परमाणु मौलिक, अविभाज्य, अतीन्द्रिय, नित्य, उत्पत्ति-विनाश-रहित जड तत्व हैं। गति उनका धर्म है। उनमें केवल संख्या,

परिमाण और आकार का भेद है; अन्य गुणों का भेद उनमें नहीं है। वे आकाश में स्थित हैं और एक दूसरे से अलग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का अर्थ है उनका परस्पर संयोग और विनाश का अर्थ है उनका परस्पर वियोग। आत्मा या विज्ञान कोई अलग तत्व नहीं है; वह भी इन परमाणुओं के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं में गुण-गत भेद भी हैं, किन्तु जैनों और ग्रीक परमाणुवादियों के अनुसार गुण-गत भेद नहीं है। न्याय-वैशेषिक और जैनों के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र तत्व है और परमाणुसंयोग से उत्पन्न नहीं होता। न्याय-वैशेषिक के अनुसार गति के कारण ईश्वर हैं, जो अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति-संचार करते हैं। जैनों के अनुसार गति कर्म से उत्पन्न होती है। ग्रीक परमाणुवादियों के अनुसार गति परमाणुओं का अपना ही धर्म है।

सोफिस्ट सम्प्रदाय (The Sophists):—ईसा पूर्व पाँचवीं शती के मध्य में ग्रीस में सन्देहवाद की धारा वेग से बही। धार्मिक अन्धविश्वास उखड़ रहे थे और सामाजिक तथा नतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आँच आ रही थी। जिन लोगों ने इस विचार-स्वातन्त्र्य को लाने में सहायता दी वे 'सोफ़िस्ट' कहलाते हैं। ये लोग अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज हैं। प्रारम्भ में 'सोफ़िस्ट' शब्द का कोई बुरा अर्थ नहीं था। ग्रीक प्रजातन्त्र में जो युवक राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में उच्च पदों के अभिलाषी थे और न्यायालयों में वकील बनने के इच्छुक थे, उनका अन्य बातों के ज्ञान के साथ-साथ तर्कपटु और कुशलवक्ता होना आवश्यक था। उस समय आधुनिक ढंग के विद्यालय तो थे नहीं, अतः सोफ़िस्ट लोग नगर-नगर घूमकर सम्पन्न परिवा ों के नवयुवकों को फ़ीस लेकर वक्तृत्वकला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, तर्कशास्त्र आदि की शिक्षा देते थे। प्रारम्भ के सोफ़िस्ट तो दर्शन और ज्ञान में सच्चा प्रेम रखते थे, किन्तु बाद के सोफ़िस्ट केवल वृत्ति-प्रेमी और धन के लोभी ही थे। पर्याप्त धन मिलने पर वे किसी बाज़ारू कुत्ते को अपना पिता सिद्ध कर सकते थे। अतः बाद में वे हीन दृष्टि से देखे जाने लगे और 'सोफ़िस्ट' शब्द की रूढ़ि व्यर्थ का तर्क करनेवाले के अर्थ में हो गई।

प्रोटेगोरस (Protagoras):—प्लेटो ने अपनी एक कृति इन्हीं के नाम पर लिखी है जिससे सिद्ध होता है कि प्लेटो इनका आदर करते थे। प्रोटेगोरस का सिद्धान्त, "मानव सब पदार्थों का मानदण्ड है" (Homo Mensura), प्रसिद्ध है। हम देख चुके हैं कि हेरेक्लाइटस ने अपने 'सार्वभौम विज्ञान' (Logos) द्वारा, पार्मेनाइडीज़ ने अपने 'शुद्ध सत्ता रूप विज्ञान' (Pure Being) द्वारा और एनक्ज़ेगोरस ने अपने 'परम विज्ञान' (Nous) द्वारा, दर्शन का केन्द्र, बाह्य जगत् से हटाकर, अन्तरात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उन तीनों में, इस दृष्टि से, कोई भी पूर्ण सफल नहीं हुआ। प्रोटेगोरस ने भी अपने इस सिद्धान्त द्वारा इस दिशा में एक पद और बढ़ाया। किन्तु वे भी इसमें पूर्ण सफल नहीं हुये। उनका

'मानव' इन्द्रियानुभूति का ही मानव रह गया और उनका सापेक्षवाद व्यक्तिवाद के ऊपर नहीं उठ सका। पीलिया के रोगी को सफ़ेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। प्रोटेगोरस के अनुसार, रोगी का ज्ञान उसके लिये 'यथार्थ' है। किन्तु स्वास्थ्य की दशा रोग की दशा से अधिक उपयोगी होने के कारण स्वस्थ व्यक्तियों का ज्ञान रोगी के ज्ञान से अधिक प्रामाणिक है। यह प्रामाणिकता उपयोग पर निर्भर है। अतः प्रोटेगोरस को उपयोगितावाद (Pragmatism) का जन्मदाता कहा जा सकता है। प्रसिद्ध उपयोगितावादी शिलर (Schiller) भी अपने आपको प्रोटेगोरस का शिष्य कहते थे।

जॉर्जियस (Gorgias) :—दूसरे प्रसिद्ध सोफ़िस्ट जॉर्जियस हैं। प्रोटेगोरस को परम्परा और सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रति आदर था क्योंकि उनका मानव-समाज के लिये उपयोग है; किन्तु जॉर्जियस उग्र विचारों के हैं। उनको "भयंकर बालक" (Infant Terrible) की उपाधि मिली है। उनके अनुसार सत्य सापेक्ष ही है, निरपेक्ष सत्य असम्भव है। उनका मत है कि प्रथम तो, कोई सत्य ही नहीं है; द्वितीय, यदि हो भी तो उसे हम नहीं जान सकते; तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरों को नहीं समझा सकते।

सॉक्रेटीज़ (Socrates) (४७०–३९९ ई० पू०) :—सॉक्रेटीज़ की आँखें बड़ी, ओठ मोटे और नाक चपटी थी। वे एक लम्बा और ढीला चोगा पहनते थे जो सर्दी और गर्मी दोनों में काम देता था। प्रायः नंगे पैर घूमते थे। वाद-विवाद में उनकी अत्यधिक रुचि थी और वे प्रायः बाज़ार में या मित्र-मण्डलियों में दार्शनिक चर्चा करते रहते थे। उनका जीवन ऋषि-कल्प था। उनको सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते थे। उन्हें अपने शरीर पर अधिकार था। वे इन्द्रिय-जित् थे। उनके विषय में की गई इस धर्म-वाणी को कि "सॉक्रेटीज़ सब मनुष्यों में सर्वाधिक बुद्धिमान् है", उन्होंने इस अर्थ में समझा कि वे सचमुच अन्य लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं क्योंकि उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान है जब कि अन्य लोग अज्ञानी होते हुये भी स्वयं को ज्ञानी समझते हैं। सॉक्रेटीज़ का यह ध्येयथा कि वे लोगों को अज्ञान-मार्ग से हटाकर ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्त करें। उनकी माता दाई थी और वे अपने आपको भी, लोगों के विचाररूपी बच्चों को उत्पन्न कराने में और यह बताने में कि वे शुद्ध हैं या संकर, निपुण समझते थे। साथ ही साथ सॉक्रेटीज़ रहस्यवादी भी थे। उन्हें बहुधा अन्तरात्मा की ध्वनि सुनाई देती थी और महाभाव (Trances) भी आते थे। उन पर अधार्मिक होने का और युवकों को बहकाने का अभियोग लगाया गया और उन्हें विषपान द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया। उनका वास्तविक अपराध तत्कालीन प्रजातन्त्र और उसके नेताओं की पोल खोलकर उनके अज्ञान, दम्भ और आडम्बर का प्रखर खण्डन करना था। वे एक मास तक जेल में रहे। उनके शिष्य तथा मित्र उनको वहाँ से भगा ले चलने के लिये तैयार थे, किन्तु उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया। वे शान्तिपूर्वक हँसते-हँसते भयंकर विष का प्याला पीकर अमर हो गये।

प्लेटो ने अपनी 'एपॉलॉजी' ('Apology') नामक कृति में सॉक्रेटीज़ का वह महत्वपूर्ण भाषण, जो उन्होंने अपने अभियोग की सफ़ाई में न्यायालय में दिया था, दिया है, और अपनी 'फ़ीडो' ('Phaedo') नामक कृति में उन्होंने सॉक्रेटीज़ के अन्तिम समय का वर्णन किया है। सारे यूरोप की साहित्यिक रचनाओं में 'फ़ीडो' की तुलना की रचना पाना कठिन है। सॉक्रेटीज़ ने अपने सफ़ाई के ाषण में कहा था--'एथेन्स के नागरिको ! मैं तुम्हारा आदर और तुमसे प्रेम करता हूँ; किन्तु तुम्हारी आज्ञा मानने की अपेक्षा मैं ईश्वर की आज्ञा मानूँगा, और जब तक मुझमें जीवन और शक्ति है मैं दार्शनिक उपदेश देना और उनके अनुसार स्वयं आचरण करना बन्द नहीं कर सकता; और मेरा विश्वास है कि इस राज्य की, मेरी इस ईश्वर-सेवा से बढ़कर, और कोई भलाई नहीं हुई है। ....शरीर तो आत्मा का बन्धन है। आत्मा अमर है।....भले आदमी के लिये परलोक में कोई भय नहीं। अब वियोग का समय आ गया है और हम अपने-अपने मार्गों पर चलते हैं—मैं मृत्यु-पथ पर और तुम जीवन-पथ पर। इनमें कौन-सा मार्ग उत्तम है ईश्वर ही जानता है।'

'फ़ीडो' में सॉक्रेटीज़ के अन्तिम समय का वर्णन है। वे अपने मित्रों को समझाते हैं कि आत्मा अमर है और सच्चरित्र व्यक्ति के लिये परलोक में भी आनन्द है। फिर वे शान्तिपूर्वक हँसते-हँसते विषपान कर लेते हैं। 'फ़ीडो' के अन्तिम शब्द ये हैं—'इस प्रकार हमारे मित्र का अन्त हुआ, उस व्यक्ति का जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पुरुष, सबसे बड़ा ज्ञानी और सबसे बड़ा चरित्रवान् था।'

सॉक्रेटीज़ के दर्शन का ज्ञान मुख्यतः हमें उनके प्रधान शिष्य प्लेटो की कृतियों द्वारा उपलब्ध होता है। प्लेटो एक महान् दार्शनिक होने के साथ-साथ एक महान् साहित्यिक कलाकार भी थे। अतः उनके विचारों का सॉक्रेटीज़ के विचारों के साथ मिल जाना स्वाभाविक है। तथापि, सामान्यों या विज्ञानों का सिद्धान्त, इन्द्रियानुभूति और विज्ञान का भेद, विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिवतत्व ौर आत्मा की अमरता आदि सिद्धान्त, मूल रूप में, सॉक्रेटीज़ के सिद्धान्त कहे जा सकते हैं, जिनका प्लेटो ने विकास किया।

ग्रीक दर्शन की प्रारम्भिक विचारधारा बाह्य प्रकृति के विवेचन की ओर थी। इसको आत्माभिमुख करने के प्रयास सॉक्रेटीज़ के पहले भी किये गये। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' या 'संख्या' द्वारा, हेरेक्लाइटस ने 'सार्वभौम विज्ञान' द्वारा, पार्मेनाइडीज़ ने 'शद्ध सत्तारूप विज्ञान' द्वारा, एनेक्ज़ेगोरस ने 'परम विज्ञान' द्वारा और प्रोटेगोरस ने 'मानव-मानदण्ड' द्वारा दर्शन की प्रवृत्ति को आत्माभिमुख करने का प्रयास किया। किन्तु इनमें कोई भी अधिक सफल नहीं हो सका। इस सफलता का श्रेय निःसन्देह सॉक्रेटीज़ को है जिन्होंने स्पष्टरूप से तत्व के विज्ञानस्वरूप का प्रतिपादन किया और उसको दर्शन का केन्द्र बना दिया। विज्ञान

ही मानव का स्वरूप है। यह विज्ञान साक्षात्कार का विषय है। नैतिक जीवन इस साक्षात्कार में योग देता है। सॉक्रेटीज़ ने प्रथम बार इस विज्ञान को नैतिक जीवन का भी आधार बनाया।

हेरेक्लाइटस ने 'अवनत मार्ग' और 'उन्नत मार्ग' में भेद बताया। पार्मेनाइडीज़ ने 'व्यवहार' और 'सत्य' का भेद किया। सॉक्रेटीज़ ने इस 'व्यवहार' और 'परमार्थ' के भेद को और अधिक स्पष्ट किया। सॉक्रेटीज़ के 'विज्ञानवाद' या 'सामान्यवाद' (The Doctrine of Ideas or Forms) का वर्णन प्लेटो ने 'फ़ीडो' में किया है। यह विज्ञानवाद इन्द्रियानुभव और ज्ञान के भेद पर प्रतिष्ठित है। इन्द्रियानुभव व्यवहार है और ज्ञान परमार्थ। इन्द्रियानुभव के विषय अनित्य, क्षणिक और मिथ्या हैं; ज्ञान के विषय नित्य, अपरिणामी और सत्य हैं। इन्द्रियों का स्तर 'परिणाम', गति और अनित्यता का स्तर है; ज्ञान का स्तर 'सत्', नित्य और परमार्थ का स्तर है। गणित के विषय 'स्वरूप', 'सामान्य' या 'विज्ञान' हैं। असली 'वृत्त' या 'त्रिभुज' तो हमारे ज्ञान में ही है; हम जो वृत्त या त्रिभुज खींचते हैं वे इस असली 'वृत्त' या 'त्रिभुज' के प्रतिरूपमात्र हैं। असली वृत्त या त्रिभुज हम नहीं खींच सकते। इन्द्रियानुभव के विषय इन विज्ञानों के समान बनने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ठीक उन जैसे नहीं बन सकते। 'विशेष' या 'व्यक्ति' 'सामान्य' का अनुकरण करते हैं, किन्तु 'सामान्य' नहीं बन सकते। पाइथेगोरस ने भी अपने 'स्वरूपों' का वर्णन इसी प्रकार किया था और उनका गणित की 'संख्याओं' से तादात्म्य कर दिया था। सॉक्रेटीज़ ने इन 'स्वरूपों' को गणित तक ही सीमित नहीं रक्खा; इनका प्रयोग 'शिव' और 'सुन्दर' के क्षेत्रों में भी किया। असली शिवत्व या कल्याण और असली सौन्दर्य विज्ञानरूप हैं; इन्द्रियानुभव में इनकी क्षीण प्रतिकृतियाँ ही प्राप्त होती हैं। ज्ञान के विषय 'सामान्य' हैं और इन्द्रियानुभव के विषय 'विशेष' या 'व्यक्ति' हैं। सामान्य, स्वरूप और विज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। सत्य ज्ञान इन सामान्यों का ज्ञान ही है। विशेषों का ज्ञान केवल व्यवहार है। विशेषों की सत्ता सामान्य में 'भाग लेने' (Participation) के कारण है; सामान्य विशेषों में अनुस्यूत होकर उनको अनुप्राणित करता है। विशेष सामान्य की क्षीण 'प्रतिकृतियाँ,' 'प्रतिलिपियाँ', 'प्रतिरूप' (Copies) या 'प्रतिबिम्ब' (Images) हैं। सामान्य हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं हैं। इनकी वास्तविक सत्ता है। वस्तुतः असली सत्ता इनकी ही है। ये सामान्य या विज्ञान दिव्यलोक में रहते हैं। आत्मा अमर और दिव्यलोक की निवासी है जहाँ वह इन विज्ञानों का साक्षात् करती है। जब आत्मा इस लोक में आकर शरीर से परिच्छन्न हो जाती है, तो उसका दिव्य ज्ञान क्षीण और मन्द हो जाता है। फिर भी, उसे 'दिव्य विज्ञान' याद आते हैं (Reminiscence) और वह उनको ग्रहण करने का प्रयास करती है। किन्तु

इस प्रयास में वह सफल नहीं हो पाती और उसके विज्ञान इन वास्तविक दिव्य विज्ञानों के क्षीण प्रतिबिम्ब ही रह जाते हैं। इसका कारण इन्द्रियानुभूति है। हमारा सांसारिक ज्ञान इन्द्रियानुभूति पर निर्भर है और इन्द्रियानुभूति दिव्य विज्ञानों पर आवरण डाल देती है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके हम शरीर में रहते हुये भी उससे निर्लिप्त अशरीर बन सकते हैं और आत्म-ज्ञान द्वारा दिव्य विज्ञानों का साक्षात्कार कर सकते हैं।[1]

प्रश्न यह है कि क्या विज्ञानों का दिव्य-लोक और इन्द्रियानुभव का यह लोक नितान्त भिन्न हैं? क्या एक पूर्ण 'सत्' और दूसरा पूर्ण 'असत्' है? इनमें कोई सम्बन्ध भी है या नहीं? सॉक्रेटीज़ का स्पष्ट उत्तर है कि ये नितान्त भिन्न नहीं हो सकते। इन्द्रिय-जगत् अनित्य, क्षणिक, परिणामी और मिथ्या तो अवश्य है, किन्तु नितान्त असत् नहीं। यदि जगत् नितान्त असत् होता तो प्रतीति का विषय भी नहीं बन सकता था। इसको मिथ्या कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इसकी सत्ता अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह विज्ञान-जगत् के आलोक से ही प्रकाशित होता है। इसकी सत्ता इसीलिये है कि इसमें विज्ञान अनुस्यूत है। यह 'छाया' तो अवश्य है, किन्तु यह विज्ञानरूपी 'काया' की छाया है। बिना 'काया' के 'छाया' भी नहीं होती। इन्द्रिय-जगत् की सत्ता विज्ञान-जगत् में 'भाग लेने' के कारण है। इन्द्रिय-जगत् के पदार्थ विज्ञान-जगत् में जितना अधिक 'भाग लेते' हैं। वे उतने ही अधिक 'सत्' हैं। इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् का 'प्रतिबिम्ब' है। जिन पदार्थों में यह प्रतिबिम्ब जितना अधिक स्पष्ट होता जाता है, वे उतने ही अधिक 'सत्' हैं। 'सत्' के व्यावहारिक न्यूनाधिक्य का तारतम्य सॉक्रेटीज़ को मान्य है।

किन्तु अब भी एक समस्या और रह जाती है। वह है इस दिव्य विज्ञान-जगत् में विज्ञानों का परस्पर भेद। क्या ये दिव्य विज्ञान परस्पर भिन्न और पृथक् ही रहते हैं या इनमें सामंजस्य और एकरूपता है? क्या ये बिखरे हुये ही हैं या एक सूत्र में बद्ध हैं? इस समस्या का समाधान 'फ़ीडो' में तो नहीं मिलता, किन्तु इसकी झलक 'सिम्पोज़ियम' ('Symposium') में और इसका स्पष्टीकरण 'रिपब्लिक' ('Republic') में मिल जाता है। सॉक्रेटीज़ के अनुसार इन दिव्य विज्ञानों म भी तारतम्य है। ये बिखरे हुये नहीं हैं, किन्तु एक सूत्र में बद्ध हैं। यह सूत्र इन विज्ञानों का भी विज्ञान है। यह परम विज्ञान है। इस परम विज्ञान को 'सिम्पोज़ियम' में 'विशुद्ध सौन्दर्य' (Pure Beauty) और 'रिपब्लिक' में 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' (Idea of the Good) कहा गया है। यह शिवतत्व समस्त दिव्य विज्ञानों में और उनके द्वारा समस्त जगत् में अनुस्यूत है। यह परम तत्व है और इसका साक्षात्कार मानव-जीवन का लक्ष्य है।

---

१. वेदान्त की जीवन्मुक्तिः 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'।

कुछ विद्वानों के अनुसार सॉक्रेटीज़ का दर्शन विज्ञानों के बहुत्व तक ही सीमित रह गया है और इस सूत्रात्मा शिव-तत्व तक नहीं पहुँच पाया है। उनके अनुसार इस सूत्रात्मा का प्रतिपादन प्लेटो द्वारा ही हुआ है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्लेटो के सिद्धान्त अपने गुरु सॉक्रेटीज़ के सिद्धान्तों से इस तरह घुल मिल गये हैं कि उनकी सीमा का स्पष्ट निर्धारण अशक्य है। फिर भी, यह मानना युक्ति-युक्त है कि प्लेटो सॉक्रेटीज़ के मुख से ऐसी कोई बात नहीं कहला सकते जो सॉक्रेटीज़ की अपनी न रही हो। उन्होंने ये सब सिद्धान्त सॉक्रेटीज़ के मुख से कहलाये हैं। प्लेटो ने अपना मत अपनी बाद की रचनाओं में व्यक्त किया है जिनमें सॉक्रेटीज़ प्रधान वक्ता नहीं हैं। दूसरे, सॉक्रेटीज़ के रहस्यवाद को, उनकी साधना को, उनकी समाधि-अवस्था और उनके महाभावों को देखते हुये यह मानना सर्वथा उचित है कि उनको इस 'शिवतत्व' का ज्ञान अवश्य हुआ था। उपर्युक्त सब सिद्धान्त मूल रूप में सॉक्रेटीज़ के ही हैं। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इनको इस प्रकार स्पष्टरूप में रखने का श्रेय प्लेटो को है।

सॉक्रेटीज़ के दर्शन की पद्धति 'द्वन्द्वात्मक तर्क' (Dialectical Reasoning) की है। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति है। वे वादविवाद के अत्यन्त प्रेमी थे। किन्तु यह वादविवाद शुष्क या व्यर्थ का वादविवाद नहीं था, यह वादविवाद तत्वबोध के लिये था।[१] यह पद्धति मुख्यतः निषेधात्मक थी क्योंकि इसके द्वारा अन्ध-विश्वासों और अयुक्त मान्यताओं का खण्डन किया जाता है। सॉक्रेटीज़ का निश्चय था कि सविकल्प तर्क द्वन्द्वों में ही फँसा रहता है और दिव्य विज्ञान तक नहीं पहुँच पाता क्योंकि दिव्य विज्ञान निर्विकल्प स्वानुभूति का विषय है। अतः तर्क का मुख्य कार्य अपने ही विकल्पों का खण्डन करके निषेधरूप से यह सिद्ध करना है कि उसकी गति तत्व तक नहीं है। लोग यह मान लेते हैं कि उनकी सविकल्प बुद्धि का ज्ञान सत्य ज्ञान है, कि उनकी मान्यतायें सुदृढ़ हैं, कि उनके विश्वास अकाट्य हैं। किन्तु यह उनका अज्ञान है। सॉक्रेटीज़ की दार्शनिक पद्धति का लक्ष्य लोगों को अपने अज्ञान का ज्ञान कराकर उनको स्वानुभूति की ओर अग्रसर करने का था। और इसके लिये उनको मृत्युदण्ड मिला! सॉक्रेटीज़ ने दर्शन को "विज्ञानों का विज्ञान" (Science of Sciences) माना है। अन्य विज्ञान (Sciences) विकल्पों (Hypotheses) को मानकर चलते हैं। दर्शन विकल्पों का खण्डन करके चलता है। जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त हो जाते हैं, वहाँ दर्शन प्रारम्भ होता है क्योंकि दर्शन का लक्ष्य विशुद्ध विज्ञानस्वरूप तत्व का साक्षात्कार है।

---

१. वादे वादे जायते तत्वबोधः। २. अद्वैतवेदान्त और बौद्धदर्शन में तर्क का स्थान।

ज्ञान ही धर्म (Virtue) है। शिवतत्व का ज्ञान सर्वोत्तम धर्म है। अज्ञान ही अधर्म (Vice) है। शिवतत्व का ज्ञान न करना सबसे बड़ा अधर्म है। यह 'आत्म-हनन' है। ज्ञान 'कर्म' नहीं है और न कर्म द्वारा प्राप्त हो सकता है। यह तो 'स्वरूप-लाभ' है। लौकिक दृष्टि से सत्कर्मों को धर्म कहते हैं। ये अभ्यास से प्राप्त किये जा सकते हैं। इनसे चित्त-शुद्धि होती है। किन्तु इनको वास्तविक धर्म नहीं कह सकते। वास्तविक धर्म तो ज्ञान ही है जिसकी प्राप्ति होने पर अधर्म हो ही नहीं सकता।[1]

---

१. अद्वैत वेदान्त में ज्ञान और कर्म का स्थान।

द्वितीय अध्याय

ग्रीक दर्शन : प्लेटो

प्लेटो (Plato) (४२८ ई० पू०––३४७ ई० पू०) :—

प्लेटो ग्रीस के सबसे महान् और विश्व के एक महान् दार्शनिक हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। वे महान् साहित्यिक कलाकार भी थे। पाश्चात्य दर्शन का एक भी ऐसा मौलिक सिद्धान्त नहीं जो प्लेटो में न मिलता हो।

प्लेटो का जन्म उच्चकुलीन सामन्तपरिवार में हुआ था। सॉक्रेटीज़ के वे पट्ट शिष्य थे। सॉक्रेटीज़ की मृत्यु से ग्रीक प्रजातन्त्र के प्रति उनको घृणा हो गई। वे इटली और सिसिली भी गये थे। वहाँ से लौटकर एथेन्स में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध संस्था 'एकेडमी' ('Academy') की स्थापना की और उसके प्रधान आचार्य बन कर शान्ति से दर्शन के चिन्तन और अध्यापनकार्य में लगे रहे। सिसिली में उनको वहाँ के युवक राजा डायोनिसियस (Dionysius) को पढ़ाने के लिये राजा के संरक्षक डायोन (Dion) ने निमन्त्रित किया। प्लेटो वहाँ गये। किन्तु चार महीनों के भीतर ही डायोन और राजा में झगड़ा हो गया। डायोन को निर्वासित कर दिया गया और प्लेटो को एथेन्स लौट आना पड़ा। प्लेटो दुबारा सिसिली गये और डायोन तथा राजा में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। लगभग एक वर्ष सिसिली में रह कर वे एथेन्स लौट आये और शेष जीवन उन्होंने एकेडमी में ही शान्तिपूर्वक व्यतीत किया। एकेडमी का जीवन आश्रम-जीवन के समान था। प्लेटो का गुरु-शिष्य के साक्षात् सम्पर्क में अटल विश्वास था। एकेडमी के सदस्य एकसाथ रहते थे, एकसाथ खाते थे, एकसाथ पढ़ते थे और एकसाथ प्रार्थना करते थे।[१] उनका जीवन धार्मिक और दार्शनिक था।

प्लेटो ने अपनी महान् कृतियाँ सम्वादों (Dialogues) के रूप में लिखीं हैं। दार्शनिक महत्व के साथ-साथ उनका साहित्यिक महत्व भी विशेष है। प्लेटो ने पचास वर्षों में अनेक सम्वादों की रचना की है। प्लेटो के रचनाकाल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल एकेडमी की स्थापना के पूर्व का काल है जिसमें एपॉलॉजी (Apology), क्राइटो (Crito),

---

१ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

प्रोटेगोरस (Protagoras), जॉर्जियस (Gorgias), मेनो (Meno), फ़ीडो (Phaedo) और सिम्पोज़ियम (Symposium) नामक सम्वादों की रचना हुई। द्वितीय काल एकेडमी की स्थापना के तुरन्त बाद का काल है जिसमें रिपब्लिक (Republic) और फ़ीड्रस (Phaedrus) नामक सम्वादों की रचना हुई। तृतीय काल प्लेटो के वार्द्धक्य का काल है जिसमें पार्मेनाइडीज़ (Parmenides), थीटीटस (Theaetetus), सोफ़िस्ट (Sophist), फ़ाइलेबस (Philebus), टाइमियस (Timaeus) और लॉज़ (Laws) नामक सम्वादों की रचना हुई। इनके अतिरिक्त प्लेटो ने अपने असली सिद्धान्त अपने शिष्यों को उपदेशरूप में दिये जिनका उन्होंने प्रकाशन नहीं किया।

प्लेटो में ग्रीक दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है और इसीलिये उनको "पूर्ण ग्रीक" (The Complete Greek) की उपाधि दी गई है। माइलेशियन मत का 'द्रव्य', विशेषतः एनेक्ज़िमेन्डर का 'असीम', पाइथेगोरस का 'स्वरूप' या 'संख्या' और उनका रहस्यवाद, हेरेक्लाइटस का 'परिणाम' और 'सार्वभौम विज्ञान', पार्मेनाइडीज़ का 'चिद्रूप सत्', ज़ीनो का 'द्वन्द्वात्मक तर्क', एम्पेडोक्लीज़ का 'प्रेम', एनेक्ज़ेगोरस का 'परम विज्ञान', परमाणुवादियों का 'भौतिक विज्ञान', प्रोटेगोरस का 'मानव-मानदण्ड' एवं सॉक्रेटीज़ का 'विज्ञानवाद', 'विज्ञान-स्वरूप शिवतत्व' और 'द्वन्द्वात्मक तर्क' एवं 'निर्विकल्प स्वानुभूति'—इन सबका चरम विकास प्लेटो के दर्शन में हुआ है। प्लेटो ने इन सिद्धान्तों का संग्रहमात्र नहीं किया है। वे महान् दार्शनिक और कलाकार थे। उन्होंने अपने दर्शन में, अपनी मौलिक रीति से, इन सबका समन्वय किया है। प्लेटो ने पाइथेगोरस से गणित-प्रेम, रहस्यवाद, धार्मिकता, आत्मा की अमरता का सिद्धान्त, परलोक में विश्वास और "स्वरूप' या 'संख्या' का सिद्धान्त ग्रहण किया। हेरेक्लाइटस से उन्होंने यह शिक्षा ली कि दृश्य जगत् में परिणाम और अनित्यत्व का अखण्ड साम्राज्य है। पार्मेनाइडीज़ से उन्होंने 'सत्' के चिद्रूप, अद्वितीय, निरपेक्ष, नित्य, अपरिणामी, दिक्कालातीत और परमार्थ होने का सिद्धान्त ग्रहण किया। एनेक्ज़ेगोरस से उन्होंने 'परम विज्ञान' के जगत् की गति और परिणाम का एकमात्र कारण होने का सिद्धान्त लिया। परमाणुवादियों से उन्होंने अपने भौतिक विज्ञान के कुछ सिद्धान्तों में सहायता ली। अपने गुरु सॉक्रेटीज़ से उन्होंने सब कुछ लिया। और इन सब विचारों का समन्वय उन्होंने अपने मौलिक विचारों के साथ किया। अपने पूर्ववर्ती सारे ग्रीक दार्शनिकों का प्रभाव प्लेटो पर पड़ा और प्लेटो का प्रभाव अपने परवर्ती सारे पाश्चात्य दार्शनिकों पर पड़ा।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्लेटो प्रधान रूप से रहस्यवादी हैं। उनके लिये दर्शन जीवन का अङ्ग है। दर्शन का लक्ष्य तत्व का निर्विकल्प साक्षात्कार है। आत्मा को इन्द्रियानुभूति से ऊपर उठाकर तर्क के सविकल्प स्तर पर होते हुये

निर्विकल्प स्वानुभूति तक ले जाना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। दर्शन का लक्ष्य असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना है। यह साधना द्वारा हो सकता है । तर्क तत्व की ओर संकेतमात्र करता है। तत्व का साक्षात्कार साधना का विषय है। इसीलिये प्लेटो ने गुरु और शिष्य के साक्षात् सम्पर्क को इतना महत्व दिया। दार्शनिक का लक्ष्य शान्तिमय साधना द्वारा निर्विकल्प अनुभूति प्राप्त करना है। किन्तु दार्शनिक का कार्य लोकसंग्रह या लोककल्याण करना भी है । असली लोककल्याण तो सिद्ध की स्थितिमात्र से ही होता है, फिर भी आवश्यकता होने पर सिद्ध निर्लिप्त भाव से सांसारिक क्षेत्र में भी उतरते हैं। जब तक ऐसे सिद्ध दार्शनिकों का प्राधान्य न होगा, विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

एकेडमी में अध्ययन का कार्यक्रम इस प्रकार था : पहले गणित, रेखागणित, ज्यौतिष आदि का अध्ययन था, फिर द्वन्द्वात्मक तर्क का और अन्त में साधना की प्रणाली का। परमतत्व विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिव-तत्व है जो केवल स्वानुभूति का विषय है। सविकल्प तर्क द्वन्द्वात्मक और निषेध-प्रधान है। तर्क का कार्य अपने विकल्पों का खण्डन करके निषेधरूप से यह सिद्ध करना है कि उसकी गति तत्व तक नहीं। वह तत्व की ओर संकेत मात्र करके निर्विकल्प अनुभव की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है । द्वन्द्वात्मक तर्करूपी दर्शन "विज्ञानों का विज्ञान" (Science of Sciences) है क्योंकि जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त होते हैं वहाँ से इसका प्रारम्भ होता है । जब इस दर्शन का तर्करूपी निषेधरूप समाप्त होता है, तब निर्विकल्प अनुभवरूपी विधानरूप प्रारम्भ होता है। यह शिवतत्व की साधना है जो दर्शन का चरम लक्ष्य है।

प्लेटो का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त उनका 'विज्ञानवाद' (Theory of Ideas) है। कुछ विद्वानों के मत में यह सिद्धान्त प्लेटो का ही है, सॉक्रेटीज़ का नहीं, क्योंकि हम 'प्लेटो के सॉक्रेटीज़' को जानते हैं, 'ऐतिहासिक सॉक्रेटीज़' को नहीं। अन्य विद्वानों का मत है कि यह सिद्धान्त सॉक्रेटीज़ का ही है और प्लेटो ने अपने पिछले सम्वादों म इसका खण्डन कर दिया है। किन्तु सत्य बात यह है कि यह सिद्धान्त अपने मूल रूप में सॉक्रेटीज़ का है (यद्यपि स्वयं सॉक्रेटीज़ पर पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस और पार्मेनाइडीज़ आदि का प्रभाव पड़ा है) और प्लेटो ने इसका विकास करके इसे विशद रूप दिया है। यह विज्ञानवाद प्लेटो के 'फ़ीडो' आदि उन सम्वादों में मिलता है जिनमें सॉक्रेटीज़ की प्रधानता है। प्लेटो सॉक्रेटीज़ के मुँह से ऐसी कोई बात नहीं कहला सकते थे जो स्वयं सॉक्रेटीज़ को मान्य न रही हो क्योंकि य सम्वाद उन लोगों के पढ़ने के लिये थे जो सॉक्रेटीज़ और प्लेटो दोनों को जानते थे। सॉक्रेटीज़ ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। प्लेटो ने ही अपने सम्वादों में उनके दर्शन को रूप दिया। प्लेटो की उत्कृष्ट

साहित्यिक कला के कारण सॉक्रेटीज़ के और उनके विचार घुल-मिल गये हैं। फिर भी यह निःसन्देह सत्य है कि अपने मूल रूप में यह विज्ञानवाद सॉक्रेटीज़ का है और इसे अभिव्यक्त करने का श्रेय प्लेटो को है। प्लेटो को भी यह सिद्धान्त मान्य है और उन्होंने इसे विशद एवं विकसित किया है। प्लेटो के 'पार्मेनाइडीज़' नामक सम्वाद में इस विज्ञानवाद का 'खण्डन' किया गया है। जो लोग विज्ञानवाद को सॉक्रेटीज़ का मानते हैं, उनका मत है कि प्लेटो ने 'पार्मेनाइडीज़, में इसका खण्डन कर दिया है। जो लोग इसे प्लेटो का मानते हैं, उनका मत है कि प्लेटो ने आगे चलकर अपने विचार बदल दिये। किन्तु दोनों ही मत ठीक नहीं हैं। वस्तुतः 'पार्मेनाइडीज़' में विज्ञानवाद का **खण्डन** नहीं किया गया है, किन्तु उसका **संशोधन** किया गया है। प्लेटो ने अपने 'फ़ीडो' आदि पूर्व सम्वादों में सॉक्रेटीज़ के विज्ञानवाद का वर्णन किया है और 'पार्मेनाइडीज़' में उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप, उसका संशोधन कर दिया है। सॉक्रेटीज़ के अनुसार इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् में "भाग लेता" है और उसको "प्रतिबिम्बित" करता है। प्लेटो के अनुसार "**भाग लेने**" की ध्वनि यह निकल सकती है कि इन्द्रिय-जगत् वस्तुतः विज्ञान-जगत् का '**सत्य अंश**' है। ऐसा मानने पर व्यवहार और परमार्थ का भेद ही नहीं रहता और व्यवहार केवल 'अपूर्ण परमार्थ' बन जाता है। यह प्लेटो को मान्य नहीं। और '**प्रतिबिम्ब**' मानने पर यह ध्वनि निकल सकती है कि व्यवहार में कोई तत्व नहीं। तब व्यवहार '**असत्**' बन जाता है। और यह भी प्लेटो को मान्य नहीं। अतः प्लेटो इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान-जगत् का '**अंश**' या '**प्रतिबिम्ब**' कहने की अपेक्षा उसे विज्ञान-जगत् की '**अभिव्यक्ति**' (Expression) कहना अधिक अच्छा समझते हैं। यह प्लेटो का सॉक्रेटीज़ के मत में प्रथम संशोधन है। द्वितीय, सॉक्रेटीज़ ने विज्ञानस्वरूप शिव-तत्व की ओर संकेत मात्र किया है। प्लेटो विज्ञानों को इस शिवतत्व के सूत्र में पिरोकर उसको और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यह सत्य है कि प्लेटो भी, सॉक्रेटीज़ के समान, शिवतत्व को अनिर्वचनीय और स्वानुभूतिगम्य मानते हैं और इसके विषय में अधिक नहीं कहते, किन्तु इस शिवतत्व की अनिर्वचनीयता और प्राधान्य का तो उन्होंने स्पष्ट विवेचन कर दिया है। तृतीय, सॉक्रेटीज़ ने विज्ञानों के बहुत्व का इस शिवतत्व में स्पष्टतया विलय नहीं किया। प्लेटो ने स्पष्ट रूप से विज्ञानों को भी इस शिवतत्व की 'अभिव्यक्ति' मात्र माना है। ये तीन महत्वपूर्ण संशोधन प्लेटो ने सॉक्रेटीज़ के विज्ञानवाद में किये हैं।

प्लेटो के **विज्ञानों** पर हम पाँच दृष्टि-कोणों से विचार कर सकते हैं--(१) ज्ञान की दृष्टि से (Epistemologically), (२) स्वरूप की दृष्टि से (Logically), (३) उद्देश्य की दृष्टि से (Teleologically), (४) सत्ता की दृष्टि से (Ontologically) और (५) रहस्य की दृष्टि से (Mystically)।

(१) ज्ञान की दृष्टि से, विज्ञान "**ज्ञान के वास्तविक विषय**" (True Objects of Knowledge) हैं। प्लेटो के अनुसार ज्ञान और ज्ञान का विषय, दोनों नित्य और अपरिणामी होने चाहिये। अनित्य और क्षणिक का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। गति, परिणाम, भेद और सापेक्षता का सदा अगतिशील, अपरिणामी, अद्वय और निरपेक्ष तत्व की ओर संकेत होता है जो इनका अधिष्ठान है और जिसके बिना इनकी प्रतीति भी सम्भव नहीं। हेरेक्लाइटस को भी कम से कम अपने 'परिणाम' को ही नित्य मानना पड़ा है। प्रोटेगोरस को भी अपने 'सन्देहवाद' के विषय में कोई सन्देह नहीं है। अनित्यवाद और सन्देहवाद के आधार पर किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं। अनित्यवाद और सन्देहवाद जब अपनी सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो ये अपना ही आत्मघात कर लेते हैं। इन्द्रिय-जगत् में अनित्यता और सन्देह का साम्राज्य अवश्य है, किन्तु यह इन्द्रिय-जगत् तक ही सीमित है। विज्ञान नित्य और असंदिग्ध है। विज्ञान स्वतःसिद्ध है। यदि विज्ञान का नित्यत्व और स्वतःसिद्धत्व स्वीकार नहीं किया जाय तो किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं हो सकता। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता और निश्चयात्मकता है, वह इन्द्रिय-जगत् से न आकर विज्ञान-जगत् से आती है। अतः इन्द्रिय-जगत् का विश्लेषण करनेवाले विविध भौतिक विज्ञानशास्त्र भी विज्ञान के नित्यत्व और स्वतःसिद्धत्व के कारण ही अपने शास्त्रों में सार्वभौम और निश्चयात्मक नियमों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इस सत्य की, जिसको आगे चलकर कान्ट ने विशद किया, प्रतिष्ठा करने के कारण प्लेटो को 'वैज्ञानिक ज्ञान' का प्रथम संस्थापक कहा जा सकता है। इन्द्रिय-जगत् से हमें केवल अनित्य संवेदन प्राप्त होते हैं जो हमारे ज्ञान के विषय कदापि नहीं बन सकते। विज्ञान ही ज्ञान का विषय बन सकता है। 'फ़ीडो' में कहा गया है कि "इन्द्रियों से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती; सत्य की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है।" किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रिय-जगत् हमारे ज्ञान के लिये सर्वथा अनावश्यक है। 'फ़ीडो' में ही आगे चल कर कहा गया है कि "इन्द्रियानुभव के बिना हमें विज्ञानों का संस्मरण (Reminiscence) नहीं हो सकता।" 'थीटीटस' में कान्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त का, कि ज्ञान के लिये विज्ञान और इन्द्रियानुभव दोनों अपेक्षित हैं, पूर्वरूप स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। प्लेटो इन्द्रिय-जगत् को असत् नहीं कहते। वे इसे प्रतीति का विषय मानते हैं। उनका तात्पर्य यही है कि विज्ञान के बिना हमें जगत् का इन्द्रियानुभव भी नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान का वास्तविक विषय विज्ञान ही है।

(२) स्वरूप की दृष्टि से, विज्ञान "**सामान्य**" (Universal Class-Concepts) हैं। जगत् के विविध विशेषों या व्यक्तियों की सत्ता 'सामान्यों' के कारण ही है। सामान्य, अपनी जाति के विशेषों में अनुगत रहते हैं और उनको

अन्य जाति के विशेषों से पृथक् करते हैं। सामान्य का कार्य सजातीय विशेषों में एकरूपता लाना और उनका विजातीय विशेषों से भेद करना है। सामान्य अनेक विशेषों में अनुगत एकता है। सामान्य, भेद से विशिष्ट अभेद है। सामान्य उत्पत्ति-विनाश-रहित, अपरिणामी और नित्य हैं। ये हमारी बुद्धि के विकल्प नहीं हैं। इनकी वास्तविक सत्ता है। विशेष इन सामान्यों का अनुकरण करते हैं, किन्तु ठीक इन जैसे नहीं बन सकते। असली 'त्रिभुज' हमारा विज्ञान है; हम जो त्रिभुज खींचते हैं वे इस असली 'त्रिभुज' के अपूर्ण अनुकरण हैं। संसार के सुन्दर या कल्याणकारी पदार्थ 'सौन्दर्य' और 'शिवत्व' के अनुकरण मात्र हैं। सामान्य विज्ञान-जगत् में रहते हैं। इन्द्रिय-जगत् में इनकी क्षीण प्रतिकृतियाँ ही मिलती हैं। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत रहता है, अतः यह कहा जाता है कि विशेष 'सामान्य' में 'भाग लेते' हैं। विशेष सामान्य के 'प्रतिबिम्ब' या 'प्रतिरूप' हैं। ये सामान्य दिव्य विज्ञान-लोक में रहते हैं जहाँ अमर आत्मा इनका साक्षात्कार करती है। जब आत्मा संसार में आकर शरीर में सीमित होती है तो इसे ये सामान्य याद आते हैं और यह 'याद' ही हमारे विज्ञान हैं जो इन सामान्यों के प्रतिबिम्ब हैं।

एरिस्टॉटल ने और उनके आधार पर अन्य दार्शनिकों ने प्लेटो के इस 'सामान्य' का प्रबल खण्डन किया है। उनके अनुसार प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् को नितान्त असत् और विज्ञान-जगत् को इन्द्रिय-जगत् से सर्वथा भिन्न और ऊपर मानकर भयंकर दार्शनिक अपराध किया है। व्यवहार और परमार्थ की यह खाई पाटी नहीं जा सकती। यह द्वैतवाद असंगत है। सामान्यों को विशेषों से भिन्न एक दूसरे ही दिव्यलोक का निवासी न मानकर उनको विशेषों में अनुस्यूत ही मानना चाहिये। प्लेटो का विज्ञान-जगत् वस्तु-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति मात्र है। किन्तु एरिस्टॉटल और उनके अनुयायियों के ये आक्षेप व्यर्थ और अनुचित हैं। प्लेटो ने परमार्थ को व्यवहार में अनुस्यूत भी माना है और उससे ऊपर भी। सॉक्रेटीज़ के मत का प्रतिपादन करते हुये उन्होंने इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान-जगत् में भाग लेने वाला 'अंश' और उसका 'प्रतिबिम्ब' कहा है। किन्तु उनका आशय व्यवहार और परमार्थ को न तो अलग अलग लोकों में रखने का है, न व्यवहार और परमार्थ के भेद को मिटा देने का है और न व्यवहार को सर्वथा असत् कहने का है। 'अंश' और 'प्रतिबिम्ब' से प्लेटो का तात्पर्य 'अभिव्यक्ति' का है। यह उन्होंने 'पार्मेनाइडीज़' में स्पष्ट कर दिया है, जिस पर एरिस्टॉटल और उनके अनुयायियों का ध्यान शायद नहीं गया है। विज्ञानों को प्लेटो ने दिक्कालातीत माना है। अतः उनके 'ऊपर' और 'नीचे', 'बाहर' और 'भीतर' का वस्तुतः प्रश्न ही नहीं उठता। जब प्लेटो विज्ञानों को 'पार' या 'ऊपर' कहते हैं तो उनका आशय विज्ञानों की 'स्वतन्त्र सत्ता' से है, न कि उनके दूसरे लोक में रहने

से। और फिर प्लेटो ने स्वयं बारम्बार विज्ञानों को इन्द्रिय-जगत् के विशेषों में अनुस्यूत भी बताया है।

(३) उद्देश्य की दृष्टि से, विज्ञान वे "**नित्य साँचे**" हैं जिनके अनुसार ईश्वर (Demiurge) इन्द्रिय-जगत् के पदार्थों का निर्माण करते हैं। विज्ञान वे "**पूर्ण आदर्श**" अर्थात् "**मूल बिम्ब या रूप**" हैं जिनके प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप इन्द्रिय-जगत् के पदार्थ हैं। सांसारिक पदार्थ इन आदर्शों के अनुरूप होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे इसमें पूर्ण सफल नहीं हो सकते। विश्व के समस्त पदार्थ अपूर्ण और अनित्य हैं। विश्व की सृष्टि इसीलिये हुई है कि इसके अपूर्ण और अनित्य पदार्थ पूर्ण आदर्शों को प्राप्त करने के लिये उत्तरोत्तर विकसित हों। विश्व में विकास हो रहा है। किन्तु यह विकास यन्त्रवत् नहीं है, सोद्देश्य है। विज्ञान विश्व के पदार्थों में अनुस्यूत हैं। विज्ञान विश्व के पदार्थों के वास्तविक 'स्वरूप' हैं और समस्त सृष्टि अपने 'स्वरूप' का लाभ करने के लिये विकसित हो रही है। विश्व में सामंजस्य है, समन्वय है, एकरूपता है और प्रत्येक पदार्थ, भिन्न होते हुये भी, इस अन्तर्यामी अभेद को पाने के लिये प्रयत्नशील है।

ईश्वर इस विश्व के निमित्त-कारण हैं और विज्ञान इस विश्व के स्वरूप-कारण हैं। विज्ञान-रूपी नित्य बिम्बों को आदर्श मानकर ईश्वर उनके अनुरूप सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं। क्या ये 'नित्य बिम्ब' ईश्वर के बाहर हैं? क्या ये 'नित्य बिम्ब' सांसारिक पदार्थों के बाहर हैं? दोनों प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों है क्योंकि प्लेटो ने विज्ञानों को 'अन्तर्यामी' (Immanent) और 'पर' (Transcendent) दोनों माना है। प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है—प्लेटो ने ईश्वर और शिवतत्व में भेद माना है। ईश्वर सगुण हैं; शिवतत्व निर्गुण। ईश्वर अपर हैं; शिवतत्व पर। ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण और नियन्ता हैं; शिवतत्व ईश्वर का भी पिता है। समस्त विज्ञानों और सृष्टि में शिवतत्व अन्तर्यामी है और वह इन सबसे पार अ-निर्वचनीय भी है। समस्त ज्योति उसी से आती है। वही सृष्टि का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य है। वह ईश्वर का भी ईश्वर और विज्ञानों का भी विज्ञान है। ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण हैं और विज्ञान सृष्टि के स्वरूप-कारण हैं। ईश्वर विज्ञानों के अनुरूप सृष्टि करते हैं। इस अर्थ में ईश्वर विज्ञानों से 'बद्ध' हैं और विज्ञान ईश्वर के 'बाहर' हैं। किन्तु ईश्वर और विज्ञान दोनों ही शिवतत्व की अभिव्यक्ति हैं। शिवतत्व विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है और ईश्वर तथा विज्ञान दोनों इसी के आभास हैं। इस दृष्टि से ईश्वर और विज्ञान भिन्न नहीं है और विज्ञानों को ईश्वर के 'बाहर' नहीं माना जा सकता। द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है—नित्य विज्ञान सांसारिक पदार्थों में अनुस्यूत हैं और इस दृष्टि से उनके

'बाहर' नहीं हैं। किन्तु सांसारिक पदार्थ नित्य विज्ञानों को सीमित नहीं कर सकते; नित्य विज्ञानों की सत्ता सांसारिक पदार्थों से स्वतन्त्र है। इस दृष्टि से विज्ञान सांसारिक पदार्थों के 'बाहर' हैं।

नित्य विज्ञानों को प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है। यह हमारा कर्तव्य है। आत्मा अमर और दिव्य है और नित्य विज्ञान उसके स्वरूप हैं। अतः स्वरूप-लाभ करना दार्शनिक का लक्ष्य होना चाहिये। इन्द्रियानुभव इस स्वरूप को आवृत करता है। अतः इन्द्रियों का दास होना उचित नहीं। जब जब प्लेटो ने इन्द्रियों की निन्दा की है तब तब उनका लक्ष्य इन्द्रिय-जगत् को असत् सिद्ध करना न होकर इंन्द्रिय-जगत् के ऊपर विज्ञान-जगत् की ओर उठना रहा है। दुष्ट इन्द्रियाँ उस अड़ियल और बदमाश घोड़े की तरह हैं जो रथ को गर्त में ले जाकर पटक देता है और वहाँ से सरकने का नाम नहीं लेता। साधु इन्द्रियाँ उस उत्तम घोड़े के समान हैं जो रथ को सन्मार्ग पर ले जाता है। 'फ़ीड्रस' में कहा गया है कि शरीररूपी रथ में साधु और दुष्ट दोनों घोड़े जुत रहे हैं।[1] एक विज्ञानों की ओर जाता है और दूसरा विषयों की ओर। आत्मारूपी रथी का कर्तव्य दुष्ट घोड़े को रथ से निकाल देना नहीं है, किन्तु उसको साधु घोड़े के साथ साथ चलाना है। इससे यह स्पष्ट है कि प्लेटो इन्द्रिय-जगत् का नाश नहीं करना चाहते; वे उसकी प्रवृत्ति आत्माभिमुख करना चाहते हैं। नित्य विज्ञान भी जिसकी ज्योति से चमक रहे हैं, जो ईश्वर का भी पिता है, जो समस्त विश्व में अन्तर्यामी है, जो पर और अनिर्वचनीय है, जो सृष्टि का परम आदर्श और लक्ष्य है, जिसकी ओर जगत् निरन्तर विकसित हो रहा है, उस विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप शिवतत्व (Idea of the Good) का निर्विकल्प साक्षात्कार ही मानव-जीवन की चरम सार्थकता है।

(४) सत्ता की दृष्टि से, विज्ञान **"चिद्रूप शुद्ध सत्"** हैं। विश्व के पदार्थ अपनी सत्ता विज्ञानों से ही लेते हैं। इस सत्ता का तारतम्य है। जो पदार्थ विज्ञान की ओर जितना अभिमुख है, उसकी उतनी ही अधिक सत्ता है। विज्ञान नित्य, अविकारी, अविनाशी, शाश्वत, सामान्य और सत् हैं। ये हमारी बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं हैं। हमारे विज्ञान इन दिव्य विज्ञानों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इन विज्ञानों की वास्तविक सत्ता है। जगत् के पदार्थ इन विज्ञानों के ही प्रतिरूप हैं।

एरिस्टॉटल के अनुसार सॉक्रेटीज़ इन विज्ञानों को केवल 'सामान्य' ही मानते थे और इन्हें सांसारिक विशेषों से पृथक् नहीं करते थे। किन्तु "विज्ञानवाद के समर्थकों ने" अर्थात् प्लेटो ने इनको वस्तु-जगत् से पृथक् करके दिव्य लोक में

---

१. कठोपनिषत् में भी यह उपमा दी गई है।

स्वतन्त्र सत्ता दे दी। एरिस्टॉटल का यह कथन विचित्र है। सॉक्रेटीज़ निःसन्देह इन विज्ञानों की स्वतन्त्र सत्ता मानते थे। स्वयं एरिस्टॉटल भी इन विज्ञानों को 'वास्तविक सत्ता' स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका आक्षेप केवल इतना ही प्रतीत होता है कि प्लेटो ने विज्ञानों को 'पर' क्यों माना? एरिस्टॉटल विज्ञानों को विशेषों में अनुगतमात्र मानते हैं, उनसे पृथक् नहीं। किन्तु विज्ञानों को अनुस्यूत मात्र मानने से क्या उनकी सत्ता विशेषों पर निर्भर नहीं हो जायगी? एरिस्टॉटल को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा है कि वस्तुतः सत्ता 'विशेषों' की ही है और सामान्यों की सत्ता '**गौण**' है। किन्तु यदि ऐसा है, तो फिर सामान्यों की 'वास्तविक सत्ता' मानने का क्या अर्थ? एरिस्टॉटल ने प्लेटो का खण्डन करने के लिये ही स्वयं को इस विचित्र विरोधात्मक परिस्थिति में फँसा लिया जिससे वे कभी मुक्त नहीं हो सके। एरिस्टॉटल ने जितने भी आक्षेप इस विज्ञानवाद पर किये हैं उनको स्वयं प्लेटो ने 'पार्मेनाइडीज़' में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करके उनका उत्तर दे दिया था। अतः एरिस्टॉटल के आक्षेप एकाङ्गी और भ्रामक हैं। आश्चर्य है कि 'पार्मेनाइडीज़' को अच्छी तरह पढ़कर भी एरिस्टॉटल ने प्लेटो पर आक्षेप किये! 'पार्मेनाइडीज़' के कुछ स्थल यहाँ उद्धृत करना ठीक होगा—

'पार्मेनाइडीज़ ने पूछा—अच्छा सॉक्रेटीज़! यह तो बताओ कि क्या तुम इस बात को मानते हो कि विश्व के विशेष 'समान' पदार्थों के अतिरिक्त 'समानता' नामक एक सामान्य विज्ञान है और इसी प्रकार 'एकता' तथा 'अनेकता' आदि भी विज्ञान हैं?

सॉक्रेटीज़ ने उत्तर दिया—अवश्य, मैं इसे मानता हूँ।

पार्मेनाइडीज़ ने पूछा—और इसी प्रकार क्या तुम 'सत्यत्व', 'सौन्दर्य' और 'शिवत्व' को भी विज्ञानरूप मानते हो?

सॉक्रेटीज़ ने कहा—हाँ।

पार्मेनाइडीज़—और क्या तुम हम जैसे विशेष मनुष्यों के अतिरिक्त किसी 'सामान्य मनुष्य' को भी मानते हो? क्या तुम अग्नि या जल के भी विज्ञान मानते हो?

सॉक्रेटीज़—इनके विषय में मैं प्रायः दुबिधा में पड़ जाता हूँ कि हमें इनके भी 'विज्ञान' मानना उचित होगा या नहीं।

पार्मेनाइडीज़—सॉक्रेटीज़! क्या तुम ऐसे पदार्थों के विज्ञान मानने के विषय में भी दुविधा में पड़ जाते हो जिन्हें हम हीन और तुच्छ समझते हैं जैसे—बाल, कीचड़, धूल इत्यादि?

सॉक्रेटीज़—बिलकुल नहीं। ये पदार्थ तो वैसे ही हैं जैसे हमें प्रतीत होते हैं। इनके विज्ञान मानना निरर्थक है।

पार्मेनाइडीज़---सॉक्रेटीज़ ! अभी तुम नवयुवक हो इसलिये ऐसा कहते हो। अभी तुम्हारी बुद्धि दर्शन में परिपक्व नहीं हुई है। एक दिन अवश्य ऐसा आयगा जब तुम्हारी बुद्धि परिपक्व हो जायगी और तब तुम कीचड़ और धूल इत्यादि को भी हीन एवं तुच्छ नहीं समझोगे।'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सॉक्रेटीज़ को गणित के पदार्थों (समान, एक, अनेक आदि) और दर्शन के पदार्थों (सत्य, सुन्दर, शिव आदि) के विज्ञान मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं थी; भौतिक विज्ञान और प्राणि-विज्ञान के पदार्थों (अग्नि, जल, मनुष्य आदि) के विज्ञान मानने में उन्हें सन्देह था; और साधारण तुच्छ पदार्थों (बाल, कीचड़, धूल आदि) के विज्ञान मानना उन्हें स्वीकार नहीं था। किन्तु प्लेटो (और परिपक्वावस्था में सॉक्रेटीज़ भी) किसी भी पदार्थ को विज्ञान-रहित मानने के लिये तैयार नहीं थे क्योंकि यदि किसी पदार्थ का विज्ञान न हो तो उसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती। भ्रान्ति के लिये भी अधिष्ठान मानना आवश्यक है। विश्व की कोई भी प्रतीयमान वस्तु इतनी तुच्छ नहीं कि उसमें विज्ञान अनुस्यूत न हो। इससे सिद्ध होता है कि प्लेटो विज्ञानों को इन्द्रिय-जगत् के अणु-अणु में अन्तर्यामी मानते थे और विज्ञान-जगत् को इन्द्रिय-जगत् से पृथक् करने के लिये तैयार नहीं थे क्योंकि ऐसा होने पर इन्द्रिय-जगत् की व्यावहारिक प्रतीति तक नहीं हो सकती। एरिस्टॉटल जब प्लेटो पर यह अभियोग लगाते हैं कि प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् को विज्ञान-जगत् से सर्वथा पृथक् कर दिया, तो वे इस बात को भूल जाते हैं।

प्लेटो के इस विज्ञानवाद पर निम्नलिखित आक्षेप किये जाते हैं जिनको स्वयं प्लेटो ने पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किया और जिनका समाधान करने का उन्होंने प्रयत्न किया :--

(१) यदि विज्ञान अपने दिव्य जगत् में रहते हैं, तो क्या वे वस्तु-जगत् के पदार्थों की निरर्थक पुनरावृत्तिमात्र नहीं हैं ?

(२) यदि इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् में "भाग लेता" है, तो क्या इसमें अनवस्था दोष नहीं आ जाता ?

(३) यदि इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् का "प्रतिबिम्ब" मात्र है, तो क्या वह असत् नहीं हो जाता ?

(४) क्या इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत् का द्वैत पारमार्थिक नहीं हो जाता ?

(५) इन विज्ञानों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या ये अस्त-व्यस्त और अनियमित समूह मात्र नहीं हैं ?

(६) इन विज्ञानों का शिवतत्व से, ईश्वर से और जीवात्मा से क्या सम्बन्ध है ?

प्रथम आक्षेप का उत्तर प्लेटो ने इस प्रकार दिया है--विज्ञान इन्द्रिय-जगत् में अन्तर्यामी हैं। इनकी सत्ता के कारण ही इन्द्रिय-जगत् की सत्ता है। इनको 'पर' इस अर्थ में कहा जाता है कि इनकी सत्ता इन्द्रिय-जगत् की सत्ता से सीमित नहीं होती। अतः विज्ञान-जगत् इन्द्रिय-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति नहीं है।

द्वितीय आक्षेप का उत्तर है--"भाग लेने" का अर्थ यदि "वास्तविक अंश" बनना है, तो इन्द्रिय-जगत् इस अर्थ में विज्ञान-जगत् में भाग नहीं लेता । "भाग लेने" का अर्थ केवल "अभिव्यक्त" होना है। प्लेटो ने 'पार्मेनाइडीज़' में इसे स्पष्ट कर दिया है--

'पार्मेनाइडीज़--प्रत्येक वस्तु जो किसी सामान्य विज्ञान में भाग लेती है, या तो इस विज्ञान को पूर्णतः लेगी या अंशतः। इसके अतिरिक्त कोई तृतीय विकल्प तो नहीं है ?

सॉक्रेटीज़--नहीं तो।

पार्मेनाइडीज़--तो क्या तुम यह मानते हो कि प्रत्येक वस्तु पूर्ण सामान्य को ही ग्रहण करती है ?

सॉक्रेटीज़--ऐसा तो होना ही चाहिये, पार्मेनाइडीज़ !

पार्मेनाइडीज़--तो क्या एक सामान्य को अनेक विशेषों में अनुगत होने के लिये विभाज्य नहीं बनना होगा ? और यदि सामान्य विभाज्य हो गया तो वह एक कैसे रहेगा ? और फिर नित्य कैसे होगा ?

सॉक्रेटीज़--बात तो ठीक है।

पार्मेनाइडीज़--तो अब बताओ कि तुम्हारे विशेष तुम्हारे सामान्य में किस प्रकार भाग ले सकेंगे ?

सॉक्रेटीज़--यह तो विषम समस्या है।[1]

पार्मेनाइडीज़--मान लो कि कई लम्बी वस्तुयें 'लम्बाई' रूपी विज्ञान में भाग लेती हैं। तब क्या इन लम्बी वस्तुओं को और इस 'लम्बाई' को 'लम्बी' बनाने के लिये एक दूसरे विज्ञान की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी ? और इस प्रकार क्या अनवस्था दोष नहीं आयगा ?

सॉक्रेटीज़ : यह भी विकट समस्या है।'

तृतीय आक्षेप का उत्तर यह है--यदि 'प्रतिबिम्ब' को शाब्दिक अर्थ में लिया जाय और इससे यह सिद्ध किया जाय कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में परस्पर कोई

---

१. दिङ्नाग ने भी न्याय-वैशेषिक के 'सामान्य' का खण्डन इसी प्रकार के तर्कों से किया है--

'न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो! व्यसनसन्ततिः॥'

सम्बन्ध नहीं और प्रतिबिम्ब सर्वथा असत् है, तो इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् का 'प्रतिबिम्ब' नहीं है। वस्तुतः 'बिम्ब' और 'प्रतिबिम्ब' का अभिप्राय विज्ञान-जगत् की पारमार्थिक सत्ता और इन्द्रिय-जगत् की व्यावहारिक सत्ता से है। अन्यथा 'बिम्बों' के ज्ञान के अभाव में 'प्रतिबिम्बों' का कथन भी अयुक्त है और इसमें अनवस्था दोष भी है।

चतुर्थ आक्षेप का उत्तर है––इन्द्रिय-जगत् विज्ञान-जगत् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र है। अतः दोनों का भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। तर्क से तत्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। तर्क द्वन्द्वों में ही फँसा रहता है। जब तक तर्क का स्तर है, यह भेद बना रहेगा। जब स्वानुभूति द्वारा शिवतत्व का साक्षात्कार होगा, यह द्वैत नहीं रहेगा।

प्लेटो ने इन्द्रिय-जगत् को कभी 'असत्' नहीं बताया। यह जगत् प्रतीतिमात्र है। यह छाया है। न यह 'सत्' है और न 'असत्'। 'सिम्पोज़ियम' में जगत् को 'सत् और असत् की सन्तान' एवं 'पूर्ण अज्ञान और पूर्ण ज्ञान के बीच की अवस्था' कहा गया है। 'रिपब्लिक' में इसे 'अर्द्ध सत् और अर्द्ध असत्' बताया गया है। 'सोफ़िस्ट' में इसे 'सत् और असत् के विरोध पर निर्भर' बताया गया है। व्यावहारिक जगत् की सत्ता छीन लेने के बजाय प्लेटो ने 'असत्', 'भ्रान्ति' और 'स्वप्न' को भी कुछ-न-कुछ सत्ता दी है। 'सोफ़िस्ट' में कहा गया है––'पूर्ण असत् की कल्पना असम्भव है। 'भ्रान्ति' भी, जब तक भ्रम है तब तक तो है ही। बोध होने पर ही भ्रान्ति असत् होती है।' 'थीटीटस' में––'स्वप्न-द्रष्टा का स्वप्न-जगत् और ज्वर से सन्तप्त व्यक्ति का काल्पनिक जगत्, जब तक स्वप्न और ज्वर है तब तक उतना ही सत्य है जितना जागनेवाले और स्वस्थ व्यक्ति के लिये यह इन्द्रियानुभूत जगत्।'[१]

अतः उन विद्वानों ने, जो प्लेटो में इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत् का आत्यन्तिक भेद देखते हैं या जो प्लेटो पर इन्द्रिय-जगत् को असत् बना देने का अभियोग लगाते हैं, शायद उपर्युक्त स्थलों पर दृष्टिपात नहीं किया है। प्रोफ़ेसर बर्नेट का यह कथन, कि 'इन्द्रिय-जगत् और विज्ञान-जगत्––इन दो जगतों के भेदरूपी भूत को, जो पार्मेनाइडीज के समय से ग्रीक दर्शन को सता रहा था, प्लेटो ने भगा दिया', अक्षरशः सत्य है।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर है: ये विज्ञान परस्पर असम्बद्ध और अनियमित नहीं हैं, अपितु शिवतत्वरूपी सूत्र में बँधे हुये हैं। शिवतत्व इनमें अनुस्यूत है और इनको अनुप्राणित कर रहा है। उसी की ज्योति से ये चमक रहे हैं। उसी के कारण इनमें एकरूपता, सामंजस्य और समन्वय है।

---

१ अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद।

छठे आक्षेप का उत्तर है: शिवतत्व इन विज्ञानों का अन्तर्यामी अधिष्ठान है। ईश्वर इन विज्ञानों द्वारा सृष्टि का निर्माण करते हैं––ईश्वर सृष्टि के निमित्त-कारण हैं और विज्ञान स्वरूप-कारण। जीवात्मा के विज्ञान इन नित्य विज्ञानों की ही अभिव्यक्ति हैं। इन्द्रियानुभव से बद्ध होने के कारण जीवात्मा इन विज्ञानों का साक्षात् नहीं करती। जब वह बन्धनमुक्त हो जाती है तो इन विज्ञानों को और इनके अधिष्ठान शिवतत्व को साक्षात् अनुभव करती है।

अतः स्पष्ट है कि प्लेटो के विज्ञानवाद पर जो आक्षेप लगाये गये हैं वे भ्रान्त और निर्मूल हैं।

(५) रहस्य की दृष्टि से, विज्ञान **'शिवतत्व की अभिव्यक्ति के स्तर'** हैं। इन विज्ञानों का बहुत्व शिवतत्व में विलीन हो जाता है। 'सिम्पोजियम' में इस तत्व को 'परम सौन्दर्य' (Supreme Beauty) और 'फ़ीड्रस' में 'परम सत्' (Supreme Being) तथा 'रिपब्लिक' में 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' (Idea of the Good) कहा गया है। 'सिम्पोज़ियम' में 'परम सौन्दर्य' का वर्णन इस प्रकार किया गया है––'यह नित्य, अजात और अविनाशी है; न इसकी वृद्धि है और न हानि; न यह अंशतः सुन्दर है और न अंशतः असुन्दर; न यह 'कभी सुन्दर और कभी असुन्दर' है; न यह एक वस्तु की अपेक्षा सुन्दर है और न दूसरी वस्तु की अपेक्षा असुन्दर; न यह 'यहाँ सुन्दर और वहाँ असुन्दर' है; न यह कुछ व्यक्तियों के लिये सुन्दर और अन्य व्यक्तियों के लिये असुन्दर है। और न इस 'परम सौन्दर्य' की कल्पना किसी सुन्दर मुख या सुन्दर हाथ या अन्य कोई सुन्दर अंग की समानता से की जा सकती है। और न इसकी कल्पना बुद्धि द्वारा या विज्ञान द्वारा की जा सकती है। इस पृथ्वी में या स्वर्ग में कोई इसके समान नहीं। यह नित्य और सदा समरस है।'

'फ़ीड्रस' में 'परम सत्' का वर्णन यह है––'परम सत् का न कोई रूप है, न कोई आकार और न कोई घनत्व। इसका साक्षात्कार केवल विशुद्ध प्रज्ञा से हो सकता है।.......तब यह ऐसा नहीं प्रतीत होगा जैसा सृष्टि में हो रहा है; उस समय यह अपने नित्य और शुद्ध स्वरूप में प्राप्य होगा।'

इस परमतत्व का सर्वोत्तम वर्णन 'रिपब्लिक' में हुआ है––'जो ज्ञेय को (अर्थात् विज्ञानों को) सत्ता और ज्ञाता को (अर्थात् आत्मा को) ज्ञान-शक्ति देता है उसे, मैं चाहता हूँ कि तुम 'विज्ञानस्वरूप शिवतत्व' कहो और उसे तुम विज्ञान तथा सत्य का भी कारण मानो। जिस प्रकार प्रकाश और दृष्टि को (सूर्य से प्रकट होने के कारण) सूर्य के समान कहा जा सकता है, किन्तु इस कथन से ये सूर्य ही नहीं बन जाते, उसी प्रकार विज्ञान और सत्य को भी शिवतत्व के समान कहा जा सकता है, किन्तु साक्षात् शिव तत्व नहीं; शिव तत्व के आदर का स्थान इनसे बहुत ऊँचा है। जो विज्ञान और सत्य का कारण है

वह कितना अद्भुत सौन्दर्य होगा !........शिवतत्व केवल सब वस्तुओं के (अर्थात् इन्द्रिय-जगत् के) ज्ञान का ही कारण नहीं है, वह उनकी सत्ता और उनके स्वरूप का (अर्थात् विज्ञानों का) भी कारण है; फिर भी इस शिवतत्व को (अन्य विज्ञानों के समान) केवल विज्ञान ही नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका आदरपूर्ण स्थान और इसकी शक्ति विज्ञानों से बहुत ऊपर है।'

प्लेटो का यह शिवतत्व एकसाथ 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' है। यह सत्-चित्-आनन्द है। यह अन्य विज्ञानों के समान एक सर्वोत्तम विज्ञान नहीं है; यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। यह स्वरूपों का स्वरूप है। यह समस्त विज्ञानों का और समस्त सांसारिक पदार्थों का जनक है। यह विज्ञान-जगत् और इन्द्रिय-जगत् दोनों का अन्तर्यामी अधिष्ठान है। यह समस्त सत्ता और ज्ञान का मूल-स्रोत है। यह आत्मा को ज्ञान-शक्ति और दृश्य जगत् को सत्ता प्रदान करता है। यह ईश्वर से भी ऊपर है। ईश्वर केवल सगुण स्रष्टा हैं जो विज्ञानों के मूलरूपों को आदर्श मान कर सृष्टि करते हैं। यह शिवतत्व ईश्वर और विज्ञान दोनों का कारण है। यह उनका भी प्राण है। प्लेटों ने ईश्वर को सृष्टि का निमित्त-कारण (Cause) और नियन्ता (Captain) माना है तथा शिवतत्व को ईश्वर का भी पिता (Father of that Captain and Cause) कहा है। प्रोफ़ेसर टेलर ने प्लेटो के शिवतत्व की ईसाई धर्म के ईश्वर से तुलना की है। यह तुलना आंशिक ही हो सकती है क्योंकि दोनों सृष्टि के मूल कारण हैं, किन्तु ईसाई धर्म के ईश्वर केवल 'पर' हैं और यह शिवतत्व 'पर' और 'अन्तर्यामी' दोनों है। यह शिवतत्व निर्गुण और अनिर्वचनीय है। बुद्धि की गति इस तक नहीं। यह केवल निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। तर्क द्वन्द्वात्मक विरोधों को जन्म देकर अपनी असहायता प्रकट करता है और स्वानुभूति की ओर संकेत करता है।

प्लेटो ने इस शिवतत्व के साक्षात्कार को 'रिपब्लिक' में बहुत सुन्दर रीति से बताया है:—'मान लो कि कुछ मनुष्य पृथ्वी के अन्दर एक गुफा में रह रहे हैं। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुलता है। ये मनुष्य यहाँ बचपन से ही रह रहे हैं। इनके पैर और गर्दन साँकल से बँधी हैं और ये पीछे नहीं मुड़ सकते, केवल सामने देख सकते हैं। इनके पीछे और ऊपर की ओर कुछ दूरी पर आग जल रही है......और ये लोग दीवार पर केवल अपनी या एक दूसरे की या बाहर की वस्तुओं की छाया ही देखते हैं। अब यदि इनमें से किसी एक को बन्धनमुक्त करके ऊपर भेजा जाय और उसे प्रकाश की ओर देखने को बाध्य किया जाय तो पहले उसे तीव्र वेदना होगी; प्रकाश से उसकी आँखें चौंधिया जावेंगी; वह उन वस्तुओं को साक्षात् नहीं देख सकेगा जिनकी छाया वह गुफा में देखा करता था। ....क्या वह यह नहीं सोचेगा कि वे छायाकृतियाँ, जिन्हें देखने

का वह अभ्यस्त है, इन असली वस्तुओं से अधिक सत्य हैं? ...धीरे-धीरे अभ्यास से उसके नेत्र उन वस्तुओं को देख सकेंगे।' इन्द्रियानुभव का जगत् छायामात्र है। हम इसको देखने के ही अभ्यस्त हैं। किन्तु जब हमारे बन्धन खुल जावेंगे तो हम निर्विकल्प अनुभूति से शिवतत्व का साक्षात्कार कर सकेंगे। हम छाया को ही काया मान बैठे हैं। जब कोई सिद्ध पुरुष तत्व की ओर संकेत करता है तो हम उसे मिथ्या समझते हैं। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति से हम स्वयं तत्व का ग्रहण कर सकते हैं। तत्व-दर्शन ही दर्शन का लक्ष्य है और इसी में उसके नाम की सार्थकता है।

अनिर्वचनीय शिवतत्व का इससे अधिक निर्वचन नहीं हो सकता। प्लेटो ने अपने शिष्यों को, साक्षात् सम्पर्क में आकर, तत्व का उपदेश दिया था। उसको उन्होंने प्रकाशित नहीं किया। चरम उपदेश तो मौन ही है। प्लेटो के समय में ही उनके शिवतत्व के विषय में लोगों ने कुछ लिखा होगा। उसका खण्डन करते हुये स्वयं प्लेटो ने यह लिखा है जो ध्यान देने योग्य है—'इस (शिवतत्व के) विषय पर मेरा कोई लेख नहीं है और न मैं कभी लिखूँगा। इस पर, अन्य विषयों के समान, कुछ लिखा भी नहीं जा सकता; काफ़ी लम्बे समय तक साक्षात् सम्पर्क में आने से और साधना करने से सहसा एक ज्योति जगा दी जाती है और जब वह आत्मा में पहुँच जाती है तो अपनी पुष्टि के लिये भोजन स्वयं खोज लेती है। कम-से-कम इतना तो मैं जानता ही हूँ कि इस विषय पर यदि कुछ लिखना या कहना हो, तो मैं स्वयं उसे अन्य लोगों की अपेक्षा उत्तम रीति से कह सकता हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ कि अन्य व्यक्तियों द्वारा इस विषय पर मेरे विचारों के नाम से जो कुछ अंड-बंड लिखा जा रहा है, उससे मेरे नाम की ही हानि होगी। यदि मैं यह सोचता कि इस विषय पर ठीक ठीक लिखा जा सकता है और उसे विश्व के सम्मुख रक्खा जा सकता है, तो जीवन में इससे बढ़कर हर्ष की बात मेरे लिये और क्या होती? किन्तु मेरे विचार से ऐसा प्रयास करना भी उचित नहीं है क्योंकि इससे कुछ इने गिने लोगों को छोड़ कर, जिनको संकेत द्वारा साधना के मार्ग पर चलाया जा सकता है, औरों का कोई लाभ नहीं हो सकता। अन्य लोगों को इससे या तो घोर घृणा होगी या उनको यह मिथ्याभिमान होगा कि उन्होंने वास्तव में कोई अद्भुत वस्तु पा ली है।'

प्लेटो के अनुसार ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान अधर्म। वास्तविक ज्ञानी कभी अधर्म नहीं कर सकता क्योंकि धर्म ही उसका स्वरूप है। यह ज्ञान ही परम आनन्द है। सांसारिक सुखों में उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य है। इन्द्रिय-सुख के ऊपर भावना-सुख है, भावना-सुख के ऊपर बुद्धि-सुख और बुद्धि-सुख के ऊपर स्वानुभूति-सुख। अज्ञानी जन इन्द्रिय-सुखों की ओर आकृष्ट होते हैं। ये इन्द्रिय-

सुख निरन्तर बढ़नेवाली खाज के समान हैं; इसे खुजलाने में सुख की भ्रान्ति होती है और वास्तव में दुःख बढ़ता जाता है।[1] 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा है--'ये लोग (विषय-सुख के प्रेमी) निरे पशुओं के समान हैं; इनकी दृष्टि नीचे है और शरीर पृथ्वी पर झुक रहे हैं; ये लोग खाते-पीते और मुटाते हैं तथा सन्तानोत्पत्ति में लगे रहते हैं;[2] विषय-सुख के अत्यधिक प्रेम के कारण ये मानव-पशु अपने लोहे जैसे सींगों और खुरों से एक दूसरे पर प्रहार करते हैं और दुलत्तियाँ झाड़ते हैं और अपनी सदा अशान्त तृष्णा के कारण एक दूसरे के प्राण लेते रहते हैं।' प्लेटो के अनुसार, इस संसार में दुःखपूर्वक जीनेवाला धार्मिक व्यक्ति सुखपूर्वक जीनेवाले अधार्मिक व्यक्ति से कई गुना बड़ा है, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति को आत्म-सन्तोष रूपी सर्वोत्तम सुख प्राप्त है। अपनी आत्मा को बेचकर सारे विश्व को खरीद लेने में भी कोई लाभ नहीं।

जीवात्मा के तीन रूप है--बुद्धि (Cognition) संकल्प (Conation) और वेदना (Affection)। बुद्धि का धर्म ज्ञान (Wisdom), संकल्प का धर्म बल (Courage) और वेदना का धर्म संवेदनात्मक क्रिया (Appetite) है।[3] इन तीनों का सन्तुलन या 'योग' 'न्याय' (Justice) कहलाता है। इन धर्मों के प्राधान्य के कारण मनुष्यों को भी तीन 'जातियों' में विभक्त किया जा सकता है। जिनमें ज्ञान का प्राधान्य है वे 'संरक्षक' (Guardians), जिनमें बल का प्राधान्य है वे 'सैनिक' (Soldiers) और जिनमें क्रिया का प्राधान्य है वे 'पृथग्जन' (Artisans) कहलाते हैं।[4] प्रथम जाति के मनुष्य 'स्वर्ण' के हैं; द्वितीय 'चाँदी' के और तृतीय 'पीतल या लोहे' के। प्लेटो 'प्रजातन्त्र' के विरुद्ध थे क्योंकि उनके अनुसार इसमें ज्ञान का प्राधान्य नहीं होता। उन्होंने लिखा है--'घोड़े और गधे, 'स्वतन्त्र' मनुष्यों के आदर और अधिकारों को प्राप्त करके, सड़कों पर दौड़ते चलें और जो रास्ते में आये उसे मारते चलें! स्वतन्त्रता! सर्वत्र स्वतन्त्रता! क्या यही स्वतन्त्रता है?' प्लेटो के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता या परतन्त्रता नहीं है; उसका अर्थ 'ज्ञान-तन्त्रता' है। जब तक दार्शनिक (ज्ञानी सन्त) राजा न बनें या राजा दार्शनिक (ज्ञानी सन्त) न बनें, तब तक विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

----

१. 'कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्' भागवत।
२. पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने। पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव॥
३. 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' —भागवत
४. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-शूद्र।

तृतीय अध्याय

ग्रीक दर्शन: एरिस्टॉटल

एरिस्टॉटल (अरस्तू) (३८४ ई० पू०--३२२ ई० पू०):--एरिस्टॉटल (Aristotle) का जन्म थ्रेस के स्टेगिरा नामक नगर में हुआ था। उनके पिता मेसीडोन-नरेश के राजवैद्य थे। १७ वर्ष की आयु में एरिस्टॉटल विद्याध्ययन के लिये एथेन्स-स्थित प्लेटो की 'एकेडमी' में भर्ती हुये और बीस वर्ष तक, प्लेटो के देहान्त होने तक, वे अपने गुरु प्लेटो के साक्षात् सम्पर्क में रहे। बाद में उन्होंने एकेडमी छोड़ दी और अपने स्वतन्त्र विचारों के विकास में लग गये। एसोस नगर में जाकर वे हरमियस के सम्पर्क में आये और उनकी भतीजी पाइथियस से विवाह कर लिया। मेसीडोन-नरेश फ़िलिप के राजकुमार एलेक्ज़ान्डर (सिकन्दर) के, जो बाद में 'महान्' कहलाये, वे तीन वर्ष तक अध्यापक रहे। एथेन्स लौटकर उन्होंने अपनी 'लाइसियम' (Lyceum) नामक शिक्षा-संस्था की स्थापना की। एलेक्ज़ान्डर की मृत्यु के बाद उन पर अधार्मिकता का अभियोग लगाया गया और वे एथेन्स छोड़कर चालसिस चले गये क्योंकि वे एथेन्सवासियों को "दर्शन के विरुद्ध दूसरा पाप करने का अवसर" देना नहीं चाहते थे (एथेन्सवासियों का दर्शन के विरुद्ध पहला पाप सोक्रेटीज़ (सुकरात) को मृत्यु-दण्ड देना था)। वहीं एक वर्ष बाद उनका देहान्त हो गया। जन-श्रुति के अनुसार एरिस्टॉटल का सिर गंजा, पैर पतले और आँखें छोटी थीं और वे हकलाते थे। उनको ग्रीक होने का अभिमान था और वे अन्य लोगों को 'बर्बर' या जंगली समझते थे। साधारण ग्रीक लोगों को भी वे तुच्छ समझते थे। वे बुद्धि और इन्द्रियानुभव दोनों का सामञ्जस्य करके 'मध्यम' मार्ग के समर्थक थे।

प्लेटो के बाद दार्शनिक महत्ता में एरिस्टॉटल का ही नाम आता है। उन्होंने दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, आचारशास्त्र, राजनीति और साहित्य पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। पाश्चात्य निगमन तर्क के तो वे जनक ही हैं और उसको उन्होंने जो रूप दिया वह शताब्दियों तक मान्य रहा और आज भी उसका महत्व है। मध्य युग के दार्शनिकों का मुख्य कार्य ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का एरिस्टॉटल के विचारों के साथ समन्वय करना था। उनके मुख्य ग्रन्थ हैं--'भौतिक-विज्ञान' (Physics), 'तत्व-विज्ञान' (Metaphysics), 'आचारशास्त्र' (Ethics) और 'तर्कशास्त्र' (Organon)।

एरिस्टॉटल के अनुसार ज्ञान के तीन स्तर हैं। प्रथम है, इन्द्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। द्वितीय है पदार्थ-विज्ञान

जिसके द्वारा हम विशेषों में सामान्य को खोजते हैं, उनके कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध को जानते हैं और उस ज्ञान को जीवन के उपयोग में लाते हैं। तृतीय ज्ञान है तत्व-विज्ञान या दर्शन। यह सर्वोत्तम है। यह परम तत्व या परम सामान्य का, शुद्ध सत्ता का, 'सत्' का ज्ञान है। यह परमार्थ तत्व के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है। यह तत्व का दर्शन है।

एरिस्टॉटल अपने दर्शन को पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का पूर्ण समन्वय मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक 'तुतलाता हुआ एरिस्टॉटल' (Lisping Aristotle) है। दर्शन का लक्ष्य पूर्ण सत्ता का ज्ञान है। अन्य विज्ञान इस सत्ता के आंशिक रूपों को अपना क्षेत्र बनाकर विचार करते हैं। पूर्ववर्ती दार्शनिक भी इस 'सत्' के आंशिक रूपों की ही कल्पना कर पाये। इसकी पूर्णता, एरिस्टॉटल के अनुसार, उनके ही दर्शन में हुई है।

दर्शन का यह 'सत्' क्या है? एरिस्टॉटल का उत्तर है कि यह परम तत्व या परम द्रव्य (Substance) है। यह नित्य और कूटस्थ है। स्वयं अपरिणामी होते हुये भी यह समस्त परिणाम या परिवर्तन का कारण है। संसार में दो ही वस्तुयें हैं—एक तो द्रव्य और दूसरे उनके परिणाम या पर्याय। परम द्रव्य सब द्रव्यों का द्रव्य है और सारे परिणामों का कारण है। दर्शन का मुख्य लक्ष्य इस परम द्रव्य का ज्ञान है जो सब द्रव्यों और उनके पर्यायों में अन्तर्निहित है, जो सबके पार सबसे ऊपर है और जिसको प्राप्त करने के लिये समस्त जगत् निरन्तर प्रयत्नशील है।

एरिस्टॉटल के अनुसार प्लेटो का सबसे बड़ा दार्शनिक अपराध उनका परमार्थ और व्यवहार का द्वैतवाद है। परमार्थ और व्यवहार की कल्पना तो अपराध नहीं है। यह तो किसी-न-किसी रूप में स्वयं एरिस्टॉटल को भी मान्य है। किन्तु अपराध है परमार्थ और व्यवहार का आत्यन्तिक भेद। एरिस्टॉटल के अनुसार प्लेटो ने परमार्थ को व्यवहार से बिलकुल अलग ऊपर उठाकर रख दिया है। प्लेटो का परमार्थ है विज्ञान (Idea) और व्यवहार है इन्द्रियानुभव (Sense)। प्लेटो ने विज्ञान-जगत् को इन्द्रियानुभव के वस्तु-जगत् से नितान्त भिन्न और असम्बद्ध मान लिया है। फलतः विज्ञान-जगत् ही एक मात्र सत् और वस्तु-जगत् सर्वथा असत् बन गया है। एरिस्टॉटल भी विज्ञान का महत्व पूर्णरूप से मानते हैं। शुद्ध सत् ही शुद्ध चित् है। किन्तु वे विज्ञान-जगत् को वस्तु-जगत् से भिन्न न मानकर उसी में अनुस्यूत मानते हैं। परमार्थ व्यवहार में अन्तर्निहित है, व्यवहार के पार उससे अत्यन्त भिन्न नहीं है। अतः एरिस्टॉटल के अनुसार विज्ञान का प्राधान्य होते हुये भी वस्तु-जगत् की सत्ता अक्षुण्ण है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद (Theory of Ideas) के खण्डन में अपनी

सारी शक्ति लगाई है। अतः उस खंडन को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के विज्ञानवाद में ये दोष दिखाये हैं :—

(१) प्लेटो के अनुसार विज्ञान (Ideas or Forms) 'सामान्य' (Universals) हैं। सामान्य को उन्होंने केवल हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं माना है। वे सामान्यों को वास्तविक पदार्थ मानते हैं।[१] यह तो ठीक है। किन्तु उनके अनुसार सामान्यों का एक अलग ही संसार है। वस्तु-जगत् के पदार्थ अनित्य और असत् हैं, किन्तु ये सामान्य नित्य और सत् हैं। ऐसा मानना प्लेटो की भूल है। सामान्य, सत्य और नित्य वस्तु होते हुये भी, जगत् के पदार्थों से अलग नहीं रहते। वे विशेष व्यक्तियों या पदार्थों में ही अनुगत रहते हैं।

(२) यदि सामान्यों को विशेष द्रव्यों में अनुगत न मानकर उनसे सर्वथा पृथक् माना जाय, तो फिर उन वस्तुओं के भी, जिनको हम द्रव्य नहीं कहते, सामान्य मानने पड़ेंगे। फिर तो, अभावों और सम्बन्धों के भी सामान्य मानने पड़ेंगे जो असंगत है।

(३) प्लेटो का विज्ञान-जगत् वस्तु-जगत् की निरर्थक पुनरावृत्ति मात्र है। सामान्यों की स्थापना प्लेटो ने वस्तुओं की सत्ता और उनके स्वरूप की संगति बताने के लिये की थी। संसार के विभिन्न पदार्थ अपने अपने सामान्य के कारण सत् प्रतीत होते हैं। विविध मनुष्यों में 'मानवता' का सामान्य अनुस्यूत है और विविध अश्वों में 'अश्वत्व' इत्यादि। किन्तु प्लेटो इसे भूल गये और उन्होंने सामान्यों के संसार को इस संसार से सर्वथा पृथक् कर दिया। ऐसी दशा में सामान्यों या विज्ञानों का जगत् हमारे वस्तु-जगत् की पुनरावृत्ति बन गया। हमारे जगत् में जितने पदार्थ हैं उन सबके सामान्य विज्ञान-जगत् में हैं। वस्तु-जगत् में विविध मानव, अश्व, मेज़, कुर्सी आदि हैं जो अनित्य हैं और इन्हीं वस्तुओं के नित्य मौलिक रूप 'सामान्य मानव', 'सामान्य अश्व', 'सामान्य मेज़' आदि दिव्य-विज्ञान-जगत् में हैं। इस निरर्थक पुनरावृत्ति से क्या लाभ ?

(४) यदि इन सामान्यों की कल्पना इसलिये की जाती है कि इनके द्वारा हम विविध वस्तुओं को जान सकते हैं, तो यह व्यर्थ है क्योंकि ये सामान्य तो अपने दिव्य विज्ञान-जगत् में रहते हैं, इस जगत् की वस्तुओं में नहीं, जिस कारण इनके द्वारा वस्तुओं का ज्ञान हो सके।

(५) ये सामान्य नित्य, अपरिणामी और गतिशून्य हैं। किन्तु इस जगत् की वस्तुओं में परिवर्तन और गति है। यदि सामान्यों के कारण ही सांसारिक वस्तुओं की सत्ता और उनका ज्ञान संभव हो, तो परिवर्तन और गति असंभव हो

---

१. प्लेटो के सामान्य इस अर्थ में न्यायवैशेषिक के सामान्यों के समान हैं।

जायगी। सामान्य इस जगत् की परिवर्तन और गति का कोई उचित समाधान नहीं कर सकते।

(६) ये सामान्य वस्तुतः सांसारिक पदार्थों के काल्पनिक नित्य रूपों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। 'सामान्य मेज़' बिलकुल 'सांसारिक मेज़' की तरह ही है; अन्तर इतना ही है कि मेज़ नामक सत्य वस्तु अनित्य है और इस काल्पनिक मेज़ को नित्य मान लिया गया है।

(७) सामान्यों को व्यक्तियों का प्राण, जीवन, आत्मा, स्वरूप और तत्व माना गया है। यदि ऐसा है, तो फिर ये सामान्य 'व्यक्तियों' से पृथक् दूसरे ही लोक में कैसे रह सकते हैं? तब यह कहना कि व्यक्ति इन सामान्यों के प्रतिरूप, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब, प्रतिलिपि आदि हैं या इनमें 'भाग लेते हैं', काव्य-कल्पना मात्र है।

(८) ये तथाकथित सामान्य वस्तुतः सामान्य न होकर विज्ञान-लोक के 'व्यक्ति' हैं। हम लोग सांसारिक व्यक्ति हैं; ये काल्पनिक दिव्य व्यक्ति हैं। वस्तु-जगत् के एक मनुष्य नामक 'व्यक्ति' को, उदाहरणार्थ सॉक्रेटीज़ को, ले लीजिये। सॉक्रेटीज़ इस लोक का 'व्यक्ति' है। इसका मौलिक रूप विज्ञान-लोक में 'सामान्य मानव' नामक एक 'दिव्य व्यक्ति' है। इसका सॉक्रेटीज़ से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु हैं दोनों मनुष्य, एक लौकिक है, दूसरा दिव्य है। अतः इन दोनों मनष्यों में अनुगत और इन दोनों को मनुष्यत्व का धर्म देनेवाले एक 'तृतीय मनुष्य' (Third Man) की कल्पना करनी पड़ेगी जो वस्तुतः इन दोनों का सामान्य हो। किन्तु प्लेटो के अनुसार यह सामान्य भी एक व्यक्तिविशेष हो जायगा और फिर इसके लिये एक और सामान्य खोजना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष (Infinite Regress) आयगा। प्लेटो ने अपने सामान्यों को व्यक्तियों से पृथक् करके उनको सामान्य-पद से गिरा दिया है। वे भी व्यक्ति-विशेष बन गये हैं। इस प्रकार प्लेटो ने 'व्यक्ति' और 'सामान्य' का भेद ही नष्ट कर दिया है और इसलिये उनके सिद्धान्त में अनवस्था दोष का आना अनिवार्य हो गया है।

(९) प्लेटो अपने सामान्यों को 'संख्या' (Number) भी कहने लगे थे। किन्तु यदि ये संख्या हैं, तो गणित का विषय हैं, दर्शन का नहीं। यदि इनको दर्शन में भी घुसा दिया जाय, तो भी ये सांसारिक वस्तुओं के कारण तो कदापि नहीं बन सकते।

यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि एरिस्टॉटल ने अपने इस खण्डन में प्लेटो के साथ न्याय नहीं किया है। यह कथन तो उचित नहीं है कि एरिस्टॉटल प्लेटो के विज्ञानवाद को समझ नहीं सके थे, किन्तु यह अवश्य सत्य है कि एरिस्टॉटल ने, केवल खण्डन के लिये, प्लेटो के सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण

तत्वों की उपेक्षा कर दी है और कुछ का अतिरंजन किया है। अपनी प्रारंभिक कृतियों में प्लेटो ने, सॉक्रेटीज़ का अनुकरण करके, यह लिखा है कि सांसारिक पदार्थ इन सामान्यों में "भाग लेते" हैं या उनके "प्रतिबिम्ब" हैं, किन्तु बाद में प्लेटो ने स्वयं अपनी "पार्मेनाइडीज़" नामक कृति में इसका संशोधन करके जगत् के पदार्थों को विज्ञानों की "अभिव्यक्ति" माना है, जिस पर एरिस्टॉटल ने कोई ध्यान नहीं दिया। वस्तुतः एरिस्टॉटल के प्रायः सभी आक्षेपों को प्लेटो ने स्वयं उपस्थित करके उनका उत्तर दे दिया है। प्लेटो के सामान्य या विज्ञान वस्तु-जगत् के पार केवल इसी अर्थ में हैं कि वे वस्तु-जगत् पर निर्भर नहीं हैं। 'पार' या 'ऊपर' का अर्थ उनकी 'स्वतन्त्र सत्ता' है, न कि भौतिक दृष्टि से ऊपर या दूसरे लोक में रहना। वस्तुतः विज्ञानों को प्लेटो ने दिक्-कालातीत माना है। अतः उनके 'ऊपर' और 'नीचे', 'बाहर' और 'भीतर' का प्रश्न ही नहीं उठता। और फिर प्लेटो ने स्वयं ही विज्ञानों को वस्तुओं में अनुगत, अनुस्यूत या अन्तर्यामी भी माना है। विज्ञान-लोक वस्तु-लोक से पृथक् और सर्वथा भिन्न नहीं है। वस्तु-जगत् में गति और परिवर्तन का कारण प्लेटो ने ईश्वर (Demiurge) को माना है। एरिस्टॉटल ने प्लेटो के ईश्वर का अपने इस खण्डन में नाम भी नहीं लिया है। प्लेटो ने इन विज्ञानों का भी एक परम विज्ञान माना है जिसे वे 'शिवतत्व विज्ञान' (Idea of the Good) कहते हैं। यह परम विज्ञान ही वस्तुतः शिव-स्वरूप अद्वैत तत्व है जो सब विज्ञानों का सूत्रात्मा है और सब में अन्तर्यामी है। इस परम विज्ञान की ज्योति विज्ञानों में आती है और उनके द्वारा सांसारिक पदार्थों में। प्लेटो ने संसार को कभी नितान्त असत् नहीं कहा और न वस्तु-जगत् और विज्ञान-जगत् के विभाग को पारमार्थिक द्वैत माना। एरिस्टॉटल ने अपने खण्डन में इस शिवतत्व विज्ञान का नाम भी नहीं लिया है। वस्तुतः एरिस्टॉटल के सब आक्षेप एकाङ्गी और भ्रामक हैं। अस्तु।

एरिस्टॉटल के अनुसार भी सामान्य (Form or Universal) बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है। सामान्य वस्तु-गत है अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में अनुगत या अनुस्यूत (Immanent) है। सामान्य की सत्ता, वास्तविक होते हुये भी, व्यक्तियों से या वस्तुओं से पृथक् नहीं है। यह उनके पार या ऊपर (Transcendent) नहीं है। यही वास्तविक सामान्य (Concrete Universal) है। यह अनित्य वस्तुओं का नित्य स्वरूप है। यह भेद में अनुस्यूत अभेद है। सांसारिक पदार्थ वस्तुतः सत्य हैं। वे द्रव्य हैं। वे तत्व (Substance) हैं। उन तत्वों का स्वरूप होने के कारण सामान्य भी तत्व है। वस्तुतः सामान्य ही हमारे ज्ञान के विषय हैं और विविध विज्ञानों (Sciences) का कार्य विभिन्न पदार्थों में अनुस्यूत सामान्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। सामान्य विज्ञान-रूप हैं, अतः चेतन हैं, जड नहीं। संसार के विविध पदार्थ अपनी जडता (Matter) के कारण

अनित्य, परिणामी और विनाशशील हैं। इनका सामान्य, जो इनका स्वरूप (Form) है, नित्य, अपरिणामी और अविनाशी है, किन्तु इनमें अभिव्यक्त होने के कारण वह भी इनकी जडता से परिच्छिन्न हो जाता है। तत्व (Substance) शब्द का प्रयोग वस्तुतः सामान्य या स्वरूप (Form) के लिये ही होना चाहिये। किन्तु शुद्ध स्वरूप (Pure Form), जो जडता (Matter) से नितान्त रहित हो, केवल ईश्वर और आत्मा ही हैं, अतः ये ही वस्तुतः 'तत्व हैं। यहाँ एरिस्टॉटल पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। किन्तु एरिस्टॉटल कभी-कभी इसके विपरीत भी कहते हैं कि वस्तुतः तत्व विशेष व्यक्ति (Particular Individual) ही है। यह सदा एक और वही रहता है। सामान्य को, व्यक्तिरूपी तत्वों में अनुगत रहने के कारण, गौण रूप से तत्व कहा जाता है। इन दो विरोधी धाराओं का समन्वय एरिस्टॉटल नहीं कर सके। एक ओर तो, प्लेटो के सामान्य का खण्डन करने के लिये, उन्होंने व्यक्ति को ही वास्तविक तत्व माना और दूसरी ओर, प्लेटो से ही प्रभावित होकर, उन्होंने सामान्य को ही एक मात्र शुद्ध तत्व कहे जाने का अधिकार दे दिया। शायद उनका तात्पर्य यही था कि व्यक्तियों से भिन्न और परे सामान्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती। कुछ भी हो, एरिस्टॉटल इसका समुचित समाधान नहीं कर सके।

वस्तु-जगत् के प्रत्येक तत्व (Substance) में दो बातें पाई जाती हैं—एक तो उसका द्रव्य (Matter) और दूसरी, उसका स्वरूप (Form)। स्वरूप तो सामान्य है जो एक जाति के सभी तत्वों में समान हैं। द्रव्य विशेषता (Individuality) का जनक है। यही एक तत्व को, जो वह है, वही बनाता है। द्रव्य परिणाम और गति का आधार है। इसके कारण प्रत्येक तत्व, परिवर्तित और गतिशील होते हुये भी, वही बना रहता है। द्रव्य जडता का प्रतीक है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण है। इस जगत् में द्रव्य और स्वरूप को कभी अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। अतः इस संसार में कोई वस्तु विशुद्ध द्रव्य या विशुद्ध स्वरूप नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विशुद्ध द्रव्य या विशुद्ध स्वरूप की सत्ता ही नहीं। विशुद्ध द्रव्य है मूल प्रकृति (Materia Prima) और विशुद्ध स्वरूप है ईश्वर (Pure Form)। एक पूर्ण जडता है और दूसरा पूर्ण चैतन्य; एक शुद्ध कर्म है और दूसरा शुद्ध ज्ञान; एक गति और परिणाम रूप है, दूसरा निश्चल और कूटस्थ। ये दोनों इस संसार के माता-पिता हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु इन माता-पिता के गुणों का सम्मिश्रण है। अतः संसार के प्रत्येक तत्व में द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है। द्रव्य को एरिस्टॉटल 'साध्य' (Potentiality) और स्वरूप को 'सिद्ध' (Actuality) कहते हैं। 'साध्य' में सुप्त शक्ति होती है जिसको जगाने पर वह कुछ बन

सकता है, किन्तु अभी बना नहीं है। उसमें विकास की क्षमता है, किन्तु अभी विकसित हुआ नहीं है। जब वह इस शक्ति को जाग्रत् करके कुछ बन जाता है अर्थात् किसी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब वह 'सिद्ध' कहलाता है क्योंकि उसने अपने स्वरूप को सिद्ध कर लिया है। मूल प्रकृति शुद्ध साध्य है। उसका कोई स्वरूप नहीं है। वह पूर्ण जडता है। अतः हमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ईश्वर शुद्ध सिद्ध हैं। उनमें पूर्ण चैतन्य है। अतः उनका भी हमें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। हमारे संसार की प्रत्येक वस्तु साध्य और सिद्ध का मिश्रण है, द्रव्य और स्वरूप का मिश्रण है, जडता और चैतन्य का मिश्रण है।

हमारा संसार परिणामी और गतिशील है। यह परिणाम और गति एक निश्चित लक्ष्य के कारण होती है। विश्व में विशिष्टाद्वैत (Identity-in-difference) है। यहाँ भेद में अभेद अनुस्यूत है। संसार के विविध पदार्थ इस अभेद को पाने के लिये गतिशील हैं। गति (Motion) या परिणाम (Change) वस्तुतः विकास (Development) है--द्रव्य का स्वरूप की ओर विकास, साध्य का सिद्ध की ओर विकास। प्रत्येक गति या परिणाम के चार कारण होते हैं--(१) उपादान कारण (Material Cause), (२) निमित्त कारण (Efficient Cause), (३) स्वरूप कारण (Formal Cause) और (४) लक्ष्य कारण (Final Cause)। उदाहरणार्थ, संगमरमर की प्रतिमा को लीजिये। इसके लिये आवश्यकता है--(१) संगमरमर की, (२) निर्माता की, (३) निर्माता के मस्तिष्क में प्रतिमा के स्वरूप की, और (४) प्रतिमा बनाने के लक्ष्य की। यह तो जड पदार्थ का उदाहरण हुआ। अब प्राणी-जगत् से उदाहरण लीजिये। किसी प्राणी की उत्पत्ति के लिये आवश्यकता है--(१) माता के रज की, (२) पिता के वीर्य की, (३) प्राणी के स्वरूप की, और (४) उत्पत्ति के लक्ष्य या उद्देश्य की। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि एरिस्टॉटल ने द्रव्य और स्वरूप के अतिरिक्त निमित्त और लक्ष्य को भी स्वीकार किया है। साध्य या द्रव्य को सिद्ध या स्वरूप बनने के लिये, निमित्त कारण की जो गति या परिणाम उत्पन्न कर सके और उस लक्ष्य की जिसकी ओर वह प्रगति कर रहा है, आवश्यकता है। सृष्टि का आदि निमित्त कारण ईश्वर है, जो स्वयं अगतिशील और अपरिणामी होते हुये भी, सारी गति और परिणाम का जनक है और वही सृष्टि का चरम लक्ष्य है जिसको प्राप्त करने के लिये सृष्टि गतिशील है।

विश्व की प्रत्येक वस्तु में द्रव्य और स्वरूप दोनों हैं। प्रत्येक वस्तु साध्य से सिद्ध की ओर अग्रसर हो रही है क्योंकि उसमें एक कमी या अभाव (Privation) है जो उसमें नहीं होना चाहिये था और जिसको दूर करने की शक्ति उसमें अन्तर्निहित है। संसार की वस्तुओं में एक अखण्ड तारतम्य है। प्रत्येक वस्तु अपने से ऊपर की वस्तु के लिये द्रव्य है और नीचे की वस्तु के लिये स्वरूप है।

बीज से वृक्ष बनता है और वृक्ष की लकड़ी से पलंग। बीज में वृक्ष छिपा है और वृक्ष में पलंग। बीज में वृक्ष बनने की और वृक्ष में पलंग बनने की 'सुप्त शक्ति' है। यह साध्य है, किन्तु अभी सिद्ध नहीं हुआ है। यह कमी है, अभाव है, जिसे दूर किया जा सकता है। बीज में वृक्ष का स्वरूप छिपा है, सुप्त है। जब बीज वृक्ष बन जाता है तो यह स्वरूप सिद्ध हो जाता है। बीज की दृष्टि से वृक्ष स्वरूप है, किन्तु पलंग की दृष्टि से वृक्ष द्रव्य है। दूसरा उदाहरण लीजिये। मिट्टी से घास उगती है और गाय द्वारा खायी जाकर उसके रक्त में परिणत होती है। मिट्टी के लिये घास स्वरूप है, किन्तु रक्त के लिये घास द्रव्य है। साधारण पत्थर कालान्तर में संगमरमर बनता है और संगमरमर से प्रतिमा बनाई जाती है। साधारण पत्थर के लिये संगमरमर स्वरूप है, किन्तु प्रतिमा के लिये द्रव्य है।

एरिस्टॉटल ने 'सुप्त शक्ति' (Potency) और 'जाग्रत् शक्ति' (Act) में भेद किया जो महत्वपूर्ण है। साध्य सिद्ध का अभाव नहीं है। साध्य में सुप्त शक्ति है जो जाग्रत् होकर उसे सिद्ध बना देती है। जिसमें सुप्त शक्ति न हो उसे साध्य नहीं कह सकते। सुषुप्ति में मनुष्य में चिन्तन की सुप्त शक्ति है जो साध्य है और जाग्रत् अवस्था में सिद्ध बन सकती है। किन्तु पत्थर में यह शक्ति नहीं है। एरिस्टॉटल के अनुसार गति और परिणाम सत्य विकास है। इस विकास का विभिन्न श्रेणियों में तारतम्य है। साध्य में अन्तर्निहित होने के कारण सिद्ध की सत्ता साध्य से पहले है। यों व्यवहार में भले ही साध्य सिद्ध के पहले आये। बालक युवक बनता है। बालक साध्य है, युवक सिद्ध। व्यवहार में पहले बालक होता है और बाद में युवक। किन्तु वस्तुतः युवक बालक में पहले ही छिपा हुआ है, अन्यथा बालक युवक नहीं बन सकता। विकास की श्रेणियों में ऊपर की श्रेणी सुप्त या गुप्त रूप से नीचे की श्रेणी में विद्यमान है और नीचे की श्रेणी विकसित होकर प्रकट रूप से ऊपर की श्रेणी बन सकती है। वस्तु-जगत् में और विज्ञान-जगत् में वास्तविक भेद नहीं है। सामान्य या विज्ञान सिद्ध हैं और वस्तुयें साध्य। परमार्थ व्यवहार में ही अन्तर्निहित है और व्यवहार परमार्थ की ओर विकसित हो रहा है। साध्य जब सिद्ध बन जाता है, द्रव्य जब स्वरूप-लाभ कर लेता है, तो एरिस्टॉटल ने उसे 'सिद्ध सत्ता' (Entelechy) का नाम दिया है। असली सिद्ध सत्ता तो ईश्वर की ही है जो इस जगत् को आकर्षित कर रहे हैं और यह जगत् उनकी ओर विकसित हो रहा है। जैसे सिद्ध साध्य में अन्तर्निहित होता है और उसका लक्ष्य है, वैसे ही ईश्वर इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्निहित हैं और इसके लक्ष्य हैं। वे सिद्ध हैं; जगत् साध्य है। वे ही एकमात्र परम सिद्ध (Pure Actuality) हैं। उनकी शक्ति पूर्ण जाग्रत् है। वे नित्य हैं। वे विशुद्ध विज्ञानरूप हैं। उनमें जडता का सर्वथा अभाव है। वे स्वयं अगति-

शील और अपरिणामी हैं, किन्तु समस्त गति और परिणाम के कारण हैं। (Unmoved Mover)। वे ही सबके लक्ष्य हैं। वे सृष्टि में अन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनके बाहर नहीं है। वे इस सृष्टि से अलग रहने वाले सृष्टिकर्ता नहीं हैं। वे पूर्ण अद्वैत रूप हैं। वे प्रपंचातीत हैं। सृष्टि उनके स्वरूप की प्राप्ति के लिये विकासशील है।

यह एरिस्टॉटल के दार्शनिक विचारों का, उनके तत्व-विज्ञान का, सार है। इसके अतिरिक्त वे निगमन तर्क (Deductive Logic) के जनक हैं और यह तर्कशास्त्र आज भी लगभग उसी रूप में पढ़ाया जाता है। उन्होंने मनोविज्ञान, प्राणीविज्ञान, भौतिक विज्ञान, राजनीति, आचारशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र पर भी काफ़ी लिखा है। उनकी प्रतिभा असाधारण है और उनका कार्य अत्यन्त व्यापक और महत्वपूर्ण। ये सब विषय हमारे इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर हैं, अतः इनका संक्षिप्त परिचय भी नहीं दिया जा सकता।

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन दर्शन : एरिस्टॉटल से ऑगस्टाइन तक

एरिस्टॉटल के बाद ग्रीस का राजनीतिक और सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो गया। देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था जो परस्पर ईर्ष्या द्वेष रखते थे और लड़ते थे। १४६ ई० पू० में ग्रीस अपनी स्वतन्त्रता खोकर रोमन राज्य का एक प्रान्त बन गया। पर्शिया के द्वारा पूर्वी विचारधारा भी इधर वेग से बहने लगी। इन सब कारणों से दर्शन को तटस्थ विचार न मान कर जीवन का साधन माना गया। दर्शन का धर्म से सामंजस्य होने लगा। दर्शन का काम रूढ़ियों से रहित धार्मिक और नैतिक जीवन के लिये विचारों की पृष्ठभूमि तैयार करना हो गया। दूसरे, व्यक्तिवाद का प्रबल उत्थान हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख दु:ख का निर्माता समझा जाने लगा। यदि बाह्य जीवन में सुख शान्ति न मिल सके, तो कम-से-कम आन्तरिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक शान्ति का अनुभव कर सकता है। तीसरे, सन्देहवाद की धारा बड़े वेग से बहने लगी। मानव का अपनी बुद्धि से विश्वास उखड़ने लगा। ज्ञान की सीमायें बनने लगीं। विज्ञानवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ईश्वर, जीव और जगत् की सत्ता में सन्देह होने लगा और इस जीवन में जो भी और जैसा भी सुख मिल जाय वही प्राप्तव्य समझा गया। रोमन विजेता पूर्ण व्यावहारिक थे। उनकी दर्शन की कल्पनाओं में अभिरुचि नहीं थी। अतः जीवन परमार्थ से हट कर व्यवहार की ओर केन्द्रित होने लगा।

एपिक्यूरस (Epicurus) (३४१ ई० पू०—२७० ई० पू०):—इन्होंने एथेन्स में अपनी संस्था स्थापित की जिसमें स्त्रियों और दासों को भी सम्मिलित किया गया। घनिष्ठ मैत्री इसका आदर्श था और एपिक्यूरस इसमें देव-तुल्य पूज्य थे। उनके अनुसार सुख ही जीवन का एक मात्र और चरम लक्ष्य है। इसमें वे एरिस्टिपस के अनुयायी थे। यद्यपि इस सुख में इन्द्रियज सुख को उचित स्थान प्राप्त था, तथापि एपिक्यूरस का आदर्श आन्तरिक शान्ति द्वारा उत्पन्न अलौकिक दार्शनिक सुख था। सांसारिक सुख दु:खनिवृत्ति के लिये होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दु:ख और भय से निवृत्ति चाहता है और इसीलिये सुख की ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु असली सुख वह है जहाँ दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो। अतः असली सुख आन्तरिक दार्शनिक शान्ति है जो सांसारिक सुख-दु:ख के द्वन्द्व से ऊपर है। यदि मनुष्य सार्वभौम सम्राट् भी बन जाय, तो भी क्या वह दु:खों से छूट सकता है? इच्छाओं और कामनाओं का त्याग ही असली सुख है।[1] साधारण सांसारिक

१. गीता का निष्काम कर्म।

सुखों का निर्लिप्त होकर अनुभव करते हुये इच्छाओं को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इच्छा ही दुःख की जननी है। धार्मिक अन्ध-विश्वास दुःख को भयंकर रूप से बढ़ाते हैं। ईश्वर की मानवरूप में कल्पना, विविध देवी देवताओं की कल्पना, उनका मानव-जीवन में पक्षपातपूर्ण हस्तक्षेप करना और इसी प्रकार के अन्य कई बेहूदे अन्ध-विश्वास संसार को पीड़ित करते हैं। अतः एपिक्यूरस ने भौतिक विज्ञान के अध्ययन को निष्पक्ष विचारों के लिये बहुत आवश्यक माना है। इसके लिये उन्होंने डिमोक्रिटस की शरण ली। विश्व में भौतिक परमाणुओं के अतिरिक्त और कुछ नित्य नहीं है। ईश्वर और देवी देवता आदि कोरी कल्पनायें हैं। मानव की आत्मा भी भौतिक परमाणुओं के संयोग से बनती है और मृत्यु के बाद नष्ट हो जाती है क्योंकि यह संयोग नष्ट हो जाता है। मृत्यु से भय करना बेकार है। यह सत्य है कि मृत्यु के बाद सांसारिक सुख नहीं रहते, किन्तु यह भी तो उतना ही सत्य है कि मृत्यु के बाद कोई दुःख भी नहीं रहते।

स्वयं एपिक्यूरस और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के लिये आदर्श सुख द्वन्द्वातीत शान्ति ही थी, किन्तु बाद में इन्द्रियसुखों को ही आदर्श मानकर लोग अपने आपको एपिक्यूरस के अनुयायी कहने लगे। एपिक्यूरस के लिये सुख और नैतिक बल एक ही बात थी। यह सत्य है कि उन्होंने सांसारिक सुखों की अवहेलना नहीं की, किन्तु उनका लक्ष्य इच्छाओं से छुटकारा पाना ही था। बाद में यह सम्प्रदाय शुद्ध चार्वाक सम्प्रदाय बन गया और इन्द्रियों द्वारा लभ्य सुख ही जीवन का आदर्श माना गया।

स्टोइक मत (The Stoics) :—इस मत की प्रतिष्ठा ज़ीनो (Zeno) ने (जो पार्मेनाइडीज़ के प्रसिद्ध शिष्य ईलिया के ज़ीनो से भिन्न हैं) जिनका समय ३३६ ई० पू० से २६४ ई० पू० है एथेन्स में आकर की। इन पर पूर्वी विचारधारा की छाप है। एपिक्यूरस ने एरिस्टिपस (Aristippus) और उनके अनुयायी सिरेनाइक्स (Cyrenaics) का अनुकरण करके सुख को जीवन का लक्ष्य बनाया था। ज़ीनो ने सॉक्रेटीज़ और एन्टिस्थेनीज़ (Antisthenes) तथा उनके अनुयायी सिनिक्स (Cynics) का अनुकरण करके चरित्र-बल को जीवन का लक्ष्य बनाया। दोनों में इस बात का साम्य है कि दोनों ही इच्छाओं और कामनाओं के दमन को लक्ष्य-प्राप्ति का साधन मानते हैं। एपिक्यूरस के लिये सुख और चरित्रबल एक ही वस्तु थे, किन्तु उनके अनुयायी आगे जाकर इन्द्रिय-सुख के ही उपासक बन गये। अतः स्टोइक मत ने नैतिक जीवन के प्रेमियों को शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सिनिक (जिससे शायद 'सनकी' शब्द बना है) लोगों का आदर्श भी चरित्रबल था, किन्तु उनमें इन्द्रिय-दमन का और संसार के सुखों को छोड़कर तपस्वी जीवन बिताने का निवृत्ति-मार्ग प्रधान था। स्टोइक लोगों ने इस निवृत्ति-मार्ग के साथ प्रवृत्ति-मार्ग का भी सामंजस्य किया।

एपिक्यूरस के लिये भौतिक परमाणु ही एकमात्र तत्व थे। स्टोइक लोगों के लिये तत्व विशिष्टाद्वैतस्वरूप वैश्वरूप्य है। इस वैश्वरूप्य को चाहे ईश्वर कहा जाय, चाहे प्रकृति, बात एक ही है। तत्व विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। स्टोइक लोगों ने, एरिस्टॉटल के अनुसार, संसार को द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण माना है। एरिस्टॉटल ने ईश्वर को विशुद्ध स्वरूप और प्रकृति को विशुद्ध द्रव्य माना था, किन्तु स्टोइक लोगों ने द्रव्य और स्वरूप के पारमार्थिक द्वैत को मिटाकर इनको एक ही तत्व के दो रूप माने। अतः एक ही तत्व को, स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर और द्रव्य की दृष्टि से प्रकृति कहा जा सकता है। यह जगत् ईश्वर का शरीर है। ईश्वर इस जगत् में अन्तर्यामी हैं, इससे भिन्न नहीं। ईश्वर परमात्मा या जगदात्मा (Logos, the Universal Pneuma or Soul) हैं। जीवात्मा उनका अंश है और संसार में उनके ज्ञान का सीमित उपभोग करती है। मुक्ति के समय जीवात्मा और परमात्मा का तादात्म्य हो जाता है और उनमें कोई भेद नहीं रहता। जगत् में प्रत्येक व्यक्ति अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, वह ईश्वर का अंग है और उसका लक्ष्य ईश्वर की ओर अभिमुख होना है। मानव-जीवन का लक्ष्य परमात्म-स्वरूप होना अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है और चरित्र-बल इसका साधन है। जगत् के अन्तर्यामी समस्त द्वन्द्वों से रहित हैं। मानव को अपने पैरों पर खड़े होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है। निष्काम भाव से निर्लिप्त होकर संसार में अपने कर्तव्यों को पूरा करते हुये ईश्वराभिमुख होना चाहिये। इसी में जीवन की सार्थकता है। मानव विश्व का निवासी है क्योंकि मानव ईश्वर का अंश है और ईश्वर जगदन्तर्यामी हैं। स्टोइक मत और ईसाई धर्म में ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भेद होने पर भी, स्टोइक मत का, आगे चलकर, ईसाई धर्म पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उत्तरकालीन स्टोइक विद्वानों में सम्राट् नीरो के शिक्षक सेनेका (Seneca) (मृत्यु ६५), एपिक्टेटस (Epictetus) (५०–१३८) और सम्राट् औरीलियस (Aurelius) (१६१-१८०) प्रसिद्ध हैं।

सन्देहवाद (Scepticism) :—इसके प्रतिष्ठापक पाइरो (Pyrrho) (३६५-२७५ ई० पू०) हैं, जो एरिस्टॉटल के समसामयिक थे। विविध दार्शनिक मतों के पारस्परिक भेदों को देखकर पाइरो ने कहा कि मानवी बुद्धि के लिये निश्चयात्मक ज्ञान असंभव है। न निर्विकल्प स्वानुभूति, न सविकल्प बुद्धि और न इन्द्रियानुभूति ही निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न कर सकती है। ज्ञान के क्षेत्र में सन्देह का साम्राज्य अखण्ड है। प्रत्येक मत के खण्डन में और मण्डन में सबल युक्तियाँ दी जा सकती हैं। अतः निश्चयात्मक ज्ञान भ्रम है। सन्देहवादियों में कारनेडीज (Carneades) (२१५-१३० ई० पू०) और सेक्सटस एम्पिरिकस (Sextus Empiricus) (२५० ई० के लगभग) जिन्होंने कार्यकारणभाव का खण्डन किया और जिनका डेविड ह्यूम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा, मुख्य हैं।

संग्रहवाद (Eclecticism) :—रोमन लोगों के आधिपत्य के कारण संग्रहवाद का प्रचार हुआ। रोमन लोग व्यावहारिक थे और उनको दार्शनिक मत-मतान्तरों के कलहों में रुचि नहीं थी। सभी ग्रीक दार्शनिकों से अच्छी-अच्छी बातें लेकर उनका संग्रह किया जाने लगा। सिसेरो (Cicero) इस कार्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

एलेक्ज़ेन्ड्रिया के फ़ाइलो (Philo) (२५ ई० पू०–४० ई०) ने जो रोम में यहूदियों के दूत थे, प्लेटो के विचारों का यहूदी विचारों से समन्वय किया। प्लूटार्क (Plutarch) (४५ ई० के लगभग) ने पाइथेगोरस और प्लेटो के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

प्लेटो के मत का पुनरुद्धार (Neo-Platonism) :—**प्लोटाइनस** (Plotinus) (२०४-२७०) ने प्लेटो से अत्यधिक प्रभावित होकर अपने दर्शन की स्थापना की। प्लोटाइनस का जन्म मिस्र (Egypt) में हुआ था और वे एमोनियस सेकस (Ammonius Saccus) के शिष्य थे जिनको प्लेटो के नवीन मत का संस्थापक माना जाता है। प्लोटाइनस महान् दार्शनिक और रहस्यवादी सन्त थे। उन पर मिस्र और पर्शिया के विचारों का और उनके द्वारा शायद भारतीय विचारों का भी प्रभाव पड़ा है।

प्लोटाइनस प्लेटो के अनन्य भक्त हैं। प्लेटो के साथ-साथ प्लेटो के पूर्ववर्ती ग्रीक दार्शनिकों का, पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस, पार्मेनाइडीज़ और सॉक्रेटीज़ का, प्रभाव भी उनमें स्पष्ट प्रतीत होता है। कुछ प्रभाव एरिस्टॉटल का भी पड़ा है। प्लोटाइनस की विचारधारा ग्रीक दर्शन की अन्तिम विचारधारा है। ईसाई धर्म का वेग से प्रचार होने के कारण और उसे राजकीय सत्ता का आश्रय मिलने के कारण कालान्तर में प्लेटो का नवीन मत टिक नहीं सका। किन्तु इस मत का प्रभाव स्वयं ईसाई धर्म पर भी अत्यधिक पड़ा। वस्तुतः प्लोटाइनस के प्रभाव को ईसाई धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। स्वयं सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार "समस्त दर्शन में प्लेटो का दर्शन अत्यन्त पुनीत और ज्वलन्त है।" प्लोटाइनस ग्रीक दर्शन के अन्त और ईसाई दर्शन के आदि हैं। सन्त ऑगस्टाइन के विचार से "प्लोटाइनस में प्लेटो का पुनर्जन्म हुआ।" किन्तु बर्ट्रेन्ड रसेल के अनुसार "प्लोटाइनस के प्लेटो उतने जीवित नहीं, जितने असली प्लेटो थे।" रसेल के विचार से प्लोटाइनस ने प्लेटो के केवल प्रारम्भिक विचारों को ही अपनाया। किन्तु यह कथन सत्य नहीं है। प्लेटो की बाद की रचनाओं के विचारों की छाप भी प्लोटाइनस में स्पष्ट झलकती है। हाँ, जिस विकृत रूप में रसेल प्लेटो को देखते हैं उस रूप में प्लोटाइनस ने नहीं देखा। प्लोटाइनस ने प्लेटो के असली भावों को अपनाकर अपने दर्शन में व्यक्त किया है। यह तो अनिवार्य है कि प्लोटाइनस के अपने व्यक्तित्व और विचारों का सम्मिश्रण भी उनमें हो।

व्यवहार और परमार्थ का भेद प्रायः सभी दर्शनों और धर्मों में किसी-न-किसी रूप में आ ही गया है—किसी में स्पष्ट है, किसी में गुप्त। पार्मेनाइडीज़ में व्यवहार (Opinion) और सत्य (Truth) का भेद है। हेरेक्लाइटस में अवनत मार्ग (Way Down) और उन्नत मार्ग (Way Up) का भेद है। प्लेटो में इन्द्रियानुभूति (Sense) और विज्ञान (Idea) का, छाया (Shadow) और प्रकाश (Light) का भेद है। स्पिनोज़ा में अनित्य (Temporis) और नित्य (Aeternitatis) का भेद है। कान्ट में व्यवहार (Phenomenon) और परमार्थ (Noumenon) का भेद है। हेगल में भ्रम (Illusion) और तत्व (Reality) का भेद है। ब्रेडले में व्यवहार (Appearance) और परमार्थ (Reality) का भेद है। भारतीय दर्शनों में, वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का, बौद्ध दर्शन के शून्यवाद में संवृति और परमार्थ का तथा विज्ञानवाद में परतन्त्र और परिनिष्पन्न का, जैन दर्शन में पर्याय और द्रव्य का या स्याद्वाद और केवल ज्ञान का, भेद प्रसिद्ध है। धर्मों में भी, वैदिक धर्म में सुर और असुर का, बौद्ध धर्म में बुद्ध और मार का, जैन धर्म में जीव और पुद्गल का, पारसी धर्म में ओर्मुज़्द (Ormuzd) और अह्रिमान (Ahriman) का, ईसाई धर्म में ईश्वर (God) और शैतान (Satan) का तथा इस्लाम में अल्लाह और शैतान का भेद प्रसिद्ध है।

पाश्चात्य दर्शन में इस व्यवहार और परमार्थ के भेद का सर्वप्रथम अत्यन्त सुस्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतिपादन करने का श्रेय प्लेटो को है। प्लोटाइनस ने भी अपने दर्शन का आधार इसे ही बनाया है।

प्लोटाइनस के अनुसार परम तत्व "एकमेवाऽद्वितीय" (The One, the Alone) है। यह शुद्ध 'सत्' है जो निर्गुण, निर्विकार और निराकार है। यह अन्तर्यामी (Immanent) भी है और परात्पर (Transcendent) भी है। यह प्लेटो का विज्ञानस्वरूप शिवतत्व (Idea of the Good) है। सृष्टि इसका शरीर है और यह सृष्टि की आत्मा है। इसके बाहर कुछ नहीं है, अतः यह ही सब कुछ है, यह 'सर्वं खलु इदं' (The All) है। यह सब जगह (Everywhere) है। यह सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्यामी है। किन्तु विश्व इसको सीमित नहीं कर सकता। विश्व इसका शरीर है, अतः यह विश्वरूप है। विश्व की आत्मा होने से यह अन्तर्यामी विश्वात्मा है। और स्वतः यह परात्पर है, अनिर्वचनीय है। इसे इन्द्रियाँ और बुद्धि नहीं पकड़ सकतीं। शुद्ध सत् (Pure Ens), शुद्ध चित् (Pure Nous) और शुद्ध आनन्द (Pure Bliss) होते हुये भी यह निर्गुण और अनिर्वचनीय (Indeterminate) है। यह स्वानुभूति के निर्विकल्प साक्षात्कार का विषय है। यह मौन (Silence) अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्य है। विज्ञान (Idea) भी इसे पूर्णरूप में ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। इसका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति नेति' (Negative)

सृष्टि में और परमतत्व में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः सृष्टि भी अनिर्वचनीय है (Inexplicable)। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि सृष्टि तत्व का 'स्वभाव' है, स्वाभाविक अभिव्यक्ति (Emanation) है। सृष्टि तत्व में से बह निकली है। तत्व उस प्याले के समान है जिसका अनन्त जल उसमें न समा कर निरन्तर बह निकलता है। जैसे जल-प्रपात से निरन्तर जल गिरता रहता है, वैसे ही तत्व की पूर्णता से यह सृष्टि गिरती रहती है। किन्तु इन उपमाओं से यह नहीं समझना चाहिये कि सृष्टि तत्व से अलग हो जाती है या तत्व से भिन्न भी उसकी सत्ता हो सकती है। तत्व एक, पूर्ण और अविभाज्य है। सृष्टि के रूप में वह वस्तुतः खण्डशः होकर नहीं बिखरता।

प्लोटाइनस का परमतत्व प्लेटो के विज्ञानस्वरूप शिवतत्व के समान और वेदान्त के परब्रह्म के समान है। सृष्टि में इस परमतत्व की अभिव्यक्ति चार रूपों में होती है। ये रूप हैं—ईश्वर (Nous), विश्वात्मा (World-Soul) जीवात्मा (Soul) और जड जगत् (Body)। इनमें से प्रत्येक अपनी ज्योति ऊपर से लेता है और नीचे भेजता है। ज्योति ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है उतनी ही क्षीण होती जाती है। इस तारतम्य में प्रत्येक रूप अपने ऊपर के रूप का अनुकरण (Imitation) करता है और नीचे के रूप द्वारा अनुकरण किया जाता है। यह अनिर्वचनीय परमतत्व विशुद्ध विज्ञानस्वरूप (Pure Consciousness) है। जब यह स्वयं अपना बोध करता है (Self-conscious) तो ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर परमतत्व की दृष्टि (Vision) हैं। प्लोटाइनस ने ईश्वर (Nous) को परमतत्व की दिव्यदृष्टि, दिव्य विज्ञान (Divine Intellect) या दिव्य प्रकाश बताया है। यह परमतत्व का प्रतिबिम्ब (Image) है। विश्वात्मा इस दिव्य विज्ञान रूप ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। यह सूर्य के समान है। इसकी किरणें जीवात्माओं के रूप में फूट पड़ती हैं। विश्वात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति होती है। जगत् की वास्तविक सत्ता तो नहीं है, किन्तु यह नितान्त असत् भी नहीं है। परमतत्व की ज्योति इसमें अत्यन्त मन्द हो गई है। जब तक जीव की अविद्या है, तब तक संसार है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से जगत् को ठुकराना अनुचित है। "जगत् का निराकरण करना अच्छे व्यक्ति का लक्षण नहीं है।" "आत्मा ईश्वर की पुत्री है।" विज्ञान-स्वरूप होने से आत्मा नित्य है। किन्तु अविद्या के कारण जीवात्माओं में भेद प्रतीत होता है। मृत्यु के उपरान्त जीव का पुनर्जन्म मानना उपयुक्त है, क्योंकि अपने कर्मों के फल तो जीव को भोगने ही होंगे। जीवात्मा इस जगत् में आकर जड जगत् के पदार्थों के मोह में फँस जाती है। अतः शरीर के मोह को, सांसारिक अनित्य पदार्थों के मोह को छोड़े बिना छुटकारा नहीं हो सकता। जीवात्मायें उन बालकों के समान हैं जिनको जन्म लेते ही उनके माता-पिता से दूर रखकर पाला-पोसा गया हो और जो

अपने तथा अपने माता-पिता के स्वरूप को भूल गये हों।[1] अतः जीव को तुरन्त ही परमतत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। इसके लिये साधना करनी पड़ती है। जब दिव्य ज्योति उतरती है तो उसको ग्रहण करके जीव अपने बन्धन से छुटकारा पा सकता है। जीवात्मा का स्वरूप भी परमतत्व का ही स्वरूप है। दोनों अद्वितीय हैं। जीव और परमतत्व का आकर्षण सहज है। यह आकर्षण "अद्वितीय की, अद्वितीय की ओर उड़ान" (The Flight of the Alone to the Alone) है। स्वरूप-ज्ञान होने पर आत्मा और परमतत्व का पूर्ण तादात्म्य (Absolute Identity) हो जाता है। यह दिव्य आनन्द की अवस्था स्वानुभूति का विषय है, वाणी और बुद्धि का नहीं।

प्लोटाइनस के बाद भी उनके अनुयायी एथेन्स में एकेडमी को अपना केन्द्र बनाकर दार्शनिक विचार प्रकट करते रहे, किन्तु ईसाई धर्म के विपरीत होने के कारण रोमन सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) ने सन् ५२९ में एकेडमी को बन्द कर दिया और उसके दार्शनिक विचारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार ग्रीक दर्शन की स्वतन्त्र विचारधारा का यूरोप में अन्त हुआ।

ईसाई पादरियों के दार्शनिक विचार:—ईसाई धर्म के प्रारंभ काल में उसके अनुयायी ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही दिव्य वचन मानकर अपने जीवन को उनके उपदेशों के अनुरूप बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। धार्मिक विश्वास ही उनकी मान्यता थी और उन्होंने तर्क की शरण लेना उचित नहीं समझा। किन्तु कालान्तर में जब ईसाई धर्म का वेग से प्रचार होने लगा और यूरोप के विद्वान् और दार्शनिक भी उस धर्म को स्वीकार करने लगे, तो ईसाई धर्म की मान्यताओं को तर्क से सिद्ध करने का कार्य भी होने लगा। इसके लिये एरिस्टॉटल की प्रधानरूप से शरण ली गई। ग्रीक दर्शन के अन्य विचार भी, विशेषतः प्लेटो और प्लोटाइनस के वे विचार, जो ईसाई धर्म के विपरीत नहीं पड़ते थे, स्वीकार कर लिये गये। प्लोटाइनस का ईसाई धर्म पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, क्योंकि दोनों ही, विचारों में भेद होने पर भी, ईश्वराभिमुख थे और ईश्वर तथा जगत् के सम्बन्ध की, पाप की स्थिति और उसके कारण की एवं दुःख से मुक्ति पाकर दिव्य जीवन बिताने की समस्याओं पर विशेषरूप से विचार करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार यह जगत् ईश्वर की सत्य सृष्टि है। ईश्वर इसके ऊपर दिव्य लोक में बसते हैं। वे परम पिता और परम कारुणिक हैं। ईसा मसीह उनके पुत्र हैं। ईसा मसीह के उपदेशों के अनुरूप चलकर जीव इस दुःख से छूटकर परमपिता के पास जा सकते हैं। जीवात्मा अमर और शाश्वत है क्योंकि ईश्वर की प्रतिकृति है। इन सिद्धान्तों की पुष्टि तर्क से होने लगी और इन्होंने धीरे-धीरे ईसाई धर्म के दर्शन का रूप ले लिया। चर्च की मान्यताओं का स्वरूप बनने

१. वेदान्त में भी व्याध द्वारा संवर्धित राजपुत्र का दृष्टान्त इस अर्थ में दिया गया है।

लगा। इस कार्य में शताब्दियाँ लग गईं। मध्ययुग में जाकर चर्च के धार्मिक विश्वास स्थिर हो गये। मध्ययुग के पहले जिन पादरियों ने इस कार्य में योग दिया उनमें सबसे अन्तिम और सबसे महान् सन्त ऑगस्टाइन थे।

सन्त ऑगस्टाइन (Saint Augustine) (३५४–४३०):—ऑगस्टाइन का जन्म अफ्रीका में हुआ था। माता ईसाई थी। युवावस्था में विलासी जीवन बिताने के बाद वे रोम चले गये और वहाँ अध्यापक हो गये। मिलान नगर में सन्त एम्ब्रोस (Ambrose) का उन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। प्लेटो और प्लोटाइनस का भी अध्ययन उन्होंने किया। बाद में वे ईसाई बन गये। अपने पुराने जीवन से उन्हें विरक्ति हो गई और उन्होंने धार्मिक जीवन प्रारंभ किया। प्रतिभा उनकी प्रखर थी ही। वे हिप्पो के पादरी (Bishop of Hippo) बने और मृत्यु पर्यन्त उन्होंने ईसाई धर्म और चर्च की पूर्ण सेवा की। उनके बाद में होनेवाले दार्शनिक पादरियों पर उनका भारी प्रभाव पड़ा है।

सन्त ऑगस्टाइन में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—दार्शनिक और धार्मिक। दर्शन में उन्होंने जगत् को हटाकर आत्मा को केन्द्र बनाया और आत्मा के अमरत्व, स्वतःसिद्धत्व, ज्ञानस्वरूपत्व और संकल्प-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया। आत्मा ज्ञाता है और उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। उसका निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि जो निराकर्ता है वही आत्मा का स्वरूप है। 'यदि मैं अपना निषेध भी करूँ तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य है' (Si Fallor Sum)। आधुनिक युग के संस्थापक देकार्त के "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Cogito Ergo Sum) इस सूत्र पर सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव स्पष्ट है। ईश्वर की सत्ता के लिये भी उन्होंने प्रमाण दिये हैं। आत्मा संकल्प और कर्म करने में स्वतन्त्र है। पादरी बन जाने पर उनकी धार्मिक प्रवृत्ति बलवती हो गई और वे चर्च की प्रतिष्ठा करने में लग गये। ईश्वर और आत्मा को मिलानेवाली शृंखला चर्च ही है। चर्च की प्रभुता सार्वभौम होनी चाहिये। प्रथम मानव 'आदम' (Adam) को ईश्वर ने संकल्प और कर्म का स्वातन्त्र्य दिया था। किन्तु शैतान के बहकाने में आकर उसने निषिद्ध फल खा लिया। तभी से पाप और दुःख संसार में छा गये। आदम के पाप से उनकी सन्तति—सारी मानवजाति—कलुषित हो गई। उसका संकल्प-स्वातन्त्र्य छिन गया। पाप में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई। इस पाप और दुःख से बचने का एक मात्र उपाय ईश्वर की करुणा है। ईश्वर की करुणा या प्रसाद का वितरण चर्च बपतिस्मा (Baptism) द्वारा ईसाई बनाकर करती है। चर्च को ही इसका एकाधिकार है। चर्च 'ईश्वर का नगर' (City of God) है। सांसारिक नगर से इस दिव्य नगर का संघर्ष होता है, किन्तु अन्त में विजय दिव्य नगर की ही होती है—पाप पर धर्म की विजय निश्चित है।

पंचम अध्याय

मध्ययुग का दर्शन

आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक का दीर्घ काल मध्ययुग कहलाता है। ऑगस्टाइन के बाद से लेकर एरिजेना के पहले तक का समय, अर्थात् ४३० से लेकर ८१० तक का समय, अन्धकारमय युग कहलाता है। एरिजेना मध्ययुग के प्रथम गणनीय दार्शनिक हैं। इनके बाद फिर लगभग दो शताब्दियों तक अन्धकार छाया रहा जिसे सन्त एन्सेल्म ने अपनी ज्ञान-ज्योति से दूर किया। मध्ययुग को शास्त्रीय युग (Scholasticism,) भी कहते हैं। अन्धकारमय युग में प्राचीन विचारधारा को बचाये रखकर उसे मध्ययुग की ओर बहा देने के कार्य में डायोनिसियस (Dionysius) और बोथियस (Boethius) ने पर्याप्त योग दिया।

ऑगस्टाइन की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद ही रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। रोम का अन्तिम सम्राट् गद्दी से उतार दिया गया और "बर्बर" जर्मन विजेताओं का राज्य स्थापित हो गया। रोम के पतन के बाद अराजकता को रोकने के लिये और अनुशासन एवं न्याय की स्थापना के लिये चर्च ही एकमात्र साधन थी। प्राचीन विचारधारा, सभ्यता तथा ईसाई परम्परा का केन्द्र चर्च ही थी। ज्ञान के विकास और प्रसार का कार्य भी मुख्यतया वही करती थी। तर्कशास्त्र के अध्ययन का प्रचार भी उसीने किया। शिक्षा के नियम भी उसने बनाये और शिक्षासंस्थाओं की स्थापना तथा विकास में योग दिया। धर्म-संस्था होने के कारण राज्य भी उसका आदर करता था। "बर्बर" जर्मन विजेताओं ने भी चर्च को नहीं छेड़ा। अराजकता को रोककर अनुशासन स्थापित करना, शिक्षा का प्रचार करना, ज्ञान और धर्म की ज्योति फैलाना, व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा करना और सभ्यता की परम्परा को अक्षुण्ण रखना—ये सब कार्य चर्च के ही थे और उसने इन्हें निभाया भी। शीघ्र ही चर्च जर्मन विजेताओं को जीतने के कार्य में जुट गई और अल्प काल में ही उसने उन पर सांस्कृतिक और धार्मिक विजय प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी चर्च की प्रभुता फैलने लगी। चर्च का केन्द्र रोम में था, किन्तु शाखायें लगभग सारे यूरोप में फैल रही थीं। चर्च का संगठन उत्तम था और पोप का अनुशासन निर्विवाद स्वीकार किया जाता था। धीरे-धीरे चर्च ने सारे यूरोप को अपनी छत्रछाया में ले लिया और राजनीति के क्षेत्र में भी प्राचीन रोमन

साम्राज्य का स्थान ग्रहण कर लिया। पोप सम्राटों के भी सम्राट् हो गये और राजाओं तथा सामन्तों पर एकच्छत्र शासन करने लगे। चर्च में रूढ़ियाँ बन गईं जिनका अतिक्रमण दण्डनीय था। न्याय और दण्ड का अन्तिम अधिकार भी चर्च ने ले लिया और उसकी सत्ता सार्वभौम हो गई। सन्त ऑगस्टाइन का 'दिव्य नगर' का स्वप्न मध्ययुग में साकार हुआ।

मध्ययुग में दर्शन को भी धर्म का दास बनना पड़ा। चर्च की मान्यताओं के आगे दर्शन को भी नतमस्तक होना पड़ा। मध्ययुग के दार्शनिक प्रायः केथोलिक पादरी ही थे और उनका मुख्य उद्देश्य धार्मिक सिद्धान्तों को तर्क द्वारा पुष्ट करना था। धार्मिक विश्वास या श्रद्धा मुख्य थी, तर्क गौण था। तत्व की प्राप्ति तर्क द्वारा नहीं हो सकती। सत्य दिव्य धार्मिक अनुभूति द्वारा प्रकट होता है (Divine Revelation)। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के रूप में ईश्वर ने इसे प्रकट कर दिया है। अतः सत्य ज्ञान के लिये ईसाई धर्म की श्रुति 'बाइबल' में श्रद्धा अनिवार्य है। तर्क इसकी पुष्टि करने के लिये है, विरोध करने के लिये नहीं। दर्शन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा। स्वतन्त्र विचारों का गला घोटने के लिये चर्च का सुदृढ़ पंजा सदा जागरूक था। मध्ययुग के दार्शनिक विचार उन परकटे कबूतरों के समान थे जिनके ज्ञान-पंख धर्म ने काट दिये थे और चर्च की चारदीवारी में छोड़ रक्खा था; वे चर्च के भीतर फड़फड़ा सकते थे, किन्तु उन्मुक्त आकाश में उड़ना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। प्रत्येक दार्शनिक को अपने विचारों को चर्च के साँचे में बैठाना पड़ता था। ग्रीक भाषा के जानकार बहुत कम रह गये थे। प्रायः लेटिन अनुवाद ही पढ़े जाते थे। ग्रीक दर्शन के वे ही विचार जीवित रह गये थे जो पादरियों के दर्शन में छनकर आ गये थे। चर्च के अन्धविश्वासों से ज़रा भी इधर उधर होना दण्डनीय अपराध था। एक पादरी को जो व्याकरण पढ़ाने लग गये थे, पोप ने तुरन्त पत्र लिखा––"एक सूचना हमें मिली है जिसको कहते हुये भी हमें लज्जा आती है, कि तुम अपने मित्रों को व्याकरण समझाते हो। इससे हमें बड़ा क्षोभ और बड़ी ग्लानि हुई है तथा तुम्हारे विषय में जो हमारी पहले राय थी वह अब सिर धुन रही है। तुम्हारा वह मुख अब ईश्वर और ईसा मसीह का गुणगान नहीं करता।"

स्पष्ट है कि मध्ययुग का दर्शन ईसाई धर्म का दर्शन है। धार्मिक अन्धविश्वासों का विवेचन इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर है। हम मुख्य रूप से दार्शनिक विचारों की ही चर्चा करेंगे।

जॉन स्कॉटस एरिजेना (John Scotus Erigena) (८१०-८८०):––एरिजेना मध्ययुग के प्रथम गणनीय दार्शनिक हैं। वे आयरलैंड के निवासी थे और बड़े प्रतिभाशाली थे। लेटिन के अतिरिक्त वे ग्रीक भाषा भी जानते थे। उन पर प्लेटो और प्लोटाइनस का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उन्होंने प्लोटाइनस के विचारों

का ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य करने का प्रयास किया है। प्लोटाइनस के ज्वलन्त अद्वैतवाद पर उन्होंने ईसाई धर्म के द्वैतवाद का पतला-सा आवरण डाला है।

प्लोटाइनस का अद्वय परमतत्व, ईश्वर, विश्वात्मा, जीवात्मा और जड-जगत् के रूपों में अभिव्यक्त होता है। इस अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को एरिजेना ने स्वीकार किया। भेद इतना ही है कि प्लोटाइनस के अनुसार अभिव्यक्ति विवर्त-मात्र है, किन्तु एरिजेना के अनुसार वह परिणाम-रूप है। एरिजेना का मत इस प्रकार है: ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों हैं—मुक्त जीवों के लिये निर्गुण और बद्ध जीवों के लिये सगुण। ईश्वर (God) वस्तुतः निर्गुण और अनिर्वचनीय हैं। मानवी बुद्धि उनका पूर्ण ग्रहण नहीं कर सकती। वे पर हैं। वे न स्रष्टा हैं न सृष्ट (Neither Creator nor Created)। किन्तु उनके इस रूपका अनुभव मुक्त जीवों को ही होता है, हमें नहीं। हमारे लिये तो वे परमकारुणिक परम-पिता (Father) हैं। वे अशेषकल्याणगुणसम्पन्न हैं। वे स्वयम्भू और स्रष्टा (Uncreated Creator) हैं। किन्तु पिता के साथ पुत्र की सत्ता आवश्यक है। पुत्र के कारण ही 'पिता,' यह नाम सार्थक होता है। यह 'पुत्र' (Son) नित्य-ज्ञानस्वरूप (Eternal Logos) है और पिता के भीतर स्थित है। जब पिता अपने पुत्र को बाहर उत्पन्न कर देते हैं तब सृष्टि का कार्य प्रारंभ हो जाता है। यह उत्पन्न पुत्र ही शुद्ध आत्मा है। यह विश्वात्मा (World-Soul) है और अन्य जीवात्मायें तथा जड जगत् इसी के द्वारा उत्पन्न होता है। यह पुत्र पिता द्वारा सृष्ट है और स्वयं चित् एवं अचित् जगत् का स्रष्टा है। अतः यह सृष्ट और स्रष्टा (Both Created and Creator) दोनों है। जीवात्माओं और जड पदार्थों का यह जगत् केवल सृष्ट (Created Only) है। विश्वात्मा का इस दिक्कालात्मक जगत् में प्राकट्य ईसा मसीह (Christ) के रूप में होता है। वे जीवात्माओं को परमपिता से मिलाने के लिये अवतरित होते हैं। चर्च उनका शरीर है। अतः चर्च मानव को ईश्वर से मिलाने की शृङ्खला है। ईश्वर ही सब कुछ हैं और सबमें उन्हीं की सत्ता है। केथोलिक मत की त्रयी या त्रिपुटी (Trinity) का, जिसके पिता (Father), पुत्र (Son) और जीव (Holy Ghost) ये तीन अंग हैं, पूर्वोक्त वर्णन एरिजेना ने प्लोटाइनस से प्रभावित होकर किया है।

एरिजेना में ग्रीक दर्शन की सामान्य (Universal) और व्यक्ति (Particular) की समस्या पुनः प्रकट हुई। असली ज्वलन्त सत्ता विज्ञानस्वरूप सामान्य की है और व्यक्तियों का यह जडचेतनरूप विश्व इस ज्वलन्त सत्ता का क्षीण प्रकाश है। एरिजेना ने, प्लेटो और प्लोटाइनस का अनुसरण करके, सामान्यों की वास्तविक सत्ता स्वीकार की। अतः उनका मत 'सामान्यवाद' या 'अति-वस्तुवाद' (Transcendental Realism) कहलाता है। इसके विपरीत अन्य लोगों ने

सामान्यों की वास्तविक सत्ता स्वीकार न करके उनको केवल बुद्धि की कल्पना माना। वे 'नाम मात्र' है, वास्तविक पदार्थ नहीं। अतः इस मत का नाम 'व्यक्तिवाद' या 'नामवाद' (Nominalism) पड़ा। आगे चलकर कुछ विद्वानों ने इन दोनों का समन्वय एरिस्टॉटल से प्रभावित होकर किया। सामान्य वस्तु-सत् तो हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति व्यक्तियों में ही होती है। व्यक्तियों से भिन्न सामान्यों की सत्ता नहीं। यह मत 'सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद' या 'अन्तर्वस्तुवाद' (Immanent Realism) कहलाता है।

एरिजेना के बाद लगभग दो शताब्दियों तक फिर अन्धकार छाया रहा जिसको दूर करने का श्रेय सन्त एन्सेलम को है।

सन्त एन्सेलम (Saint Anselm) (१०३५–११०९) :—केन्टरबरी के बड़े पादरी (Archbishop of Canterbury) सन्त एन्सेलम बहुत प्रतिभावान् और चरित्रवान् व्यक्ति थे। धार्मिक मान्यताओं में उनका कट्टर विश्वास था। श्रद्धा ही ज्ञान की जननी है। हम ज्ञान इसलिये नहीं प्राप्त करते कि उसको पाकर फिर श्रद्धालु बनें; ज्ञानी बनने के लिये पहले श्रद्धालु बनना आवश्यक है। जिस अन्धे व्यक्ति ने कभी प्रकाश नहीं देखा हो, उसे प्रकाश का ज्ञान कैसे हो सकता है? श्रद्धालु बनकर धार्मिक मान्यताओं पर विचार करना चाहिये। यदि उनका अर्थ समझ में आ जाय तो ईश्वर की कृपा समझनी चाहिये; यदि नहीं समझ में आये, तो ईश्वर की इच्छा समझकर सन्तोष करना चाहिये। मानवी बुद्धि की समझ में न आने से ही श्रुति के दिव्य ज्ञान की अवहेलना करना उचित नहीं।

एरिजेना के समान एन्सेलम भी सामान्यवादी हैं। उन्होंने नामवादी रोसेलिनस (Roscellinus) का प्रबल खण्डन किया है। सामान्यों या विज्ञानों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है (Transcendental Realism) और चिदचिद्रूप विश्व की सत्ता इसीलिये है कि यह विश्व इन विज्ञानों की अभिव्यक्ति है। ये सामान्य या विज्ञान, जीवों और जड पदार्थों की सृष्टि से पूर्व परमपिता के दिव्य विज्ञान रूप में रहते हैं। हमारे विज्ञान ईश्वर के 'उच्चरित शब्द' (Spoken Word) हैं; दिव्य विज्ञान ईश्वर के 'अनुच्चरित शब्द' (Unspoken Word) हैं। उच्चारण के पूर्व भी जैसे शब्द की सत्ता वक्ता में अन्तर्निहित होती है, वैसे ही सृष्टि के पूर्व भी ये दिव्य विज्ञान ईश्वर में अन्तर्निहित हैं। ये दिव्य विज्ञान 'पुत्र' हैं, जो 'पिता' में विद्यमान है। यह नित्य विज्ञानस्वरूप 'पुत्र' ही सृष्टि का कारण और हमारे विज्ञानों का मूल रूप (Archetype) है। इस प्रकार पिता, पुत्र और जीव की त्रिपुटी में एक ही ईश्वर का अस्तित्व और ज्ञान विद्यमान है। पिता, पुत्र और जीव, अपने स्वरूप का भेद (Individuality) रखते हुये भी, ईश्वरीय सत्ता और ज्ञान के उपभोक्ता हैं।

सामान्यवाद, व्यक्तिवाद और सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद की ग्रीक समस्या, जिसको एरिजेना ने ईसाई धर्म में ला पटका, मध्ययुग की दार्शनिक विचारधारा का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गई। इसका महत्व दो कारणों से बढ़ गया। एक तो, ईसाई धर्म की पुनीत त्रिपुटी का अर्थ समझाने के लिये इसका प्रयोग किया जाने लगा और दूसरे, चर्च की प्रभुता की सिद्धि पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा। इन दोनों कारणों को समझ लेना चाहिये। ईसाई धर्म के अनुसार, पिता, पुत्र और जीवात्मा की त्रिपुटी में एक ही ईश्वर की दिव्य सत्ता और दिव्य ज्ञान है। तीनों अपना अलग व्यक्तित्व रखते हुये भी, एक ही ज्योति से आलोकित हैं। सामान्य नित्य हैं और पुत्र के रूप में पिता में विद्यमान हैं। पिता पुत्र की सहायता से ही सृष्टि करता है। हमारे सामान्य इन दिव्य और नित्य सामान्यों के प्रतिरूप हैं। अतः सामान्यों को नित्य और वास्तविक मानना चर्च के लिये आवश्यक हो गया। पुनश्च, त्रिपुटी के तीनों अंगों में ईश्वरत्व रूपी सामान्य विद्यमान है। यदि सामान्य बुद्धि की कल्पनामात्र हो, तो ईश्वरत्व भी कल्पनामात्र हो जायगा और तब, या तो त्रिपुटी के तीनों अंगों में से कोई भी ईश्वर नहीं हो सकेगा या तीनों भिन्न-भिन्न तीन ईश्वर बन जावेंगे। अतः चर्च के लिये सामान्यवाद का समर्थन और व्यक्तिवाद का विरोध करना अनिवार्य हो गया। इसका दूसरा कारण यह था—रोम में पोप की केन्द्रीय चर्च अन्यत्र सब स्थानों में फैली हुई चर्च की शाखाओं का नियन्त्रण करती थी। अन्य चर्च-समुदाय व्यक्ति-समुदाय था और उन व्यक्ति-रूप विभिन्न चर्चों में पोप की केन्द्रीय चर्च, सामान्य के समान, अनुस्यूत थी। यदि सामान्य को बुद्धि की कोरी कल्पना माना जाय, तो केन्द्रीय चर्च की अन्य चर्चों पर सत्ता भी काल्पनिक हो जायगी। इस कारण से भी चर्च को सामान्यवाद का समर्थन और नामवाद का खण्डन करना आवश्यक हो गया। किन्तु इस सामान्यवाद की एक और ध्वनि निकलती थी जो चर्च को मान्य नहीं हो सकती थी। एरिजेना पर प्लेटो और प्लोटाइनस का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। एन्सेल्म पर भी कुछ पड़ा है। इस प्रभाव के कारण सामान्यवाद का झुकाव विवर्तवाद की ओर प्रतीत होता है। सामान्य ही वास्तविक सत्य बन जाता है और व्यक्तियाँ उस सामान्य का आभास मात्र सिद्ध होती हैं। चर्च का द्वैतवाद इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। अतः कालान्तर म प्लेटो के स्थान पर एरिस्टॉटल की शरण लेकर इस सामान्यवाद को सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद का रूप दिया गया।

सन्त एन्सेल्म ने, धार्मिक मान्यताओं में कट्टर विश्वास होने के कारण, नामवाद का खण्डन करके सामान्यवाद की पुष्टि की। एरिजेना के समान उन्होंने भी सामान्यवाद की सहायता से त्रिपुटी के तीनों अंगों का प्रतिपादन किया।

सन्त एन्सेल्म का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रमाण प्रस्तुत करना था। उनका ईश्वर को सिद्धि के लिये "सत्तामूलक तर्क" (Ontological

Argument), जिसे आगे चलकर आधुनिक युग के संस्थापक देकार्त ने अपनाया, प्रसिद्ध है। एन्सेल्म के सत्ता-मूलक तर्क का आशय यह है: हमारी आत्मा में पूर्ण ईश्वर का विचार उत्पन्न होता है और इस विचारमात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है, क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता न हो तो सत्ता की कमी के कारण वे पूर्ण नहीं हो सकेंगे। अतः ईश्वरविषयक विचारमात्र से उनकी वास्तविक सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस तर्क का खण्डन एन्सेल्म के समकालीन गौनिलो (Gaunilo) ने कर दिया था, जिसे कान्ट ने, देकार्त का खण्डन करते समय, अपनाया। गौनिलो का खण्डन इस प्रकार है: ईश्वर की पूर्णता का **विचार** ईश्वर की सत्ता के **विचार** को ही सिद्ध करता है, ईश्वर की **वास्तविक सत्ता** को नहीं। हमें यह विचार होता है कि ईश्वर पूर्ण है। जो पूर्ण है उसकी सत्ता अवश्य होनी चाहिये, अन्यथा वह अपूर्ण हो जायगा। इस सत्तामूलक तर्क से केवल यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसकी सत्ता भी होनी चाहिये; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्ण ईश्वर की वस्तुतः सत्ता है।

एबेलार्ड (Abelard) (१०७९–११४२) :—सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद का सूत्रपात एबेलार्ड ने किया, जिसको आगे चलकर टॉमस एक्विनस ने विकसित करके स्थिर रूप दिया। वस्तुतः एबेलार्ड का सिद्धान्त सामान्यवाद और व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण है। उनके अनुसार सामान्य की तात्विक सत्ता व्यक्तियों से भिन्न नहीं हो सकती। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि सामान्य केवल काल्पनिक नाम हैं। सामान्य उन साधारण गुणों को कहते हैं जिनकी सत्ता एक जाति के सब व्यक्तियों में समानरूप से हो। ये गुण हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं हैं; ये वास्तविक गुण हैं जो वस्तुओं में वस्तुतः रहते हैं। इनकी प्रतिकृति हमारी बुद्धि में भी रहती है। इन गुणों के मूलरूप ईश्वर के विज्ञान में रहते हैं। अतः एबेलार्ड के अनुसार सामान्यों की सत्ता तीन प्रकार की है—(१) सांसारिक वस्तुओं के यथार्थ गुणों के मूलरूपों में ईश्वर के विज्ञान में इनकी सत्ता है (Ante Res); (२) सांसारिक वस्तुओं में उनके यथार्थ गुणों के रूप में इनकी सत्ता है (In Rebus); और (३) इन गुणों की प्रतिकृति के रूप में हमारी बुद्धि में इनकी सत्ता है (Post Res)। इस मत को Conceptualism कहा जाता है।

दूसरा कार्य जो एबेलार्ड ने किया वह था तर्क का महत्व बतलाना। धर्म के सिद्धान्तों को तर्क से सिद्ध करके मानना चाहिये। अन्ध-विश्वास ठीक नहीं। सन्देह पाप नहीं है; वह सच्चे दर्शन का जनक है। हाँ, सन्देह साधनमात्र है, साध्य नहीं। साध्य तो सत्य है जो सन्देह करने पर ही प्राप्त होता है, अन्ध-विश्वास से नहीं। इन सिद्धान्तों का प्रभाव देकार्त के 'सन्देहवाद' पर पड़ा है। एबेलार्ड में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता थी। वे अन्य धर्मों के विद्वानों,

सन्तों और दार्शनिकों का भी आदर करते थे। ईसाई त्रिपुटी के तीनों अंगों को उन्होंने तीन तत्व न कहकर एक ही तत्व के तीन गुणों के रूप में स्वीकार किया, जिसका पादरियों ने बड़ा विरोध किया। उनकी धार्मिक उदारता से भी वे क्षुब्ध हुये।

कालान्तर में जब लोगों को तर्क का खून मुँह लग गया और धर्म के अन्ध-विश्वास तर्क के प्रहारों के आगे गिरने लगे, तो चर्च ने, उनका सन्तोषजनक समाधान न कर सकने के कारण, राज्य की सहायता से एक धार्मिक न्यायालय (Inquisition) स्थापित किया और ईसाई धर्म के ईश्वर के प्रति विद्रोह राजद्रोह ठहराया गया। इस विद्रोह का दण्ड मृत्युदण्ड था--विरोधियों को जीवित जला देना। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में यह संस्था सुदृढ़ हो गई थी।

यूरोप में उस समय ग्रीक भाषा के जानकार खोजने पर भी नहीं मिलते थे। प्लेटो और एरिस्टॉटल की कृतियों के जो कुछ अंश लेटिन में अनूदित हो चुके थे, उन तक ही ग्रीक दर्शन का ज्ञान सीमित था। किन्तु पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक प्लेटो और एरिस्टॉटल की बहुत-सी कृतियाँ आर्मेनियन और फ़ारसी भाषाओं में अनूदित हो चुकी थीं और आठवीं शताब्दी में बगदाद पहुँचकर अरबी भाषा में भी अनूदित हो चुकी थीं। बगदाद से ये अरबी अनुवाद स्पेन पहुँचे। ग्रीक दर्शन का प्रभाव इस्लाम पर भी काफ़ी पड़ा और कई मुसलमान विद्वानों ने प्लेटो और एरिस्टॉटल के विचारों का कुरान के विचारों से सामंजस्य करने का भी प्रयत्न किया। ईसाइयों और मुसलमानों में जो लम्बे धर्मयुद्ध (Crusades) हुये, उनके कारण दोनों में सम्पर्क होने से एवं बाइज़ेन्टाइन साम्राज्य (Byzantine Empire) से सम्पर्क होने से यूरोप में ग्रीक दर्शन और ग्रीक भाषा का फिर से प्रचार हुआ और अब ग्रीक भाषा के मौलिक ग्रन्थों से ही उनके अनुवाद किये जाने लगे। इस प्रकार प्लेटो और एरिस्टॉटल के शुद्ध विचारों का फिर प्रचार हुआ और ईसाई धर्म ने प्लेटो के बजाय एरि-स्टॉटल को अधिक आदर दिया। सन्त टॉमस एक्विनास पर एरिस्टॉटल का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने जिस दर्शन की प्रतिष्ठा की वह वर्षों तक चर्च का मान्य दर्शन बना रहा।

सन्त टॉमस एक्विनस (Saint Thomas Aquinas) (१२२५-१२७४) :- एक्विनस का जन्म नेपल्स के पास एक उच्च कुल में हुआ था। वे केथोलिक सम्प्रदाय की डोमिनिकन शाखा के पादरी थे। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी और उन्होंने अपना जीवन मुख्यतया अध्ययन और अध्यापन में ही बिताया। उन्होंने एरिस्टॉटल की कृतियों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं और स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की है।

एक्विनस के अनुसार दर्शन और धर्म का विभाग तर्क और श्रुति के विभाग पर निर्भर है। दर्शन का साधन है तर्क और धर्म का श्रुति। तर्क की सीमायें

हैं। वह परमार्थ का ज्ञान नहीं करता। इसके लिये श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। किन्तु फिर भी दोनों का क्षेत्र बहुधा मिल जाता है। दोनों एक दूसरे के सहायक और पूरक हो जाते हैं। ईश्वर ज्ञानस्वरूप हैं, अतः तर्क उनकी ओर संकेत तो करता ही है। श्रुति के सिद्धान्त भी, युक्तियुक्त होने कारण, तर्क द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं। यह सत्य है कि तर्क की गति सीमित होने के कारण प्राधान्य श्रुति का ही है।

सन्त एक्विनस ने ईश्वर की सिद्धि के लिये प्रमाण भी दिये हैं। सन्त एन्सेल्म का 'सत्तामूलक तर्क' उन्हें नहीं जँचा। गौनिलो का मत कि इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती, किन्तु 'सत्ता का विचार' ही सिद्ध होता है, ठीक है। और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारी सविकल्प बुद्धि ईश्वर की पूर्णता का ग्रहण ही नहीं कर सकती। एक्विनस के अनुसार, ईश्वर की सत्ता के लिये सर्वोत्तम प्रमाण एरिस्टॉटल ने दिया है। वह यह कि जगत् की गति और परिणाम के लिये एक स्वयंभू और अपरिणामी चेतन कारण आवश्यक है। ईश्वर 'सिद्ध स्वरूप' (Actualized Form) हैं। वे समस्त जगत् में अन्तर्निहित हैं और जगत् के लक्ष्य हैं। समस्त जगत् उनकी ओर आकर्षित होकर विकसित हो रहा है। वे विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं। विश्व जड है, अतः जडता के अभाव और विशुद्ध चैतन्य के भाव के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त, प्लेटो, प्लोटाइनस और एरिजेना के तर्कों का आश्रय लेकर एक्विनस ने यह भी स्वीकार किया है कि ईश्वर का विज्ञान नित्य सामान्यरूप है जो सृष्टि का कारण और हमारे विज्ञानों का मौलिक रूप है। अतः हमारे विज्ञानों से ईश्वर के दिव्य और नित्य विज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि कार्य कारण की ओर संकेत करता है। अपूर्ण और अनित्य विश्व का अपने पूर्ण और नित्य कारण की ओर संकेत करना अनिवार्य है।

एक्विनस ने एबेलार्ड के सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद को अपनाया। विज्ञानों की असली सत्ता ईश्वर के नित्य विज्ञानों में है। ईश्वर के नित्य विज्ञान, एक ओर तो जड पदार्थों के स्वरूप के रूप में उतरते हैं और दूसरी ओर हमारे विज्ञानों के रूप में। विज्ञानों के ये तीनों रूप, ईश्वर, जीव और जगत् के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। इनके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् में अन्तर्यामी है और अपने स्वरूप में पर है। संसार के समस्त व्यक्ति, चेतन जीव और जडपदार्थ दोनों, इन सामान्य विज्ञानों से विशिष्ट होकर ही सत्तावान् हैं। अतः इस मत को सामान्यविशिष्टव्यक्तिवाद कहते हैं।

एक्विनस के अनुसार आत्मा अमर है। हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य ईश्वर के नित्य विज्ञान और नित्य आनन्द की अनुभूति है। ईश्वर का संकल्प सदा शिव और मंगलमय होता है क्योंकि संकल्प ज्ञान का ही दूसरा रूप है। ज्ञान और

संकल्प दोनों शक्तिरूप हैं। यह शक्ति 'स्व-तन्त्र' होने में है, 'पर-तन्त्र' या 'अ-तन्त्र' होने में नहीं। जसे-जैसे हमारा ज्ञान ईश्वराभिमुख होगा, वैसे-वैसे ही हमारे संकल्प भी मंगलमय होंगे, क्योंकि ईश्वराभिमुख होना ही 'स्व-तन्त्र' होना है।

मीस्टर एखार्ट (Meister Eckhart) (१२६०–१३२७) :––ये रहस्यवादी थे और प्लोटाइनस और एरिजेना के भक्त थे। इन्होंने एरिस्टॉटल और एक्विनस की तीव्र आलोचना की। विश्व ईश्वर को अभिव्यक्ति मात्र है और जीवात्मा का लक्ष्य रहस्यमयी साधना द्वारा ईश्वर में पूर्णतया विलीन हो जाना है।

डन्स स्कॉटस (Duns Scotus) (१२६६ (?)––१३०८):––स्कॉटस का जन्म स्कॉटलैंड में हुआ था। वे ऑक्सफोर्ड म पढ़े थे और कुछ समय तक वहीं अध्यापक भी रहे। वे फ्रेन्सिस्कन शाखा के अनुयायी थे और सन्त एक्विनस के विरोधी थे। स्कॉटस ने तर्क और श्रुति के क्षेत्रों को अलग रखना ही उचित समझा। तर्क अतीन्द्रिय पदार्थों का कभी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर सकता। ईश्वर की सत्ता के लिये जो प्रमाण एक्विनस ने दिये वे निश्चयात्मक नहीं हैं। ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, परमपिता की करुणा आदि सिद्धान्त धर्म के सिद्धान्त हैं और श्रुति के कारण मान्य हैं। फिर भी, स्कॉटस ने स्वयं ईश्वर की सत्ता के लिये प्रमाण दिये। सन्त एन्सेल्म के 'सत्तामूलक तर्क' को उन्होंने मान्य समझा। ईश्वर के विचारमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध होती है। यदि पूर्ण ईश्वर की सत्ता न हो, तो 'पूर्ण ईश्वर का विचार' एक साथ संभव और असंभव दोनों हो जाता है जो असंगत है। अतः ईश्वर की सत्ता-शून्यता असंगत है अर्थात् ईश्वर की सत्ता है।

स्कॉटस के अनुसार एक्विनस का यह कथन कि ईश्वर का स्वरूप नित्य विज्ञानात्मक है और ये नित्य विज्ञान हमारे विज्ञानों और जड पदार्थों के वास्तविक धर्मों के मूलरूप हैं, अनुचित है। ईश्वर का स्वरूप उनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति या संकल्प-शक्ति या कृतिशक्ति (Will or Volition) है। यदि ईश्वर अपने नित्य विज्ञानों के अनुरूप सृष्टि का निर्माण करते हों, तो ये नित्य विज्ञान ईश्वर के आदर्श बन कर उनको परतन्त्र बना देंगे। सामान्यों की सत्ता व्यक्तियों या विशेषों से भिन्न या श्रेष्ठ नहीं है। ईश्वर अपनी संकल्प-शक्ति से व्यक्तियों को उनके सामान्यों के साथ उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक स्वरूप-धर्म सामान्य-रूप और व्यक्तिरूप दोनों है। ईश्वर के विज्ञान में और हमारे विज्ञान में वह सामान्य है और विशेषों में व्यक्तिरूप है। विशेष सामान्य के "संकुचित रूप" (Contraction of Essence) हैं।

ईश्वर के समान, जीव का स्वरूप भी उसकी संकल्प-शक्ति है। हमारी स्वतन्त्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुये भी पाप के पथ पर चल सकता है। यही उसकी स्वतन्त्रता है। हमारा ज्ञान भी

संकल्पों के कारण बनता है। अतः हम अपने ज्ञान के लिये भी उतने ही उत्तर-दायी हैं जितने अपने कर्मों के लिये।

विलियम ओखम (William of Occam) (१२९० (?)—१३४९) :—ओखम अँगरेज थे और ऑक्सफोर्ड के विद्यार्थी तथा अध्यापक रहे थे। ओखम नामवाद और व्यक्तिवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार दर्शन का क्षेत्र तर्क तक ही सीमित है। तर्क की गति अतीन्द्रिय विषयों तक नहीं हैं। अतः ईश्वर, आत्मा, अमरता, नित्य विज्ञान या सामान्य आदि को दर्शन के क्षेत्र से अलग कर देना चाहिये। जहाँ तक इन्द्रियानुभव और तर्क की गति है, वहाँ तक ही दर्शन का क्षेत्र है। ईश्वर, नित्य सामान्य आदि की सत्ता तर्क के प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकती। सामान्यों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। वे हमारी बुद्धि की कल्पना-मात्र हैं। वे केवल नाम हैं, जिनका प्रयोग हम सुविधा के लिये करते हैं। ओखम का यह खण्डन साहित्यिक भाषा में "ओखम का उस्तरा" (Occam's Razor) कहलाता है जिससे उन्होंने सामान्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की जड़ ही काट दी। ओखम से पहले **रोजर बेकन** (Roger Bacon) भी दर्शन को इन्द्रियानुभव और तर्क तक ही सीमित रखने का और वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा दर्शन के विचारों को सिद्ध करने का समर्थन कर चुके थे। आधुनिक युग की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही थी।

———————

द्वितीय खण्ड : आधुनिक युग

षष्ठ अध्याय

देकार्त के पूर्व का दर्शन

भूत, वर्तमान और भविष्यत्––ये तीनों अनन्त काल के मानव-कल्पित विभाग हैं। तीनों पृथक्-पृथक् होते हुये भी परस्परसम्बद्ध हैं। वर्तमान भूत में प्रतिष्ठित है और भविष्यत् को जन्म देता है। नये युग के बीज प्राचीन युग में विद्यमान रहते हैं और उन्हीं में से नया युग पनपता है। कोई भी नया युग अकस्मात् ही नहीं टपक पड़ता; उसके और प्राचीन युग के बीच में एक लम्बा सन्धि-काल रहता है।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रेने देकार्त को पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का प्रवर्तक माना जाता है। आधुनिक युग की सभी विशेषतायें देकार्त के दर्शन में पूर्णतया विकसित हुई हैं। देकार्त का समय १५९६–१६५० है। किन्तु आधुनिक युग की विशेषताओं का सूत्रपात कुसा-निवासी निकोलस (Nicholas of Cusa) के ग्रन्थ 'आइडिओटा' (Idiota) में, जो १४५० में प्रकाश में आया, हो गया था। सन् १४५० से १६४४ तक का समय दर्शन के आधुनिक युग का सन्धि-काल है। इस सन्धिकाल में आधुनिक यग का अरुणोदय हुआ जो देकार्त के दर्शन में सूर्य बनकर चमक उठा।

पाश्चात्य दर्शन का आदि युग––ग्रीक युग––सौन्दर्य और कला का युग है। ग्रीक दार्शनिक सौन्दर्य और कला के उपासक तथा सामंजस्य के प्रेमी थे। उनका लक्ष्य था 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समन्वय की अनुभूति और पद्धति थी संश्लेषणात्मक। मध्ययुग में दर्शन ईसाई धर्म का दास बन गया और एरिस्टॉटल के तर्क को तोड़-मरोड़कर ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करने के काम में लाया गया। मध्ययुग है ईसाई धर्म के केथोलिक सम्प्रदाय के प्रभुत्व का युग; धर्म-संस्था चर्च और उसके धर्मगुरु पोप के सार्वभौम निरंकुश शासन का युग; एरिस्टॉटल के तर्क को काट-छाँटकर धार्मिक मान्यताओं को पुष्ट करने के लिये किये जानेवाले शास्त्रार्थ का युग। इसकी पद्धति है धार्मिक अन्धविश्वास की और उसकी सिद्धि के लिये किये जानेवाले तथाकथित शास्त्रीय निगमनात्मक तर्क की। आधुनिक युग है स्वातन्त्र्य का युग––व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का युग, धार्मिक परम्परा और प्रभुत्व के प्रति विद्रोह का युग, दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त

करने का युग, विचार-स्वातन्त्र्य, भावना-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्य का युग, निष्पक्ष और स्वतन्त्र आलोचना का युग, भौतिक विज्ञान के प्रबल अभ्युदय का युग एवं समाज, संस्कृति और कला के पुनरुत्थान का तथा प्रगतिशील जन-जागरण का युग। इसकी पद्धति है वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक जिसकी प्रतिष्ठा है आगमनात्मक तर्क में। यद्यपि वाणी और वीणा, कला और सौन्दर्य, सुरुचि और समन्वय की उपासक ग्रीक-विचारधारा के आगे चीरफाड़, विश्लेषण और नग्न सत्य की पुजारिन आधुनिक विचारधारा वैसी ही लगती है जैसे भव्य वस्त्रों में सुसज्जित कलावती सुन्दरी के आगे साधारण चिथड़ों में लिपटी हुई छेनी और हथौड़ेवाली मज़दूरिन, तथापि आधुनिक विचारधारा का विरोध और संघर्ष हुआ मध्ययुग की विचारधारा से जो, सुन्दरी और मज़दूरिन दोनों को हेय समझ कर साध्वी या भिक्षुणी बन गई थी और जिसने मज़दूरिन को गिरजाघर की चारदीवारी में बन्द करके उसे अपनी दासी बना रक्खा था। इस मज़दूरिन ने अपनी दासता की बेड़ियाँ काट फेंकने के लिये कलावती सुन्दरी की शरण ली। बच्चों और बूढ़ों में मित्रता होते देर नहीं लगती।

मध्ययुग और आधुनिक युग के सन्धिकाल का इतिहास धार्मिक परम्परा और प्रभुत्व के क्रमिक ह्रास का तथा व्यक्ति और समाज की स्वतन्त्रता एवं भौतिक विज्ञान के क्रमिक अभ्युदय का इतिहास है। यह सांस्कृतिक पुनर्जन्म (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) का इतिहास है। जिन कारणों से यह जन-जागरण हुआ उन पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना असंगत न होगा।

मध्ययुगीन यूरोप में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, तीनों पर पोप का सार्वभौम अधिकार था। जब यह रूढ़िवाद और निरंकुश धर्म-शासन उत्तरोत्तर कठोरतर और हीनतर होने लगा तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, तीनों ने ही अपने आपको इस धार्मिक कुचक्र से मुक्त करने की ठान ली। अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह होने लगा। विचारों की दासता असह्य हो उठी। सांस्कृतिक पुनर्जन्म का यह पहला कारण था।

मध्ययुग में सत्य का मानदंड था पोप का आदेश। किन्तु इन धर्मगुरुओं ने अपने आदेशों का सिक्का जमाने के लिये उनका तर्क द्वारा समर्थन करना शुरु किया। यह घातक सिद्ध हुआ, क्योंकि एक बार जब तर्क का खून जनता के मुँह लग गया तो बुद्धिवाद—और उसके साथ-साथ स्वातन्त्र्यवाद—का प्रबल अभ्युदय हुआ जिसके आगे धार्मिक आदेश नहीं टिक पाये। यह था दूसरा कारण।

तीसरा कारण था रहस्यवादी साधना का उदय। अनेक रहस्यवादी सन्तों ने यह बताना शुरु किया कि ईश्वरीय प्रेम और निर्विकल्प ज्ञान की साधना द्वारा मनुष्य ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति और प्रभु का साक्षात्कार कर सकता है। इसके लिये धर्मध्वज पोप के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं है। इसका परिणाम

हुआ चर्च की ठेकेदारी और पोप की दलाली का अन्त। इसी रहस्यवाद में से व्यक्तिवाद की तीव्र लहर उठी जो आधुनिक युग की विशेषता है।

चौथा कारण था भौतिक विज्ञान का प्रबल विकास और उसके कई महत्व-पूर्ण अन्वेषण। ईसाई धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टि का केन्द्र है पृथ्वी और पृथ्वी-निवासी मानव का सृष्टि में सर्वाधिक महत्व है। सृष्टि-कर्ता ईश्वर स्वर्ग में स्थित है और वहीं से सृष्टि-साम्राज्य का संचालन करता है। शैतान के उकसाने पर आदि-मानव 'आदम' ने निषिद्ध फल खा लिया और तभी से संसार में दुःख और पाप का साम्राज्य फैला। ईसाई मत को मानने से और धर्मगुरु पोप के आदेशों पर चलने से मनुष्य इस दुःखमय और पापमय संसार से छुटकारा पाकर परमपिता के स्वर्ग में जाकर ईश्वरीय आनन्द का उपभोग कर सकता है। ईसाई धर्म की इन मान्यताओं को भौतिक विज्ञान के विकास से गहरा धक्का लगा। रोजर बेकन (१२१४-९४) और लियोनार्दो द विन्सी (१४५२-१५१९) ने इन मान्यताओं की जड़ें हिला तो दी थीं, किन्तु इन्हें उखाड़ देने का श्रेय है प्रसिद्ध वैज्ञानिक कॉपरनिकस (१४७४-१५४३) को। कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि पृथ्वी न तो सृष्टि का केन्द्र है और न सूर्य पृथ्वी की ओर घूमता है; अपितु, सृष्टि का केन्द्र है सूर्य और यह पृथ्वी ही, जो गोल है, सूर्य के चारों ओर घूमती है। गेलिलियो (१५६४-१६४२) और केपलर (१५७१-१६३०) के गणित और ज्यौतिष के अनुसन्धानों से कॉपरनिकस के मत की पुष्टि हुई। पृथ्वी इस विशाल सृष्टि का एक लघु खण्ड मात्र है और मानव एक साधारण प्राणी। ईश्वर और उसके स्वर्ग की कल्पना धार्मिक कल्पना मात्र है। पारलौकिक सुख की कल्पना के कारण इहलौकिक सुख को दुःख और पापमय समझ कर छोड़ देना युक्तिसंगत नहीं। मानव जीवन जीने के लिये है, मरने के लिये नहीं। इस जीवन को सुखमय बनाने के साधनों की खोज करना भौतिक विज्ञान का लक्ष्य है। मानव जीवन को समझना ही सत्य के स्वरूप को समझना है और इसका एकमात्र साधन है इन्द्रियानुभूति, न कि कोरी धार्मिक बौद्धिक कल्पनायें। इन सैद्धान्तिक अनुसन्धानों के साथ-साथ ही विज्ञान ने जिन वस्तुओं का अन्वेषण किया उनके उपयोग ने भी मानवबुद्धि के क्षेत्र को व्यापक बनाया, व्यक्तिवाद को बल दिया, स्वतन्त्रता की पुष्टि की और धार्मिक अन्धविश्वासों को उखाड़ फेंका। बारूद की खोज ने युद्धकला में भारी परिवर्तन ला दिया। छापे की मशीन ने ज्ञान के प्रकाश को चर्च की चारदीवारी से निकालकर चारों ओर फैलाया। दूरबीन के आविष्कार से गणित-ज्यौतिष और सौर-मण्डल के ज्ञान में क्रान्ति हुई। कुतुबनुमा के आविष्कार से नये-नये देशों को खोजने में सहायता मिली। अब मानव धर्म के संकुचित क्षेत्र से निकलकर भौतिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र में आ उतरा; पारलौकिक सुख की कल्पना छोड़कर इस लोक में ही सुख स्थापित करने के लिये उसने कमर कसी।

सांस्कृतिक पुनर्जन्म का पाँचवाँ कारण है वे ऐतिहासिक घटनायें जिनसे इस जन-जागरण को बल मिला। सर्वप्रथम इस जागृति का उदय इटली में हुआ और वहीं से इसका प्रकाश यूरोप के अन्य देशों में फैला। धार्मिक बन्धनों के विरुद्ध व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में आन्दोलन हुआ। व्यक्तिवाद और स्वातन्त्र्य की लहर दौड़ी। प्राचीन ग्रीक विचारधारा का पुनरुत्थान हुआ। ग्रीक कला के प्रतीकों का और ग्रीक साहित्य के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का प्रबल अन्वेषण होने लगा। लोग धार्मिक आदेशों की अपेक्षा ग्रीक कला-कृतियों को, फूलदान या मूर्ति को, और ग्रीक साहित्य के ग्रन्थों को अधिक आदर देने लगे। प्लेटो, एरिस्टॉटल और अन्य ग्रीक दार्शनिकों एवं साहित्यिकों की कृतियों का अध्ययन होने लगा। उनके लेटिन भाषा में अनुवाद होने लगे। प्लेटो और एरिस्टॉटल के अध्ययन के लिये अलग-अलग विशेष संस्थायें स्थापित हुईं। कई राजाओं ने, सामन्तों ने और कुछ धर्मगुरुओं ने भी, जो अपने चरित्र-पतन के लिये प्रसिद्ध हैं, इस साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान में पूर्ण सहयोग दिया। इसी समय सन् १४५३ में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना हुई—वह थी पूर्वीय यूरोपीय साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों का अधिकार हो जाना। इस घटना के कारण कई ग्रीक विद्वान् कुस्तुनतुनियाँ से भाग कर शेष योरप में, और विशेषतः इटली में, फैल गये और वहाँ पर अपने पाण्डित्य का प्रकाश फैलाने लगे। दूसरी ऐतिहासिक घटना हुई सन् १४९२ में कोलम्बस द्वारा हिन्दुस्तान के धोखे में अमरीका की खोज। और तीसरी घटना हुई सन् १४९८ में वास्को द गामा द्वारा यूरोप से हिन्दुस्तान आने के समुद्रपथ की खोज। इनके कारण यूरोप के व्यापार और उपनिवेशवाद का प्रबल उत्थान हुआ और साथ ही व्यापारी जहाज़ों में लद कर पूर्व के माल के साथ-साथ विचार भी यूरोप में जाने लगे। इटली में यह जागरण साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक हुआ, किन्तु जर्मनी में इसने धर्म-सुधार का रूप लिया। सन् १५१७ में जर्मनी में मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) के धर्मसुधार आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ और १५२१ में वह काफ़ी ज़ोर पकड़ गया। पोप के केथोलिक सम्प्रदाय के विरुद्ध ईसाई मत के ही प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का उदय हुआ और फिर यह जर्मनी के बाहर अन्य यूरोपीय देशों में भी फैल गया। व्यक्तियों ने अपने आप को पोप के धार्मिक आदेशों के बन्धनों से तथा देशों ने स्वयं को चर्च की प्रभु-सत्ता से मुक्त कर लिया। चर्च ने इस आन्दोलन को दबाने की भरसक चेष्टा की। विरोधियों को कारावास में डाला गया, विविध यन्त्रणायें दी गईं, जीवित जलाया गया, किन्तु फिर भी यह धर्मसुधार-आन्दोलन पनपता ही गया और अन्त में इसने पोप की प्रभु-सत्ता को समाप्त करके ही दम लिया।

अब कुसा के निकोलस से लेकर देकार्त के पहले तक के दार्शनिक सन्धि-काल के मुख्य-मुख्य विचारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

कुसा-निवासी निकोलस (१४०१-१४६४) :--निकोलस (Nicholas of Cusa) का दर्शन मध्ययुग और आधुनिक युग के विचारों की सन्धि है । मध्ययुग के धार्मिक और शास्त्रीय विचारों में सुधार करके उनको अपनाना निकोलस को अभीष्ट था । वे स्वयं पादरी थे । पोप और चर्च की प्रभुता उन्हें मान्य थी; किन्तु वे निरंकुश सत्ता के उपासक नहीं थे । उनके मत म राजा की सत्ता प्रजा की और पोप की सत्ता धर्म की देन है । अतः निरंकुशता को रोकने के लिये राजा की सत्ता प्रजा के प्रतिनिधियों की समिति द्वारा और पोप की सत्ता धार्मिक पादरियों को समिति द्वारा नियन्त्रित रहनी चाहिये । आधुनिक युग की सभी विशेषतायें--ग्रीक दर्शन का प्रेम, गणित और भौतिक विज्ञान का अनुराग, व्यक्ति की महत्ता और स्वतन्त्रता, सुन्दर भविष्य की आशा, बुद्धिवाद को प्रधानता, निरंकुशता का विरोध, आलोचनात्मक प्रणाली आदि उनमें विद्यमान हैं; किन्तु इन विशेषताओं को उनकी धार्मिक श्रद्धा और रहस्यवाद के प्रेम ने नियन्त्रित रक्खा है, उच्छृंखल नहीं बनने दिया । निकोलस निःसन्देह एक महान् दार्शनिक थे । उनके विचारों का प्रभाव ब्रूनो, स्पिनोज़ा, लाइबनित्ज़, शेलिंग और हेगल के विचारों में स्पष्ट प्रतीत होता है । उनकी दार्शनिक महत्ता अभी तक पूर्ण रूप में स्वीकृत नहीं हो पायी है । कारण यह है कि अपनी धर्म-भीरुता के कारण वे अपने उन विचारों को जो ईसाई धर्म के प्रतिकूल पड़ते थे, पूर्ण विकसित नहीं कर सके और इसके लिये यूरोप को लगभग १२५ वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी जब ब्रूनो ने साहसपूर्वक उनका उद्घोष किया और अपने विचारों को छोड़ देने की अपेक्षा धर्म के ठेकेदारों के हाथों कारावास की यन्त्रणा सह कर और आग में जीवित जलाया जाकर अपने नश्वर शरीर को छोड़ कर देना अधिक पसन्द किया । अपने प्राणों का हँसते-हँसते बलिदान करने वाले प्रातःस्मरणीय महान् ब्रूनो की ख्याति से निकोलस की ख्याति ढक गई है ।

निकोलस के दर्शन में विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का विलक्षण समन्वय है । वे इन दोनों को विरुद्ध न मानकर विशिष्टाद्वैत को अद्वैत का पूर्वरूप ही मानते थे । मानवी बुद्धि के लिये विशिष्टाद्वैत सर्वोच्च सिद्धान्त है, क्योंकि बुद्धि तत्व के पूर्ण रहस्य को नहीं समझ सकती; किन्तु तत्व का वास्तविक स्वरूप अनिर्वच-नीय अद्वैत ही है, जहाँ वाणी और बुद्धि की गति नहीं रहती । निकोलस के ये और कुछ अन्य सिद्धान्त (जैसे, पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र नहीं है; पृथ्वी घूमती है आदि) स्पष्ट ही ईसाइयों के द्वैतवाद के प्रतिकूल हैं । फिर भी ईसाई पादरी और श्रद्धालु जन निकोलस को सम्मान की दृष्टि से ही देखते रहे क्योंकि निको-लस स्वयं धर्मात्मा, ईसा के कट्टर भक्त और श्रद्धालु पादरी थे, पोप और चर्च के उपासक थे; और यद्यपि कई पादरी उनके इन सिद्धान्तों से असन्तुष्ट थे, तथापि उनके अद्वैतवाद को भुलाकर और विशिष्टाद्वैत को तोड़-मरोड़कर

द्वैतवाद के रूप में गले के नीचे कुछ कड़ुवी घूँट के समान उतार देना धर्म-भक्तों के लिये विशेष कठिन न था।

निकोलस ने ज्ञान के चार स्तर बताये हैं—प्रथम, इन्द्रिय-संवेदन (Imaginatio) जिसमें बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान आता है; द्वितीय, सविकल्प तर्क या विश्लेषणात्मक बुद्धि (Ratio); तृतीय, संश्लेषणात्मक प्रज्ञा (Intellectus) और चतुर्थ, निर्विकल्प ज्ञान या अपरोक्षानुभूति (Intuitio)। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का संवेदन होता है। यह विधानात्मक है, निषेधात्मक नहीं।[1] इसमें ज्ञान धुँधला और क्षीण होता है। इन अस्त-व्यस्त संवेदनों में एकता नहीं होती, अनेकता ही होती हैं। यह द्वैत का स्तर है। इसके ऊपर का स्तर सविकल्प तर्क या अनुमान का स्तर है। इसमें विधि और निषेध दोनों का प्रयोग होता है। तर्क के विकल्पों में एकता और अनेकता दोनों का आभास मिलता है, किन्तु अलग-अलग। द्वैत और अद्वैत की पृथक-पृथक् कल्पना उपलब्ध होती है। दोनों में विरोध प्रतीत होता है, सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता। तर्क का काम विश्लेषण और विभाग करना है। यह स्तर द्वैताद्वैत का है। इसके ऊपर उठने पर संश्लेषणात्मक प्रज्ञा का स्तर आता है जो अनेकत्व में आधारभूत एकत्व को जान लेती है। यह स्तर विशिष्टाद्वैत का है। इसमें अद्वैत द्वैत से विशिष्ट रहता है। प्रधानता अद्वैत की ही है, किन्तु बिना द्वैत के अद्वैत नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बिना अद्वैत के आधार के द्वैत नहीं टिक सकता। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी बनी रहती है। विशेषणरूप और गौण द्वैत में अनुस्यूत आधारभूत तात्विक अद्वैत का साक्षात् करना मानवी सविकल्प बुद्धि की पराकाष्ठा है। किन्तु इसके द्वारा भी वस्तुतः परमार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि परमार्थ बुद्धि के किसी भी विकल्प द्वारा, भले ही वह विशिष्टाद्वैतरूपी सर्वोच्च विकल्प ही क्यों न हो, ग्राह्य नहीं है। अतः तत्व का साक्षात्कार निर्विकल्प ज्ञान या अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है, जहाँ वाणी और बुद्धि का प्रपंच, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी, नहीं रहती। यह स्तर अद्वैत का है। बुद्धि तत्व की ओर संकेत मात्र कर सकती है, उसका ग्रहण नहीं। सविकल्प बुद्धि का अपनी सीमा को जान लेना बड़ी भारी बात है। तत्व की अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता का ज्ञान मानवी बुद्धि की चरम सीमा है। यह अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता तत्व का निषेध नहीं करती। यह तो तत्व की बुद्धिगम्यता और निर्वचनीयता का ही निषेध करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि तत्व का निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही साक्षात्कार हो सकता है, सविकल्प बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। तत्व के विषय में सविकल्प बुद्धि के इस अज्ञान को निकोलस ने बड़ा सुन्दर नाम दिया है—

---

१. आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।

'ज्ञानोत्पन्न अज्ञान' (Docta Ignorantia)। यह अज्ञान, जो बुद्धि की चरम सीमा है, विद्वानों को ही सौभाग्य से प्राप्त होता है। यह मूर्खों का अज्ञान नहीं, विद्वानों का अज्ञान है। यह 'अज्ञान' तत्व की अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता का ज्ञान है; यह 'नेति-नेति' का ज्ञान है; यह 'तत्व निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही साक्षात्कार्य है' इस सत्य का ज्ञान है। इन चारों स्तरों में आत्यन्तिक पार्थक्य नहीं है। नीचे का स्तर ऊपर उठने का प्रयत्न करता है और ऊपर का स्तर नीचे के स्तर को अनुप्राणित करता है।

निकोलस के इन विचारों का और ज्ञान के इन विविध स्तरों का स्पिनोज़ा पर भारी प्रभाव पड़ा है और स्पिनोज़ा ने अपने दर्शन में इन सिद्धान्तों को अपनाया है।

यह तो स्पष्ट हो ही गया कि निकोलस के अनुसार सत्य के विभिन्न स्तर हैं और तत्व का साक्षात्कार सविकल्प बुद्धि द्वारा न होकर अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि के विकल्प न तो सर्वथा सत् हैं और न सर्वथा असत्। सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार इस सदसद्-विलक्षण बुद्धि का कार्य है। व्यवहार में इसकी सत्यता अनिवार्य है। किन्तु इस व्यवहार को ही परमार्थ समझ लेना अज्ञान है। यह मानव की सबसे बड़ी भूल है[1]।

बुद्धि के लिए ईश्वर या परमार्थ विशिष्टाद्वैत तत्व (Coincidentia Oppositorum) है। वह इस सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च में अन्तर्यामी अद्वैत है। भेद में अनुस्यूत अभेद है[2]। यहाँ द्वैत और अद्वैत में विरोध नहीं रहता। उनमें अङ्गाङ्गी-भाव स्थापित हो जाता है। द्वैत-प्रपञ्च, अद्वैत से अनुप्राणित होकर और उसका अंग या विशेषण बनकर, एक विलक्षण समन्वय बन जाता है। जड जगत् और चेतन जीव, दोनों ही, ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर उन दोनों की आत्मा हैं; उन दोनों में अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि जो कुछ है वह सब ईश्वर के आधार पर टिका हुआ है। सब कुछ ईश्वर के अन्तर्गत है, उनके बाहर नहीं है। अद्वैत ईश्वर की आत्मा है (Omnia Complicans); द्वैत ईश्वर का शरीर है (Omnia Explicans)। ईश्वर की महिमा और शक्ति अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। ईश्वर में 'सत्' (Existence) और 'चित्' (Essence) का तादात्म्य है। ईश्वर इस सृष्टि के केन्द्र और परिधि दोनों हैं। वे बड़े से बड़े (Maximum) और छोटे-से-छोटे (Minimum) हैं। वे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् हैं[3]। ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी हैं और सृष्टि ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर एक होते

---

१. बौद्ध और वेदान्त दर्शन की सदसदनिर्वचनीया माया या अविद्या।

२. रामानुज दर्शन।

३. अणोरणीयान् महतो महीयान्।

हुए भी अपनी अभिन्न और अचिन्त्य शक्ति (Posse Ipsum) के कारण अनेकवत् प्रतीत होते हैं[१]। जैसे एक मुख का प्रतिबिम्ब यदि अनेक शीशों में पड़े, तो अनेक मुख दिखाई देने लगते हैं, किन्तु वस्तुतः मुख तो एक ही है, भेद केवल प्रतिबिम्बों में है, उसी प्रकार ईश्वर भी, अपनी अचिन्त्य शक्ति के कारण, जड और चेतन जगत् के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होते हैं[२]। जड है 'नश्वर ईश्वर' (Deus Creatus) और चेतन है 'मानव ईश्वर' (Deus Humanus)। व्यष्टि समष्टि का ही छोटा रूप है। अणु विराट् का ही प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्ण विश्व को और ईश्वर को अपने आप में प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु विभिन्न मात्राओं में। जड, प्राण, संवेदन, बुद्धि—इन चारों में विविध अंशों में ईश्वर का प्रतिबिम्ब झलकता है। (उपनिषद् की भाषा में इनको अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश कह सकते हैं।) प्रत्येक में ईश्वरीय चित्-शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। अनन्त आनन्द के अनुभव के लिए ईश्वर का साक्षात्कार आवश्यक है। ईश्वर केवल 'अन्तर्यामी' (Immanent) ही नहीं, अपितु 'पर' (Transcendent) भी हैं। वे अनन्त, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य हैं। वाणी और बुद्धि की पहुँच उन तक नहीं। उनका सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति नेति' (Via Negativa) है।

स्पष्ट है कि इन विचारों का प्रभाव ब्रूनो, स्पिनोज़ा, लाइबनित्ज़, शेलिंग और हेगल पर अलग-अलग रूप में पड़ा है और अपने-अपने अंशों में वे सब निकोलस के ऋणी हैं।

निकोलस के पश्चात् अब ब्रूनो के विचारों पर दृष्टिपात करना उचित है। बीच में, मार्सिलियस फ़िसिनस (१४३३–१४९९) ने प्लेटो और प्लोटाइनस के ग्रन्थों का लेटिन में अनुवाद किया और इनके विचारों का प्रतिपादन किया; पिको देला मिरान्दोला (१४६३–१४९४) ने पाइथेगोरस, प्लेटो, प्लोटाइनस और यहूदी दार्शनिकों की विचारधाराओं को ईसाई विचारधारा में मिलाकर एक विचित्र रहस्यवाद की पुष्टि की; पोम्पोनाज़ी (१४६२–१५२५) ने एरिस्टॉटल के अध्ययन पर बल दिया और बताया कि एरिस्टॉटल के अनुसार आत्मा की अमरता आदि ईसाई सिद्धान्तों की पुष्टि नहीं होती; और पेरासेल्सस (१४९३–१५४१) ने प्रकृति को ईश्वर का शरीर बतलाकर प्रत्येक वस्तु में ईश्वरीय चैतन्य के न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होने का समर्थन किया और मानव में यह चैतन्य सर्वाधिक मात्रा में होने से मानव के लिए ईश्वरीय ज्योति का साक्षात् करने और योगसिद्धि तथा रासायनिक विद्या द्वारा विश्व-कल्याण करने की प्रशंसा की।

---

१. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।

२. अद्वैत वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद।

गिओर्दानो ब्रूनो (१५४८–१६००) :—ब्रूनो (Giordano Bruno) इटली के नोला नगर में उत्पन्न हुए थे। पहले वे केथोलिक पादरी बने, किन्तु बाद में अपने विचारों के कारण केथोलिक मत से असन्तुष्ट होकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। प्रोटेस्टेन्ट मत भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सका। ईसाई धर्म के दोनों सम्प्रदायों से असन्तोष होने के कारण वे दोनों के ही कोपभाजन बनकर फ्रांस, इंगलैण्ड और जर्मनी में घूमते रहे। इटली लौटने पर धर्मान्ध पादरियों ने उन्हें रोम में सात वर्ष तक बन्दी रक्खा और तब भी अपने विचारों पर दृढ़ रहने के कारण १७ फ़रवरी सन् १६०० के दिन उनको जीवित जला दिया।

ब्रूनो एक महान् दार्शनिक और भावुक कवि थे। पाइथेगोरस, प्लेटो, प्लोटाइनस, निकोलस और कॉपरनिकस के सिद्धान्तों का उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक वे निकोलस के ऋणी हैं। निकोलस के विशिष्टाद्वैत और अद्वैत की विचारधाराओं को उन्होंने और अधिक स्पष्ट करके पुष्ट किया। उनकी अद्वैत विचारधारा स्पिनोज़ा में और विशिष्टाद्वैत विचारधारा लाइबनित्ज़ में विकसित हुई।

ब्रूनो के अनुसार यह सम्पूर्ण चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है। स्वयं ईश्वर ही जड-चेतनमय विश्व के रूप में भासित होते हैं। ईश्वर और विश्व एक ही हैं। इसका अर्थ यह है कि विश्व की ईश्वर से भिन्न अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। विश्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर भी विश्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विश्व ईश्वर को सीमित नहीं कर सकता। ईश्वर विश्व में अन्तर्यामी (Immanent) रहते हुए विश्व के पार भी हैं (Transcendent)। वे अन्तर्यामी और पर दोनों हैं। विश्व उनका शरीर है। वे विश्व की आत्मा हैं। और वे विश्व के पारगामी अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य भी हैं। अनिर्वचनीय और अचिन्त्य ईश्वर का साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही हो सकता है, मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा नहीं। बुद्धि अद्वैत का साक्षात् नहीं कर सकती। उसके लिए सर्वोच्च तत्व विशिष्टाद्वैत ही है। एक ही तत्व, भेद की दृष्टि से विश्व प्रतीत होता है, और अभेद की दृष्टि से ईश्वर। वस्तुतः बुद्धि भेद और अभेद को अलग-अलग नहीं कर सकती। भेद गौण है। वह अभेद का विशेषण मात्र है। बिना अभेद के आधार के वह टिक नहीं सकता। अभेद मुख्य है, किन्तु वह भेद को अनुप्राणित करता रहता है और उसी में अभिव्यक्त होता है। अतः तत्व भेद-विशिष्ट अभेद या द्वैतविशिष्ट अद्वैत है, जिसे संक्षेप में विशिष्टाद्वैत कहते हैं। विश्व ईश्वर का 'स्वभाव' है, स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, क्योंकि विश्व ईश्वर में से अपने आप निकल पड़ा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विश्व निकल कर ईश्वर के बाहर आ गया है; निकलने पर भी वह ईश्वर के अन्दर ही स्थित है, क्योंकि जो कुछ है ईश्वर ही है और ईश्वर के बाहर कुछ नहीं है। विश्व

और ईश्वर में अचिन्त्य तादात्म्य है। ईश्वर ही विश्व हैं, ईश्वर ही विश्वात्मा हैं और ईश्वर ही परात्पर हैं। ब्रूनो ने इस चिदचिद्रूप संसार को, जो ईश्वर का शरीर है, 'विराट्' या 'विश्व' (Natura Naturata) का नाम दिया है। इस 'विराट्' की अन्तर्यामी आत्मा को, इस शरीर के शरीरी को, उन्होंने 'विश्वात्मा' (Natura Naturans) कहा है। शरीर और आत्मा के सगुण रूप में प्रतीत होने वाले इस निर्गुण तत्व को उन्होंने 'अचिन्त्य परात्पर तत्व' (Ens Absolutum Indeterminatum) कहकर पुकारा है। आगे चलकर स्पिनोज़ा ने इन तीनों नामों का इसी अर्थ में प्रयोग किया है और इन सिद्धान्तों को अपनाया है। ब्रूनो के अनुसार विश्व, विश्वात्मा और पर—ये तीनों अनन्त हैं क्योंकि एक ही तत्व के विभिन्न रूप हैं। वस्तुतः अनन्त तो केवल 'पर' ही है। इसको उन्होंने 'पूर्ण अनन्त' (Absoluto Infinito) कहा है क्योंकि यह निर्गुण और अचिन्त्य है। 'विश्वात्मा' को उन्होंने 'अनवच्छिन्न और व्यापक अनन्त' (Totalmente Infinito) कहा है, क्योंकि यह अन्तर्यामी ईश्वर का स्वरूप है। अन्तर्यामी होने के कारण ईश्वर विश्व के अंगप्रत्यंग में व्याप्त हैं। अतः वे व्यापक रूप से अनन्त हैं। उनकी कोई सीमा नहीं हैं, अतः वे असीमित या अनवच्छिन्न होने के कारण भी अनन्त हैं। 'विश्व' को ब्रूनो ने केवल 'अनवच्छिन्न अनन्त' (Tutto Infinito) कहा है, क्योंकि ईश्वर का शरीर होने के कारण यह विश्व भी असीमित या अनवच्छिन्न है। किन्तु विश्व अपने अंग-प्रत्यंगों का समूहमात्र है, वह उनमें व्याप्त नहीं है। अतः उसे व्यापक अनन्त नहीं कहा जा सकता। आत्मा ही शरीर के अंगप्रत्यंगों में व्याप्त हो सकती है, शरीर स्वयं अपने अंगों में व्याप्त नहीं हो सकता। 'विश्व' और 'अन्तर्यामी विश्वात्मा' का यह भेद शरीर और आत्मा का भेद है। इन सब विचारों का स्पिनोज़ा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जैसे स्पिनोज़ा को 'ईश्वर-प्रेमोन्मत्त' (God-intoxicated) कहा जाता है, वैसे ही ब्रूनो को 'ईश्वरप्रेमी' (God-loving)।

अब ब्रूनो के उन विचारों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनको आगे चलकर लाइबनित्ज ने अपनाया। ब्रूनो के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है और ईश्वर का स्वरूप चैतन्य है। अतः चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं है। चैतन्य और तत्व, बोध और सत्ता एक ही हैं। अतः जड और चेतन का, अचित् और चित् का विभाग काल्पनिक है। जिसको हम जड समझते हैं, वास्तव में वह भी चेतन ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जड में चैतन्य सुप्तावस्था में है और चेतन में जाग्रत् अवस्था में। जड में चैतन्य गुप्त है और चेतन में प्रकट। सृष्टि का अर्थ है चैतन्य का क्रमिक विकास। यह चैतन्य जड में अन्न (Matter) रूप में; वनस्पति, पशुओं और मनुष्यों में प्राण (Life) रूप में; पशुओं और मनुष्यों में मन (Mind) रूप में; तथा मनुष्यों में बुद्धि या

विज्ञान (Reason) रूप में विकसित होता है।[1] चैतन्यरूप ईश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है और उसी में सृष्टि का तिरोधान होता है।[2] सृष्टि में जो चैतन्य सत्ता व्याप्त है उसको ब्रूनो ने चेतन अणु, चिदणु या जीवाणु (Monad) का नाम दिया है। ईश्वर को वे 'जीवाणुओं का जीव' (Monad of Monads) कहते हैं। लाइबनित्ज़ ने इन नामों को और इन सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपने दार्शनिक सिद्धान्त का विकास किया है। अन्तर यह है कि ब्रूनो के लिए ये जीवाणु ईश्वर के आभासमात्र हैं, उनके विवर्त हैं, और लाइबनित्ज़ को इन जीवाणुओं की स्वतन्त्र सत्ता मान्य है।

यह ब्रूनो के दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा है। ब्रूनो का आत्म-बलिदान दर्शन-साहित्य में अमर रहेगा। पाश्चात्यदर्शन ने मध्ययुगीन धार्मिक शृंखलाओं को सर्व-प्रथम ब्रूनो में ही तोड़कर फेंक दिया है। ब्रूनो से पहले का मध्ययुगीन पाश्चात्य-दर्शन ईसाई धर्म का दास बनकर रह रहा था। दर्शन को धर्म की इस हज़ार वर्ष की दासता से मुक्त करके उसको स्वतन्त्र बनाने का श्रेय ब्रूनो को है।

टोमसो केम्पानेला (१५६८–१६३९) :—केम्पानेला (Tommaso Campa-nella) पर प्लेटो और सन्त आगस्टाइन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक 'दार्शनिक प्रजातन्त्र' ('Republic') के आधार पर केम्पानेला ने अपनी पुस्तक 'सूर्य-नगर' (City of the Sun) की रचना की। केम्पानेला को, अपने दार्शनिक विचारों के कारण और स्पेन के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के झूठे अभियोग के कारण, जीवन के २७ बहुमूल्य वर्ष कारावास में व्यतीत करने पड़े। केम्पानेला ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के पिता कहे जानेवाले फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त के जीव और ईश्वर सम्बन्धी विचारों को अभिव्यक्त कर दिया था। ये विचार केम्पानेला के ही मौलिक विचार नहीं थे; इनके बीज सन्त आगस्टाइन के दर्शन में विद्यमान थे, जहाँ से केम्पानेला ने उन्हें लिया। अतः केम्पानेला को सन्त आगस्टाइन और देकार्त के बीच की शृंखला मानना उचित है।

केम्पानेला ने धर्म को आगम पर और दर्शन को तर्क पर आश्रित बतलाकर दोनों के अलग-अलग क्षेत्रों का, ब्रूनो के समान, समर्थन किया। दर्शन का क्षेत्र स्वतन्त्र है और उसका साधन ज्ञान है। इस ज्ञान के, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान और समन्वय—ये तीन उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भेद हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष निकृष्ट और धुंधला ज्ञान है। इन्द्रियों से हम जिस बाह्य जगत् का जिस रूप में अनुभव करते हैं, उसे उसी रूप में सत्य नहीं माना जा सकता। इन्द्रियाँ धोखा देने में निपुण हैं। और इसीलिए इन्द्रियानुभूति के आधार पर किया गया तर्क भी सत्य को पूर्ण-रूपेण प्रकाशित नहीं कर सकता। यदि किसी भी ज्ञान को पूर्णतः सत्य कहा जा सकता है तो वह है आत्म-ज्ञान। आत्मा का कभी निराकरण नहीं किया जा

१. पंचकोश २. जन्माद्यस्य यतः

सकता। प्रत्येक व्यक्ति को "मैं हूँ" इस प्रकार का अबाधित और निश्चयात्मक ज्ञान सदा होता है। आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह को तनिक भी स्थान नहीं। विधि और निषेध, मण्डन और खण्डन, समर्थन और निराकरण, सिद्धि और अपलाप--ये धर्म आत्मा द्वारा ही किये जाते हैं, अतः ये आत्मा पर लागू नहीं होते। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि जो निराकरण करता है वह स्वयं ही आत्म-स्वरूप है।[1] सन्देह और निराकरण में भी सन्देह-कर्ता और निराकर्ता आत्मा की सत्ता स्पष्ट सिद्ध है। अतः आत्मा स्वतःसिद्ध तत्व है। दर्शन और ज्ञान में द्रष्टा और ज्ञाता की सत्ता सदा सिद्ध है। सन्त आगस्टाइन ने इस विचार को इस सूत्र में प्रकट किया था--"यदि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण भी करूँ तो भी मेरी (निराकर्ता की) सत्ता अनिवार्य है" (Si Fallor Sum) और आगे चलकर देकार्त ने इसी के लिए यह सूत्र बनाया--"मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Cogito Ergo Sum)।

किन्तु केम्पानेला ने इस विशुद्ध द्रष्टा या ज्ञाता की विशुद्धता भूलकर इसे केवल व्यावहारिक जीवात्मा ही मानकर सन्तोष कर लिया। देकार्त ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। केम्पानेला के अनुसार यह स्वतःसिद्ध ज्ञाता जीवात्मा है जो चेतन है, सीमित है, परिच्छिन्न है और स्वसम्वेदन का विषय है। इस परिच्छिन्न जीव को अन्य परिच्छिन्न जीवों का, जड जगत् का और अपरिच्छिन्न ईश्वर का ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्, अचित् और ईश्वर रूपी तत्वत्रय की सिद्धि होती है।[2] परिच्छिन्न जीव को अपरिच्छिन्न ईश्वर का ज्ञान होता है। किन्तु परिच्छिन्न को अपरिच्छिन्न का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं अपरिच्छिन्न तत्व अपने ज्ञान को परिच्छिन्न जीव में उत्पन्न न करे। अतः अपरिच्छिन्न के ज्ञान से ही अपरिच्छिन्न की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। अनन्त ईश्वर के ज्ञान मात्र से ही उनका अस्तित्व सिद्ध है। क्योंकि, यदि ईश्वर न होते तो हमें 'ईश्वर है'--ऐसा ज्ञान भी नहीं हो सकता था। सन्त एन्सेलम और केम्पानेला के इस विचार की पुष्टि आगे चलकर देकार्त ने की।

केम्पानेला के अनुसार ईश्वर स्रष्टा और नियन्ता हैं। सृष्टि सत् और असत् के, सत्य और अनृत के मिथुन से उत्पन्न होती है।[3] ईश्वर से हम ज्यों-ज्यों सृष्टि की ओर उतरते जाते हैं, आनन्द से ज्यों-ज्यों विज्ञान, मन, प्राण और अन्न की ओर उतरते हैं, त्यों-त्यों सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव बढ़ता जाता है। सृष्टि से ईश्वर की ओर चढ़ने पर क्रमशः सत् का आविर्भाव और असत् का तिरोभाव होने लगता है। मानव का चरम लक्ष्य ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द की अनभूति ही है।

---

१. य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्--शंकराचार्य

२. रामानुजदर्शन ३. सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्ततेऽयं लोकव्यवहारः--शंकराचार्य

फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६) :—शेक्सपीयर के समसामयिक फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon) इँगलैण्ड में आधुनिक युग के प्रथम महत्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उनके पिता सर निकोलस बेकन सम्राज्ञी एलिज़ाबेथ प्रथम के 'लार्ड कीपर ऑव द सील' थे, माता लेडी एन ग्रीक और लैटिन साहित्य की विदुषी थीं, चाचा सर विलियम सेसिल प्रधान मंत्री थे, अर्ल ऑव एसेक्स उनके मित्र थे। इतने सम्पन्न, शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न होने पर भी बेकन को जीवन में आर्थिक चिन्तायें बहुत ही सताती रहीं क्योंकि उनके पिता अपने इस छठे पुत्र के लिए विशेष सम्पत्ति न छोड़ सके। बेकन केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक थे। शिक्षा के बाद सर पर चढ़े कर्ज़ को उतारने के लिए उन्होंने वकालत शुरू की। बेकन को पिता से राजनीतिक क्षेत्र में उच्चपदप्राप्ति की महत्वाकांक्षा और माता से ज्ञान का उत्कट प्रेम विरासत में मिले थे और बेकन ने यथाशक्ति दोनों का ही निर्वाह किया। अर्ल एसेक्स की कृपा से बेकन को समय-समय पर आर्थिक सहायता मिलती रही जिसके कारण वे कर्ज़दारों की खींचातानी से मुक्ति पाते रहे। अपनी विद्वत्ता और योग्यता एवं अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों की कृपा से वे पार्लियामेंट के सदस्य, एटर्नी जनरल, लार्ड कीपर ऑव द सील, लार्ड चांसलर, बेरन और वाइकाउन्ट के पदों तक पहुँचे। किन्तु बेकन का चरित्र ऊँचा नहीं था। नैतिक बल की उनमें कमी थी। धन के वे दास थे। स्वार्थपूर्ति उनका एकमात्र उद्देश्य था। पदलोलुपता उनकी विशेषता थी। जब सम्राज्ञी एलिज़ाबेथ अपने परम कृपापात्र अर्ल ऑव एसेक्स से रुष्ट हो गईं तो उन्होंने बेकन को अर्ल एसेक्स के विरुद्ध लगाये गये राजद्रोह के अभियोग का समर्थन करने का आदेश दिया और बेकन ने स्वार्थसिद्धि के लिए अपने परम कृपालु दानी मित्र और हितैषी अर्ल एसेक्स के विरुद्ध राजद्रोह और षडयन्त्र के अभियोग का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंने धन के लिए ही एक सम्पन्न महिला से विवाह किया। लार्ड चांसलर के पद पर वे खूब घूस लेते रहे। उन पर मुकदमा चला और अपराध स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि उन 'भेंटों' से उनके न्याय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें भारी जुर्माना और कैद की सज़ा हुई, किन्तु सम्राट् जेम्स प्रथम ने जुर्माना माफ़ कर दिया और कैद सिर्फ़ चार ही दिन के लिए हुई। तत्पश्चात् बेकन राजनीतिक क्षेत्र से निवृत्त होकर एकान्त में अपने वैज्ञानिक प्रयोग करने लगे। एक बार शीत पर प्रयोग करते समय एक मुर्गी को मारकर उसमें बर्फ़ भरने के लिए बर्फ़ लेने आप बाहर पधारे, वहीं आपको सर्दी लगकर न्यूमोनिया हो गया और आप अपने प्रयोग की सफलता की प्रसन्नता साथ लेकर इस संसार को छोड़कर चल बसे।

फ्रान्सिस बेकन महान् विद्वान्, उत्कृष्ट साहित्यिक, कुशल राजनीतिज्ञ, अत्यन्त चतुर, धीर, सहिष्णु और इन्द्रियानुभववादी तथा प्रयोगविज्ञानप्रेमी दार्शनिक थे।

उनका 'निबन्ध-संग्रह' (Essays) अंगरेज़ी साहित्य की निधि है। 'ज्ञान का विकास' (Advancement of Learning) और 'नूतन तर्कपद्धति' (Novum Organum) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तकें हैं। कुछ विद्वान् तो बेकन को आधुनिक युग का जनक मानने लगे थे, किन्तु भारी बहुमत से यह श्रेय देकार्त को ही मिलता है। बेकन को इन्द्रियानुभव और प्रयोग-विज्ञान की दुन्दुभि बजानेवाला माना जाता है। तर्क की आगमन-प्रणाली का शंखनाद उन्होंने किया। वे अपने शिक्षाकाल में ही एरिस्टॉटल की निगमन-प्रणाली के शत्रु बन गये थे और उन्होंने दर्शन को एरिस्टॉटल के कुप्रभाव से बचाने का संकल्प कर लिया था। निगमन तर्क केवल शब्दजाल है जिसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं। विज्ञान के युग में यह तर्कपद्धति सर्वथा व्यर्थ और अनुपयुक्त है। आधुनिक युग की सभी विशेषतायें—धर्मप्रभुत्व के प्रति विद्रोह, दर्शन को धर्म की दासता से मुक्त करना, व्यक्तिवाद, विचार-स्वातन्त्र्य, भौतिक विज्ञान का प्रभुत्व, प्रयोगों का महत्व और आगमनात्मक प्रणाली आदि, बेकन में प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं।

बेकन के अनुसार दर्शन से लोगों ने जो आशा लगाई थी वह पूरी नहीं हुई क्योंकि अब तक का दर्शन असहिष्णुता, अन्धविश्वास, पारस्परिक विवाद और शब्दजाल में ही फँसा रहा। सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि दर्शन और धर्म के क्षेत्र स्वतन्त्र और भिन्न हैं। दर्शन का आधार है इन्द्रिय-विज्ञान और आगमनात्मक तर्क; धर्म का आधार है अतीन्द्रिय-विज्ञान और श्रद्धा। दर्शन का लक्ष्य है मानव समाज का कल्याण। इसका साधन है भौतिक विज्ञान के आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर विजय। इसकी पद्धति है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और आगमनात्मक तर्क की। दर्शन व्यावहारिक है। वह जीवन के लिए है—सामाजिक जीवन की उन्नति और विकास के लिए। दर्शन धर्म का वाहन बनकर नहीं रह सकता। दर्शन ज्ञान है और ज्ञान शक्ति है। इस शक्ति से प्रकृति पर विजय करके वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा जीवन को सुखी बनाया जाता है। प्रकृति पर विजय प्रकृति की आज्ञा में चलने से होती है। प्रकृति की प्रत्येक घटना में कोई-न-कोई नियम अन्तर्निहित होता है। घटनाओं का इन्द्रियों और यन्त्रादि की सहायता से पर्यवेक्षण करना और आगमन-प्रणाली द्वारा मूल नियम को जानना तथा उसके आधार पर वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मानव जीवन को सुखी बनाना दर्शन का कार्य है। यही सत्य की खोज है और यही उसका उपयोग है। जो दशन इन्द्रियानुभव और आगमात्मक तर्क पर प्रतिष्ठित नहीं है, उसे 'दर्शन' ही नहीं कहा जा सकता। अब तक दर्शन इन्द्रियानुभव को धुँधला और भ्रामक ज्ञान मानता था और अतीन्द्रिय परमार्थ को पूर्ण ज्ञान। किन्तु बेकन ने अतीन्द्रिय परमार्थ को असत्य और काल्पनिक कहकर ठुकरा दिया और इन्द्रियानुभव में ही सत्य की प्रतिष्ठा स्वीकार की। जो इन्द्रियानुभूत नहीं, वह यथार्थ नहीं। जो इन्द्रियगोचर नहीं,

वह सत्य नहीं। जो प्रत्यक्ष नहीं, वह तत्व नहीं। अब तक दर्शन धर्म का दास था; बेकन ने उसे भौतिक विज्ञान का दास बना दिया। अब तक दर्शन परमार्थ से बँधा था; बेकन ने परमार्थ को ठुकरा कर दर्शन को व्यवहार की शृंखला में जकड़ दिया। अब तक दर्शन का लक्ष्य था ईश्वरीय ज्ञान और आनन्द का अनुभव; बेकन ने दर्शन का लक्ष्य बनाया इन्द्रियों के ज्ञान और आनन्द का अनुभव। अब तक लोककल्याण का अर्थ था आध्यात्मिक जीवन और साधन था त्याग; बेकन के अनुसार लोककल्याण का अर्थ हुआ आधिभौतिक जीवन और साधन हुआ वैज्ञानिक आविष्कारों का संग्रह।

बेकन के अनुसार दर्शन का लक्ष्य है प्रत्यक्ष और आगमन के द्वारा प्रकृति का पर्यवेक्षण करके मूल नियमों की खोज। किन्तु या तो हम प्रकृति का निरीक्षण करते ही नहीं, और यदि करते भी हैं तो ठीक तरह नहीं। ज्ञान की खोज में हम अपने साथ अपने अंधविश्वास, पक्षपात और इच्छायें भी ले चलते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रकृति के गुणों का निरीक्षण करते समय हम अपने विश्वास उन पर लाद देते हैं। अतः दार्शनिक का प्रथम कर्तव्य है अन्धविश्वास से मुक्ति। बेकन ने ये अन्धविश्वास (Idola) अपनी आलंकारिक भाषा में चार प्रकार के बताये हैं। प्रथम हैं "जातीय अन्धविश्वास" (Idola Tribus) जो मानव मात्र में सहज संस्कारों के रूप में विद्यमान रहते हैं। इनके कारण वस्तु-स्थिति पर पक्षपात का पर्दा पड़ जाता है। सत्य की खोज से पहले ही हम सत्य के स्वरूप का निश्चय कर लेते हैं और सत्य को न देखकर उसे ही देखते हैं जिसे हम सत्य के रूप में देखना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हम प्रकृति के प्रत्येक कार्य में किसी-न-किसी उद्देश्य की झलक देखना चाहते हैं; हम प्रकृति को मानवरूप दे देते हैं; हम अपने विचार और भावनायें प्रकृति पर लाद देते हैं; जो हमें अच्छा लगता है उसीको देखना चाहते हैं और अन्य की ओर आँख मूंद देते हैं; बिना आगमन तर्क का सहारा लिए केवल इन्द्रियानुभव को ही सच मान लेते हैं, जैसे पृथ्वी को चपटी और स्थिर समझने लगते हैं, आदि। द्वितीय हैं "गुहा के (अर्थात् व्यक्तिगत) अन्धविश्वास" (Idola Specus) जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषता हैं। जातीय अन्धविश्वास मनुष्यजाति मात्र में सामान्यतया विद्यमान होते हैं; किन्तु गुहा के अन्धविश्वास प्रत्येक व्यक्ति के अपने होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये एक संकुचित क्षेत्र का निर्माण कर लेता है, अपनी एक सीमा बना लेता है, अपनी इस काल्पनिक गुफा या कन्दरा में ही रहना चाहता है जिसमें प्रकृति का प्रकाश पूर्णरूप से नहीं पहुँच पाता। इन व्यक्तिगत पक्षपातों, सनकों, अन्धविश्वासों को, जो संस्कार, शिक्षा और वातावरण के कारण पनपते हैं, बेकन ने 'गुहा के अन्धविश्वास' का नाम दिया है। प्लेटो की 'प्रजातन्त्र' (Republic) में वर्णित 'गुहा की कथा' (Parable of the Cave) को दृष्टि में रखकर ही

शायद बेकन ने यह नामकरण किया है। तृतीय हैं "बाज़ारू (अर्थात् भाषा के) अन्धविश्वास' (Idola Fori)। ये भाषा के, शब्दों और उनके अर्थों के, अन्धविश्वास हैं। ये भयंकर हैं। दार्शनिक मत-मतान्तरों के पारस्परिक कलह के मूल में प्रायः ये ही अन्धविश्वास होते हैं। एक मत कुछ शब्दों को किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है, किन्तु विरोधी मत उस विशेष अर्थ को न जानकर या न मानकर उन शब्दों को उनके प्रचलित अर्थ में या अन्य किसी अर्थ में समझता है और दोनों मतों में व्यर्थ का संघर्ष होने लगता है। शब्दार्थ की परम्परा भाषा में रूढ़ हो जाती है। शब्दों के प्रचलित अर्थ होते हैं और उनसे लोक-व्यवहार चलता है। यह शब्दों और अर्थों के लेन-देन की बाज़ारू अर्थात् व्यावहारिक परम्परा है। विज्ञान या दर्शन बहुधा शब्दों की इस बाज़ारू परम्परा से असन्तुष्ट होकर उन शब्दों का प्रयोग अपने विशिष्ट या पारिभाषिक अर्थ में करता है। अतः विज्ञान या दर्शन के किसी मत को समझने के लिए उसमें प्रयुक्त शब्दों के पारिभाषिक अर्थों को जान लेना आवश्यक है। सत्य की अभिव्यक्ति के लिए मानव के पास भाषा ही एकमात्र साधन है और भाषा के शब्द प्रायः अनुभूत सत्य की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। बहुत से शब्दों का तो 'यथार्थ' से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहुत से शब्द अर्थ को अपूर्ण या भ्रान्त ढंग से व्यक्त करते हैं। बहुत से शब्दों का व्यर्थ ही प्रयोग किया जाता है। बहुत से शब्दों के अनेक अर्थ निकलते हैं। ये सब भाषा के अन्धविश्वास हैं। चतुर्थ हैं "नाटक के (अर्थात् आगमों के) अन्धविश्वास" (Idola Theatri)। ये आगम के, शास्त्र के, धर्म और दर्शन के सम्प्रदायों के, शब्द-प्रमाण के अन्ध-विश्वास हैं। इनके कारण हम बहुत-सी बातों को बिना प्रकृति-निरीक्षण किये, बिना आगमन तर्क की कसौटी पर कसे, केवल इसीलिए सत्य मान लेते हैं कि अमुक आगमों में, अमुक शास्त्रों में या अमुक सम्प्रदायों में उनकी मान्यता है। बेकन इनको 'नाटक के अन्धविश्वास' कहते हैं क्योंकि यह सब नाटक है, यथार्थ नहीं। जैसे नाटक का संसार कल्पित होता है, यथार्थ नहीं; नाटक में कल्पित पात्र रंगमंच पर अपने स्वाभाविक रूप में न आकर नाटक के चरित्रों के रूप में आकर उनकी भूमिका का चित्रण करते हैं, वैसे ही आगमों और सम्प्रदायों में वर्णित बहुत से तत्व कल्पनामात्र हैं--यथार्थ से बहुत दूर। इन कोरी कल्पनाओं को, अपने इन्द्रियानुभव और तर्क को ताक में रखकर, केवल आगमों के आधार पर ही सत्य मान लेना अन्धविश्वास है। दर्शन को इन चारों प्रकार के अन्धविश्वासों से बचना चाहिए।

दर्शन के लिए केवल इन्द्रियानुभव या प्रत्यक्ष ही पर्याप्त नहीं है, आगमनात्मक तर्क भी अत्यावश्यक है। पहले, प्रकृति की घटनाओं का इन्द्रियों से निरीक्षण करना चाहिए। इन्द्रियाँ सदा ही और प्रत्येक वस्तु ठीक रूप में नहीं देखतीं। इनसे धोखा भी हो जाता है। अतः इस धोखे से बचना चाहिए। इन्द्रियों को

सबल बनाने के लिए यन्त्रादि की सहायता लेनी चाहिए। यह हुआ इन्द्रियानुभव द्वारा घटनाओं का और तथ्यों का संग्रह, जिसमें भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार के तथ्य और घटनायें आ जाती हैं। तत्पश्चात् इन तथ्यों और घटनाओं का विश्लेषण करना चाहिए। इस विश्लेषण में उनकी परस्पर तुलना और विरोध का प्रदर्शन होना चाहिए। इसके द्वारा सामान्य नियम या हेतु की खोज करनी चाहिए। हेतु निर्भर होता है व्याप्ति पर। अतः धैर्यपूर्वक सावधानी के साथ अन्वय और व्यतिरेक द्वारा हेत्वाभासों का निराकरण करते हुए व्याप्ति का ज्ञान करना चाहिए। यह आगमन तर्क की पद्धति है। एरिस्टॉटल का निगमन तर्क व्यर्थ का शब्द-जाल है। सत्य की अभिव्यक्ति आगमन तर्क से ही होती है। इसके लिए प्रयोग-पद्धति को अपनाना चाहिए। यह आगमन तर्क व्याप्ति पर निर्भर है। यह केवल गणनात्मक आगमन नहीं है। केवल तथ्यों और घटनाओं को गिनने से ही काम नहीं चलता। उनमें आधारभूत व्याप्ति को खोजना आवश्यक है। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष द्वारा केवल तथ्यों और घटनाओं का संग्रह मात्र करते हैं वे चींटियों के समान हैं जो केवल सामान इकट्ठा करती हैं। जो व्यक्ति प्रत्यक्ष का महत्व भूलकर तथ्यों और घटनाओं को ठुकरा देते हैं और कोरी कल्पनाओं के ही जाल बुनते रहते हैं, वे बुद्धिवादी, मकड़ी के समान हैं जो अपने ही अन्दर से तन्तु निकालकर जाला बुनती रहती हैं। दार्शनिक को मधुमक्खियों के समान होना चाहिए। जैसे मधुमक्खियाँ विविध फूलों से रस एकत्रित करती हैं और फिर उस रस को मधु में परिणत करती हैं, वैसे ही दार्शनिक को प्रत्यक्ष के द्वारा तथ्यों और घटनाओं का संग्रह करना चाहिए और फिर उनके विश्लेषण द्वारा उनमें अन्तर्निहित और उनके आधारभूत मौलिक नियम को उपस्थित करना चाहिए। दार्शनिक में प्रत्यक्षवाद और बुद्धिवाद का समन्वय होना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि बेकन का यह महत्वपूर्ण आलंकारिक कथन कान्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त का पूर्वरूप है। कान्ट ने प्रत्यक्षवाद और बुद्धिवाद के लम्बे संघर्ष को मिटाकर उन दोनों में सन्धि करवा दी है। कान्ट के अनुसार ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों आवश्यक हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान का उपादान और बुद्धि ज्ञान का निमित्त है। प्रत्यक्ष के इन्द्रिय-संवेदन ज्ञान के अवयव हैं और बुद्धि के विकल्प ज्ञान को रूप देते हैं। दोनों अपृथक्सिद्ध हैं--इनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

बेकन ने मानव की तीन शक्तियाँ मानी हैं--स्मृति, कल्पना और ज्ञान। स्मृति से इतिहास की, कल्पना से काव्य की और ज्ञान से दर्शन की सृष्टि होती है। ज्ञान ही असली शक्ति है। इसीलिए दर्शन का महत्व है।

बेकन ने प्रतिज्ञायें और संकल्प तो बड़े-बड़े किये हैं, किन्तु वे स्वय उनको पूर्ण नहीं कर सके। उनका दृष्टिकोण विशाल नहीं था। वे स्वयं वैज्ञानिक न होते हुए भी दर्शन को विज्ञान का दास बनाने के लिए उत्सुक थे। कॉपरनिकस

जैसे वैज्ञानिक की खोजों की बेकन उपेक्षा करते रहे। केपलर और गेलिलियो जैसे विद्वान् वैज्ञानिकों की भी बेकन ने उपेक्षा की। एरिस्टॉटल के निगमन तर्क के प्रति बेकन ने जो विष-वमन किया है, उससे यही सिद्ध होता है, कि निगमनतर्क का बेकन को पूर्ण ज्ञान नहीं था। वस्तुतः निगमन और आगमन एक ही तर्क के दो रूप हैं। इनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बेकन की 'व्याप्ति' में निगमन स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। बेकन को प्रसिद्धि दर्शन-क्षेत्र में केवल उनकी आगमन पद्धति के कारण है। किन्तु यह पद्धति एकाङ्गी है और बिना निगमनात्मक समन्वय के अधूरी और भ्रामक है। और फिर इस पद्धति के आविष्कार का सारा श्रेय भी बेकन को नहीं दिया जा सकता क्योंकि बेकन के देश में ही, उन्हींके समसामयिक वैज्ञानिक विलियम गिलबर्ट, बेकन की रचना के प्रकाशन से पूर्व ही अपने अन्वेषणों में आगमन प्रणाली का प्रयोग कर रहे थे। बेकन का महत्व इतना ही है कि उन्होंने अपने समय में दर्शन-क्षेत्र में विज्ञान, प्रयोग और आगमन तर्कपद्धति का प्रबल समर्थन किया।

टॉमस हॉब्स (१५८८–१६७९) :—हॉब्स (Thomas Hobbes) ऑक्सफोर्ड के स्नातक थे। अर्ल केवेन्डिश के शिक्षक के रूप में उनके निजी पुस्तकालय में उन्हें पढ़ने की बड़ी सुविधा मिली। यूनानी साहित्य और दर्शन, गणित और विज्ञान, राजनीति और नीतिशास्त्र का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया। राजनीतिक दर्शन पर उनका ग्रन्थ 'लेवियाथन' काफी प्रसिद्ध है। हॉब्स स्वतत्र विचारों के, किन्तु भीरु प्रकृति के, पुरुष थे।

बेकन के समान हॉब्स भी दर्शन को धर्म से पृथक् मानकर चलते हैं। धर्म श्रद्धा पर निर्भर है; दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान पर। सत्य इन्द्रियानुभव पर आधारित है। जो इन्द्रियगोचर नहीं, वह काल्पनिक है। किन्तु बेकन ने जहाँ केवल आगमन प्रणाली को ही मान्यता दी, हॉब्स ने आगमन और निगमन दोनों को मान्य ठहराया है। दूसरे, हॉब्स के अनुसार ज्ञान भी जड़ है—वह मस्तिष्क या स्नायुजाल की क्रियामात्र है। तीसरे, हॉब्स के अनुसार दर्शन, राजनीति, आचारशास्त्र, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान आदि सब क्षेत्रों में यांत्रिकवाद का अखण्ड साम्राज्य है। हॉब्स प्रत्यक्षवाद और जड़वाद के एक विशिष्ट प्रतिनिधि हैं।

हॉब्स के अनुसार दर्शन का अर्थ है अभ्रान्त प्रतीति जो इन्द्रिय-संवेदन पर निर्भर है। अतः जो इन्द्रियगोचर है, वही सत्य है। तर्क का कार्य इन्द्रिय-संवेदनों का विभाजन या समन्वय करना है। दर्शन कार्य से कारण का और कारण से कार्य का ज्ञान करता है। इसकी पद्धति आगमन और निगमन दोनों प्रकार के तर्क की है। इन्द्रिय-संवेदन और उनके जनक बाह्य पदार्थ—ये दो वस्तुयें ही सत्य हैं। ये सब पृथक्-पृथक् 'विशेष' हैं। 'सामान्य' कोरी कल्पना है। 'सामान्य' नाम मात्र है। इसका प्रयोग व्यवहार की सुविधा के लिए किया जाता है। व्यक्ति ही सत्य

है। पृथक्-पृथक् विशेष मनुष्य सत्य हैं। मनुष्य का सामान्य 'मनुष्यत्व' केवल नाम है। यह मत हॉब्स का 'नामवाद' (Nominalism) कहलाता है।[१]

हॉब्स के अनुसार ज्ञान इन्द्रियानुभव––रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द––से उत्पन्न होता है। किन्तु जगत् का जो चित्र हमें प्रत्यक्षज्ञान से मिलता है, वह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रियसंवेदन गतिशील बाह्य पदार्थों के कारण मस्तिष्क में होनेवाले परिवर्तन हैं। वास्तव में बाह्य पदार्थों का स्वरूप क्या है, यह हम नहीं जानते। जड ही एकमात्र तत्व है। ईश्वर, आत्मा आदि अमूर्त चेतन पदार्थ कल्पनामात्र हैं। ईश्वर और आत्मा की सिद्धि तर्क द्वारा मूर्त सत्ता के रूप में की जा सकती है, किन्तु वह क्या है?––यह हम नहीं जान सकते।

प्रकृति ने मनुष्य को सब वस्तुयें दी हैं। अतः जिसका चाहे उसका उपभोग करना मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है। प्रारंभ में, मनुष्य मनुष्य के लिए भेड़िया था। मानव जीवन क्षुद्र, पशुतुल्य और अल्प था। प्रत्येक व्यक्ति अपना ही अधिकार चाहता था। अतएव जीवन युद्धमय था। न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का कोई प्रश्न नहीं था। राज्य के विकास के साथ जब मनुष्य सभ्य हुआ, तब युद्ध बन्द होकर शान्ति स्थापित होने लगी। मनुष्य के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा का भार राज्य ने लिया और इसके बदले में मनुष्यों ने शासित होकर राज्य की अधीनता स्वीकार की। मनुष्य युद्ध आदि के दुष्परिणामों के भय से, जीवन और सम्पत्ति की अरक्षा के भय से, राज्यतन्त्र स्थापित करने को बाध्य हुआ, बुद्धि के विकास के कारण नहीं। यह हॉब्स का "सामाजिक समझौता" नामक सिद्धान्त (Social Contract Theory) है।

स्पष्ट है कि हॉब्स जड़वाद (Materialism), इन्द्रियसंवेदनवाद (Sensationism), प्रत्यक्षवाद (Empiricism) और यान्त्रिकवाद (Mechanical Determinism) के पोषक हैं। दर्शन के लिए उनकी कोई विशेष देन नहीं है।

---

१. बौद्धों का 'सामान्य' का खण्डन इससे बहुत कुछ मिलता है।

सप्तम अध्याय

बुद्धिवाद: देकार्त

रेने देकार्त (१५९६–१६५०) :—रेने देकार्त (Rene Descartes) का जन्म फ्रान्स के तुरेन नगर में हुआ। उनका शरीर निर्बल, किन्तु बुद्धि प्रबल थी। केथोलिक मत के जेसुइट पादरियों की शिक्षासंस्था में वे पढ़े थे। पेरिस का विलासी जीवन अप्रिय लगने के कारण उन्होंने सैनिक जीवन अपनाया। वे यूरोप में खूब घूमे थे। फिर वे दार्शनिक जीवन की ओर आकृष्ट हुए। वे बीस वर्ष तक हालैंड में रहे। एकान्तप्रिय होने के कारण, लोगों से बचने के लिए, उन्होंने चालीस बार अपना मकान बदला। स्वीडन की रानी ने उनसे दर्शन का अध्ययन करने के लिए उन्हें स्वीडन आमन्त्रित किया। वहीं उनकी मृत्यु हुई।

देकार्त प्रसिद्ध गणितज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक थे। गणित और ज्योतिर्विद्या में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण अन्वेषण किये हैं। दर्शन के आधुनिक युग के तो वे पिता ही कहे जाते हैं। उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ हैं—'दार्शनिक पद्धति पर विचार' (Discours de la Methode), 'प्राथमिक दर्शन की साधना' (Meditationes de Prima Philosophia), और 'दर्शन के सिद्धान्त' (Principia Philosophia)। आधुनिक युग की सभी विशेषतायें उनमें प्रस्फुट हुई हैं। उन्होंने दर्शन को एक नई पद्धति दी, जिसके कारण उन्हें आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है। उनके बहुत से सिद्धान्त अमान्य हो चुके हैं, किन्तु उनकी पद्धति आज भी मान्य है। देकार्त का महत्व उनकी पद्धति और उसके मौलिक सिद्धान्तों के कारण है, उनके दार्शनिक मत के कारण नहीं। दर्शन के लिए उन्होंने सुदृढ़ नींव बनाई। उस नींव पर उन्होंने जो प्रासाद खड़ा किया, वह तो ढह चुका, किन्तु वह नींव आज भी वैसी ही सुदृढ़ है और विविध दार्शनिक प्रासाद उसी पर बनते-बिगड़ते रहे हैं।

देकार्त गणित के अत्यन्त भक्त थे। उनको गणित-प्रेमी दार्शनिक कहने के बजाय यदि दर्शन-प्रेमी गणितज्ञ कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। गणित में निश्चयात्मकता है—उसके सिद्धान्त निर्विवाद और निःसन्देह सत्य हैं। दर्शन में विवाद और अराजकता है। इसका कारण देकार्त ने यह बताया कि गणित की नींव सुदृढ़ है और दर्शन की नींव बालू की बनी है। अतः देकार्त ने निश्चय किया कि दर्शन को भी गणित की सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। गणित केवल बुद्धि पर निर्भर है और दर्शन अनुभव पर। किन्तु यदि अनुभव को गणित की सुदृढ़ नींव पर खड़ा किया जाय तो दर्शन की भी अचल प्रतिष्ठा हो सकती है।

दर्शन का लक्ष्य है सत्य की खोज। सत्य के दो रूप हैं––स्वतःसिद्ध और प्रमाणजन्य। स्वतःसिद्ध सत्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। यह सत्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता; प्रत्युत स्वयं प्रमाणों की सत्ता इस स्वतःसिद्ध सत्य से सिद्ध होती है। यदि स्वतःसिद्ध सत्य न हो, तो प्रमाणों का अस्तित्व ही न हो। प्रमाणों से हम किसी वस्तु के सत्यत्व की सिद्धि या उसके सत्यत्व का निराकरण करते हैं। प्रमाणों का कार्य है––सिद्धि या असिद्धि, मण्डन या खण्डन, विधान या निषेध, स्वीकरण या निराकरण। सिद्धि और असिद्धि रूपी कार्य सविकल्प बुद्धि के आधारभूत मौलिक नियमों के अनुसार किया जाता है। ये मौलिक नियम स्वतःसिद्ध हैं। इन नियमों के कारण ही प्रमाणों में प्रमाणत्व आता है। ये प्रमाणों के प्राण हैं। इन नियमों के द्वारा ही प्रमाण किसी वस्तु को सिद्ध या असिद्ध करते हैं। यदि इन नियमों को भी किसी अन्य नियम से सिद्ध करने की आवश्यकता मानी जाय, तो अनवस्था दोष आता है। अतः बुद्धि के आधारभूत इन मौलिक नियमों को स्वतःसिद्ध सत्य मानना पड़ता है। स्वतःसिद्ध सत्य का साधन है निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति। प्रमाणजन्य सत्य का साधन है सविकल्प बुद्धि। स्वतःसिद्ध सत्य के आधार पर ही सविकल्प बुद्धि प्रमाणजन्य सत्य की प्रतिष्ठा करती है। जैसे गणित में कुछ मौलिक नियमों के आधार पर अन्य नियम सिद्ध किये जाते हैं, वैसे ही स्वतःसिद्ध सत्य के आधार पर बुद्धि अपने सत्य को प्रमाणित करती है। इस प्रकार देकार्त की दर्शन-पद्धति के दो अंग हैं––एक तो निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति, जिसके द्वारा सत्य का स्वरूप अनायास इतने सुस्पष्ट रूप में प्रकाशित हो जाता है कि उसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं रह पाता और इसीलिए उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य को देखने के लिए दीपक के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती, और दूसरा, सविकल्प तर्क, जो निर्विकल्प अनुभूति की ज्योति से ही जगमगाता है। इस सविकल्प तर्क की मुख्य प्रणाली है निगमन क्योंकि तर्क का कार्य निर्विकल्प अनुभूति के स्वतःसिद्ध नियमों के आधार पर अन्य नियमों को प्रमाणित करना है। इसका यह अर्थ नहीं कि देकार्त आगमन प्रणाली को नहीं मानते या उसका कोई उपयोग नहीं समझते। उनका तात्पर्य यह है कि आगमन अपने सत्यत्व के लिए निगमन पर निर्भर है। निःसन्देह, आगमन तर्क का आवश्यक अंग है, किन्तु बिना निगमन के आगमन व्यर्थ है। निगमन प्रधान है; आगमन उसका सहायक है। बहुत से लोगों की यह धारणा कि देकार्त के दर्शन में आगमन का कोई उपयोग नहीं, गलत है। देकार्त ने आगमन के महत्व को खूब समझा है। उन्होंने मन के और बाह्य पदार्थों के विश्लेषणात्मक अध्ययन को आवश्यक समझा है। "प्रकृति की खुली हुई विशाल पुस्तक" के अध्ययन में उनकी पर्याप्त रुचि रही है। स्वसंवेदन उनके दर्शन का केन्द्रीय अनुभव है। किन्तु उन्होंने यह कहा है––और ठीक कहा है––कि आगमन अपनी सत्यता के लिए

निगमन पर निर्भर है। आगमन तथ्यों या घटनाओं की गणना पर तो निर्भर है नहीं; वह निर्भर है व्याप्ति पर। और व्याप्ति बिना निगमन के बन नहीं सकती। व्याप्ति का अर्थ है--दो वस्तुओं में कार्यकारणभाव की सिद्धि। यह सिद्धि होती है निगमनात्मक तर्क से और इसकी निश्चयात्मकता, सहजता, सार्वभौमता और अबाधिता आती है स्वतःसिद्ध अनुभूति से। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से केवल विशेषों का प्रत्यक्ष होता है, सामान्य की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में कभी सामान्य की निश्चयात्मकता और सार्वभौमता नहीं आ सकती। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है, किन्तु जब तक वह बुद्धि द्वारा पुष्ट न हो, उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रथम तो, बुद्धि द्वारा बिना 'सविकल्प' बने, प्रत्यक्ष 'इन्द्रिय-संवेदन' मात्र रहता है, 'ज्ञान' नहीं बनता। दूसरे, प्रत्यक्ष-ज्ञान का अनुमान से बाध भी हो जाता है। पृथ्वी हमको चपटी और स्थिर दिखाई देती है, परन्तु है गोल और सूर्य के चारों ओर घूमती है। इन्द्रियाँ प्रायः धोखा देती हैं। अतः युक्तियुक्त होने पर ही प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जा सकता है। यही दशा 'आगम-प्रमाण' की है। उसे भी युक्तियुक्त होने पर ही प्रमाण मान सकते हैं। दर्शन का साधन है निगमनात्मक सविकल्प तर्क और इसकी ज्योति आती है स्वतःसिद्ध निर्विकल्प अनुभूति से।

देकार्त की दार्शनिक पद्धति है सन्देह की। किन्तु देकार्त सन्देहवादी (Sceptic) नहीं हैं; वे हैं कट्टर बुद्धिवादी (Rationalist)। सन्देह उनके लिए साधन मात्र है, साध्य नहीं। सत्य निश्चयात्मक है। किन्तु निश्चय पर पहुँचने के लिए सन्देह आवश्यक है। यदि संशय न हो, तो निश्चय कैसा? संशय ज्ञान का स्रोत है। दार्शनिक के लिए आवश्यक है कि वह किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के पूर्व हर प्रकार की पूर्व-मान्यताओं, पूर्व-धारणाओं या पक्षपातों से रहित होकर विचार करे। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या आगम से अमुक बात प्रमाणित होती है, अतः वह सत्य है--इस प्रकार का विचार ठीक नहीं। यह रूढ़िवाद है, पक्षपात है, अन्धविश्वास है। यह दार्शनिक को शोभा नहीं देता। दर्शन का उद्गम संशय में है। ग्रीक युग में प्लेटो ने कहा था कि "ज्ञान का उद्गम आश्चर्य है" (Philosophy begins in wonder)। मध्ययुग में शास्त्रीय विचारक कहते थे कि "ज्ञान का उद्गम विश्वास है" (Credo ut Intelligam)। आधुनिक युग में देकार्त ने कहा कि "ज्ञान का उद्गम सन्देह है (Dubito ut Intelligam)। देकार्त के पहले पाइरो, सेक्सटस आदि सन्देहवादी हो चुके हैं। किन्तु उन्होंने 'सन्देह' का महत्व ठीक न समझा और उसी को भूल से अपना लक्ष्य बना लिया। देकार्त इस परम्परा में नहीं हैं। उनकी परम्परा है सन्त आगस्टाइन और केम्पानेला की। इन दोनों के विचारों का, जैसा हम पहले कह चुके हैं, देकार्त पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मोन्टेन और बेकन ने भी सन्देह को अपनाया था, किन्तु वे उसे दार्शनिक पद्धति का रूप नहीं

दे सके। देकार्त इस विषय में उनसे आगे हैं। यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि देकार्त की पद्धति सन्देह की होने पर भी वे सन्देहवादी नहीं हैं। सन्देहवादी 'संशयात्मा' होता है; संशय ही उसका प्राण, उसका लक्ष्य, उसका साध्य होता है। वह निश्चित सत्य को नहीं मानता। देकार्त के अनुसार सत्य स्वतःसिद्ध और निश्चयात्मक है। सत्य की सार्वभौमता, सहजता, अबाधिता और निश्चयात्मकता देकार्त को सर्वथा मान्य है। किन्तु इस सत्य की प्राप्ति का साधन है सन्देह। निश्चयात्मक सत्य साध्य है, सन्देह साधन है। सत्य उपेय है, सन्देह उपाय है। सत्य लक्ष्य है, सन्देह लक्षण है। सत्य गन्तव्य स्थल है, सन्देह मार्ग है। जो सन्देह को साधन के रूप में अपनाता है, वह बुद्धिवादी सत्य तक पहुँच जाता है, किन्तु जो सन्देहवादी सन्देह को भी साध्य मान लेता है, उसका विनाश निश्चित है। सन्देह अन्धविश्वास और पक्षपात को मिटाने के लिए है, सत्य को मिटाने के लिए नहीं। प्रसिद्ध कथन है––'संशयात्मा विनश्यति'। देकार्त का तात्पर्य है––'संशयेन विजानाति संशयात्मा विनश्यति।' अतः सन्देह देकार्त के दर्शन का आदि है, अन्त नहीं। देकार्त के सन्देह का यही अर्थ है कि बिना किसी अन्धविश्वास या पक्षपात या पूर्व-मान्यता के निष्पक्ष विचार किया जाय और जब तक कोई भी वस्तु अपनी सत्ता को इतना सुस्पष्ट प्रकाशित न कर दे कि उसके विषय में सन्देह को कोई स्थान न रहे, तब तक उसे सत्य न माना जाय।

अपनी इस सन्देह-पद्धति से देकार्त ने इस प्रकार विचार करना प्रारम्भ किया :–– 'अभी तक मैं जिसे सर्वथा सत्य और निश्चयात्मक मानता आया हूँ, वह ज्ञान मुझे या तो इन्द्रियों से साक्षात् मिला है या इन्द्रियों के द्वारा। किन्तु मुझे इन्द्रियों ने कई बार धोखा दिया है, और बुद्धिमानी इसीमें है कि जो एक बार धोखा दे जाय उसका पूरा विश्वास कभी न किया जाय। कुछ बातों में इन्द्रियाँ भले ही धोखा दे जावें, किन्तु बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनमें इन्द्रियाँ धोखा नहीं देतीं। उदाहरणार्थ, मैं कैसे सन्देह करूँ कि मैं यहाँ आग के पास, रात के कपड़े पहने और हाथ में यह कागज़ लिए बैठा हूँ? यह मैं कैसे कहूँ कि ये हाथ और यह शरीर मेरा नहीं है? यह कथन पागलपन होगा। किन्तु स्वप्न में मैं कई बार ऐसा पागलपन कर देता हूँ जो पागल लोग जाग्रत् में करते हैं। स्वप्न और जाग्रत् में कोई निश्चित भेद नहीं प्रतीत होता। अस्तु, यदि यह मान लें कि हम सो रहे हैं और हमारी क्रियायें, जैसे आँखें खोलना, सर हिलाना, हाथ फैलाना आदि सब मिथ्या भ्रम हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि स्वप्न में हम जिन पदार्थों को देखते हैं वे चित्रों के समान हैं और ये चित्र यथार्थ और सत्य वस्तुओं के आधार पर ही बनाये जा सकते हैं। अतः जाग्रत् के पदार्थों को सत्य और सत् मानना पड़ेगा। और, गणित के सिद्धान्तों को, जैसे दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं, कैसे मिथ्या माना जा सकेगा?

'मेरा यह पुराना विश्वास रहा है कि ईश्वर हैं, उन्होंने यह सृष्टि बनाई है, उन्होंने मुझे उत्पन्न किया है। ईश्वर मंगलमय और सत्य-स्वरूप हैं। मैं यह कैसे मानूँ कि उन्होंने यह सृष्टि मुझे धोखा देने के लिए बनाई है? तब क्या मैं यह समझूँ कि यह शैतान का काम है? या यह सब मेरी ही कल्पना है?

'अस्तु, यदि इन सब दृश्य पदार्थों को असत् मान लिया जाय, इनको निरा भ्रम कहा जाय, तो भी एक बात में सन्देह का तनिक भी अवकाश नहीं और वह है मेरी सत्ता। ज्यों ही मैं कोई विचार करता हूँ, त्यों ही मेरी सत्ता सामने आती है। मैं कुछ भी कहूँ, सोचूँ, विचारूँ, उन सब में मेरा अस्तित्व अन्तर्निहित है। इस विषय में मुझे कोई धोखा नहीं हो सकता। अतः भली भाँति सोच लेने के बाद और प्रत्येक बात की सावधानी से परीक्षा कर लेने के बाद, मैं इस परिणाम पर पहुँचने और इस सत्य को मानने के लिए बाध्य हूँ कि "मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है।" मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञान मेरा स्वरूप है। यदि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण भी करूँ तो उस निराकरण में भी मेरा अस्तित्व प्रकट होकर सामने आता है क्योंकि मैं ही तो निराकर्ता हूँ। मेरी सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। ज्ञाता का ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त अत्यन्त सुस्पष्ट और निःसन्देह स्वतःसिद्ध ह कि "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Cogito Ergo Sum)।'

इस प्रकार देकार्त आत्मा की स्वतःसिद्धता और स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करते हैं। उनकी सन्देह-पद्धति आत्मा के आगे समाप्त हो जाती है। यहाँ सन्देह को अवकाश नहीं। यह आत्मतत्व स्वतःसिद्ध सत्य है। सन्त आगस्टाइन ने भी यही कहा था—"यदि मैं अपना निराकरण करूँ, तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य है" (Si Fallor Sum)। केम्पानेला ने भी यही कहा था—"मैं ज्ञाता हूँ, अतः मैं स्वतःसिद्ध हूँ।" देकार्त ने इसे अत्यन्त सुस्पष्ट कर दिया है। स्वसंवेदन का निषेध नहीं हो सकता। ज्ञाता के ज्ञान का निराकरण नहीं हो सकता। द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं हो सकता।[१] आत्मा की सत्ता सर्वप्रथम, असंदिग्ध और स्वतःसिद्ध सत्य है। यह ध्यान देने की बात है कि यह सत्य निगमनात्मक तर्क से उपलब्ध नहीं होता। यह अनुमान नहीं है। इसको निगमन तर्क की देन समझना भारी भूल होगी। 'जो ज्ञाता है उसकी सत्ता अनिवार्य है', 'मैं ज्ञाता हूँ', 'अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है'—इस प्रकार इस सत्य को निगमन तर्कपद्धति का निष्कर्ष मानना भ्रम है। यह अनुमान नहीं, निर्विकल्प अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है (Sum Cogitans)। यह स्वतःसिद्ध अनुभूति है। इसकी सत्ता से ही प्रमाण कार्य करते हैं। यह स्वयं प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। इस स्वतःसिद्ध सत्य को देकार्त ने अपने दर्शन का

---

१. नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।
य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।

आधार बनाया और इसीको सत्य का मापदण्ड बनाया। जो वस्तु आत्मा के समान स्वतःसिद्ध और सन्देहातीत हो, वही सत्य है।

देकार्त का महत्व उनकी सन्देह-पद्धति और स्वतःसिद्ध ज्ञाता के साधन-साध्य-भाव के प्रतिपादन में है। स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश आत्मतत्व की महिमा देकार्त ने गायी है। यह आत्मतत्व निर्विकल्प अतीन्द्रिय स्वानुभूति है; यह बुद्धि का विषय नहीं। सविकल्प बुद्धि में इसी की ज्योति चमकती है। ये देकार्त के दर्शन के महत्वपूर्ण विचार हैं और अभी तक अमर हैं। इनके ही कारण देकार्त को आधुनिक युग का संस्थापक माना जाता है। जिस आत्मतत्व की महिमा उपनिषदों और वेदान्त ने गायी, उसी का यशोगान देकार्त ने किया। किन्तु इसके आगे देकार्त ने आत्मा को ठीक-ठीक नहीं समझा। वे स्वयं स्वतःसिद्धि और स्वप्रकाशता के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण नहीं जान सके। आत्मा को वे केवल परिमित जीवात्मा के अर्थ में ही समझते रहे। स्वतःसिद्ध आत्मा परमात्मा है। वह अद्वैत-स्वरूप है। वही एकमात्र सत् है। अन्य सब कुछ उसी की सत्ता का आभास है। इन तत्वों तक देकार्त नहीं पहुँच सके। वे इसी भ्रान्ति में रहे कि यह परिच्छिन्न जीव ही शुद्ध आत्मा है। इसीलिए वे कट्टर द्वैतवादी हैं। यह उनके दर्शन का बड़ा भारी दोष है।

देकार्त के दर्शन को हम बुद्धिवाद, रूढ़िवाद, ईश्वरवाद, द्वैतवाद और चिद-चित्संयोगवाद कह सकते हैं। और ये सभी विचार किसी-न-किसी अंश में दोषपूर्ण हैं। देकार्त बुद्धिवादी हैं, क्योंकि वे ज्ञान का साधन, प्रत्यक्ष या आगम को न मानकर, बुद्धि को मानते हैं और बुद्धि की तत्व-ग्रहण की क्षमता में अटल विश्वास रखते हैं; क्योंकि गणित के ज्ञान को वे आदर्श मानते हैं; और क्योंकि वे ज्ञान का उद्गम इन्द्रियानुभव में न मानकर सहज बुद्धि में मानते हैं। इन तीनों अर्थों में वे बुद्धिवादी हैं। वे रूढ़िवादी हैं, क्योंकि चर्च की बहुत-सी परम्परायें उन्हें मान्य हैं। वे ईश्वरवादी हैं, क्योंकि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं तथा ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं। वे द्वैतवादी हैं, क्योंकि वे चित् और अचित् रूपी दो परस्पर-स्वतन्त्र, किन्तु ईश्वर-परतन्त्र, तत्वों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। वे चिदचित्संयोगवादी हैं, क्योंकि उनके अनुसार इन दोनों तत्वों का एक दूसरे से संयोग होता है और एक की क्रिया के कारण दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है।

देकार्त ने पदार्थों के तीन विभाजन किये हैं——द्रव्य, गुण और पर्याय। द्रव्य (Substance) वह है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न हो। द्रव्य के अपृथग्सिद्ध (Inseparable) और स्वरूप (Essential) धर्मों को गुण (Attributes) कहते हैं। अन्य आगन्तुक (Accidental) धर्म पर्याय कहलाते हैं।[1]

१. भारतीय दर्शन में जैन, सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि की भी यही मान्यता है।

द्रव्य तत्व है क्योंकि उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है। देकार्त ने तीन तत्व माने हैं--ईश्वर, चित् और अचित् और उनके दर्शन में इस तत्वत्रय का ही प्रमुख विचार किया गया है।[१] सबसे पहले, सन्देह-पद्धति द्वारा, चित् की सत्ता स्वतःसिद्ध रूप में उपस्थित होती है। इसका विचार ऊपर किया जा चुका है। चैतन्यरूप आत्मतत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है"--यह निर्विकल्प अनुभूति अबाधित है। देकार्त के अनुसार यह आत्मा जीव ही है। जीव परिमित और परिच्छिन्न है। उसका ज्ञान, दर्शन और आनन्द परिमित है। जीव अनेक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान निर्विकल्प अनुभूति से होता है और अन्य आत्माओं का निगमनात्मक अनुमान से। इस प्रकार देकार्त ने अनेकजीववाद सिद्ध किया। उनका चित्-तत्व विशुद्ध आत्मा नहीं है। वह विशुद्ध-चैतन्य और अन्तःकरण का मिश्रण है। वह जीवात्मा है।

चित् की सिद्धि होते ही अचित् की भी सिद्धि हो जाती है। चित् अचित् का अनुभव करने के लिए ही है। चिदात्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। अतः उसे ज्ञेय, कार्य और भोग्य की अपेक्षा है। यही अचित् या जड तत्व है। ईश्वर ने इसकी सृष्टि की है अतः यह अचित् धोखा या भ्रम नहीं हो सकता। ईश्वर परम-कृपालु प्रभु हैं। वे हमें धोखा देने के लिए सृष्टि नहीं रचते। सृष्टि को भ्रान्ति समझना ईश्वर का अपमान करना है।

इस प्रकार चित् और अचित्--इन दो तत्वों--की सद्धि होती है। दोनों द्रव्य हैं क्योंकि दोनों की एक दूसरे से स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों परस्पर निरपेक्ष और विरुद्ध हैं। एक चेतन है, दूसरा जड। दोनों की पृथक् और समान सत्ता है। अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहता।

चित् की स्वतःसिद्धि का ज्ञान होते ही, जैसे एक ओर उसके ज्ञेय-कार्य-भोग्य अचित् की सिद्धि होती है, वैसे ही दूसरी ओर उनके नियन्ता और सृष्टि-कर्ता ईश्वर की सत्ता भी साथ ही सिद्ध हो जाती है। ईश्वर चित् और अचित् दोनों के स्वामी और नियन्ता हैं। वे दयालु हैं। वे सत्य और शिव हैं। उन्हींसे सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है। वे सृष्टि के निमित्त कारण मात्र हैं, उपादान कारण नहीं।[२] सृष्टि का उपादान कारण अचित्-तत्व है। ईश्वर सृष्टि के पार दिव्यलोक के निवासी हैं। ईसा मसीह उनके सुपुत्र हैं। उनके धर्म पर चलने से मनुष्य दिव्य ज्ञान और आनन्द के अनुभव में भाग ले सकता है।

देकार्त ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए ये प्रमुख प्रमाण दिये हैं[३]:--

---

१. रामानुज वेदान्त

२. **यहाँ देकार्त का मत रामानुज से न मिल कर न्याय, मध्व आदि से मिलता है।**

३. **नैयायिकों ने, विशेषतः उदयन ने, ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।**

प्रथम है, निगमन तर्क। मुझे अपने स्वतःसिद्ध आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति होती है। जिस पदार्थ की इतनी सुस्पष्ट और प्रकाशमय अनुभूति हो, वह पदार्थ भी, आत्मा के समान ही, सत्य होना चाहिए। मुझे ईश्वर की भी सुस्पष्ट अनुभूति हो रही है। अतः निष्कर्ष निकला कि आत्मा के समान ईश्वर का भी सत्य अस्तित्व है। आत्मा के और ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में इतना भेद है कि आत्मा की सिद्धि होती है निर्विकल्प प्रत्यक्ष से और ईश्वर की सिद्धि होती है निगमनात्मक अनुमान से।

द्वितीय है, सत्तामूलक अनुभूति का तर्क। ईश्वर के विषय में ज्ञानमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध होती है। हमें ईश्वर का ज्ञान होता है, अतः ईश्वर का अस्तित्व है। ईश्वर पूर्ण हैं। यदि उनकी 'सत्ता' न होती, तो वे अपूर्ण होते। अतः उनकी पूर्णता में उनकी सत्ता भी अन्तर्निहित है। सन्त एनसेल्म और सन्त आगस्टाइन ने भी यह तर्क दिया था। देकार्त ने इसको विशद रूप दिया है। ईश्वर-विषयक ज्ञान से उनकी अनिवार्य सत्ता पृथक् नहीं की जा सकती। पूर्ण और अनन्त की कल्पना में अस्तित्व का भी समावेश हो जाता है। यदि ईश्वर में अस्तित्व की कमी हो, तो उस अंश में वे अपूर्ण होंगे और 'अपूर्ण ईश्वर' वदतोव्याघात है। संसार के सब पदार्थ अपूर्ण हैं। अतः उनके विचारमात्र से उनकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती। किन्तु ईश्वर पूर्ण हैं। अतः उनके विषय में विचारमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। यह अनुमान नहीं है। "मैं हूँ" के समान यह भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष है।

तृतीय है, कार्य-कारण-भाव-मूलक तर्क। कार्य-कारण-भाव एक स्वतःसिद्ध मौलिक अनुभव है। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य नहीं होता। असत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मेरी बुद्धि में 'ईश्वर है' ऐसा विचार उत्पन्न होता है। इस विचार का भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। यह विचार पूर्ण और अनन्त ईश्वर का विचार है। अतः इसका कारण भी पूर्ण और अनन्त होना चाहिए, क्योंकि कारण कार्य से न्यून नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को ही इस विचार का कारण मानना पड़ता है। यदि ईश्वर नहीं होते तो हमारी बुद्धि में पूर्ण और अनन्त ईश्वर का विचार भी नहीं उत्पन्न होता। यह विचार इन्द्रियानुभव से उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियाँ कभी पूर्ण और अनन्त का ज्ञान नहीं कर सकतीं। वे केवल परिमित और अस्त-व्यस्त विशेषों का ही संवेदन कर सकती हैं। इस संवेदन में ज्ञान का अंश क्षीण और धुंधला रहता है। इसीलिए इन्द्रियानुभव को बुद्धि द्वारा पुष्ट करना पड़ता है। वह विचार मेरी बुद्धि की कल्पना भी नहीं हो सकता, क्योंकि मेरी बुद्धि परिमित, अल्पज्ञ और अपूर्ण है और यह विचार पूर्ण और अनन्त ईश्वर विषयक विचार है। अतः स्वयं ईश्वर को ही इस विचार का कारण मानना पड़ता है। इसलिए ईश्वर

[की सत्ता सिद्ध है। सत्तामूलक अनुभूति के तर्क द्वारा ईश्वर की सत्ता ईश्वर-विषयक **विचारमात्र** से सिद्ध की गई है। 'ईश्वर की पूर्णता में सत्ता का भी समावेश है'––इस प्रकार की निर्विकल्प अनुभूति के आधार पर यह तर्क उपस्थित किया गया है कि यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होती तो वे पूर्ण नहीं होते और चूँकि ईश्वर की पूर्णता निर्विकल्प अनुभूति से सिद्ध है अतः ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध है। कार्यकारणभावमूलक तर्क द्वारा ईश्वर को मानवी बुद्धि में उत्पन्न ईश्वरविषयक **विचार का कारण** मानकर उनकी सत्ता सिद्ध की गई है। यही इन दोनों तर्कों में भेद है।

चतुर्थ है, निमित्त-कारण-मूलक तर्क। यह तर्क कार्य-कारण-भाव-मूलक तर्क का ही रूपान्तर है। भेद इतना ही है कि कार्य-कारण-भाव-मूलक तर्क ईश्वर को मानवी बुद्धि में उत्पन्न ईश्वरविषयक विचार का कारण मानकर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है, और निमित्त-कारण-मूलक तर्क ईश्वर को इस सम्पूर्ण सृष्टि का निमित्त-कारण मानकर उनकी सत्ता सिद्ध करता है। इन दोनों तर्कों में हम कार्य से कारण की ओर जाते हैं, कार्य के आधार पर कारण की सत्ता सिद्ध करते हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि परिमित और सान्त है। यह जड है और कार्यरूप है। अचित् या जड तत्व स्वयं सृष्टि की रचना नहीं कर सकता।[1] वह केवल उपादान कारण बन सकता है और चेतन निमित्त कारण की अपेक्षा रखता है। बिना चेतन निमित्त-कारण के सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। यह निमित्त कारण ईश्वर है। यदि परिमित और सान्त की सत्ता है, तो अपरिमित और अनन्त भी होना चाहिए। यदि कार्य है, तो कारण भी होना चाहिए। और ईश्वर ही यह अपरिमित और अनन्त कारण हैं। ईश्वर कारण-रूप ही हैं (Causa Sui)। वे स्वयं कार्यरूप नहीं हैं। यदि उनको भी कार्य माना जाय, तो फिर ईश्वर का भी कोई अन्य कारण खोजना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए देकार्त बहुत प्रयत्नशील और उत्सुक हैं। वे ईश्वर-सिद्धि को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं क्योंकि ईश्वर को सिद्ध किये बिना उनका दर्शन "मैं हूँ" से आगे नहीं बढ़ता। ज्ञाता की अनिवार्य सत्ता सिद्ध करने के बाद बाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध करने के लिए ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। ईश्वर की सत्ता सिद्ध होते ही बाह्य जगत् की सिद्धि भी ईश्वर की सृष्टि के रूप में हो जाती है। बाह्य जगत् प्रवञ्चना नहीं हो सकता क्योंकि वह ईश्वर-सृष्ट है और ईश्वर प्रवञ्चक नहीं हैं।

यहाँ पर देकार्त के सामने दो कठिन समस्या उपस्थित हैं। प्रथम यह है कि ईश्वर की सिद्धि जगत् के निमित्तकारण के रूप में की जा रही है और जगत् की सिद्धि ईश्वर की सत्य सृष्टि के रूप में। क्या यह अन्योन्याश्रय दोष नहीं है?

---

१. वेदान्त द्वारा कृत सांख्य का खण्डन।

देकार्त उत्तर है कि "मैं हूँ" की स्वतःसिद्धि होते ही, एक साथ, ईश्वर और जगत् दोनों की सिद्धि हो जाती है। वैसे, जगत् अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर अपनी सत्ता के लिए जगत् पर निर्भर नहीं हैं। ज्ञाता की सिद्धि होते ही ज्ञेय के रूप में जगत् की भी सिद्धि हो जाती है और ईश्वर-सृष्ट होने के कारण उसकी सत्ता और पुष्ट हो जाती है। इसी प्रकार, ईश्वर विषयक-विचारमात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो जाती है, और सृष्टि का निमित्त-कारण होना उनकी सत्ता के लिए एक और प्रमाण है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण न माना जाय, तो ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी या ईश्वर सृष्टिकर्ता ही न रहेंगे। अस्तु। यदि इसे समस्या का समाधान मान लें, तो भी एक दूसरी और जटिल समस्या है। वह यह है कि ज्ञाता की सत्ता से ईश्वर की सत्ता और ईश्वर की सत्ता से ज्ञाता की सत्ता सिद्ध की गई है। इस अन्योन्याश्रय दोष का समाधान कैसे होगा? देकार्त का उत्तर है कि वास्तव में ज्ञाता की और ईश्वर की, दोनों की ही, सत्ता अनुमान से सिद्ध न करके निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सिद्ध की गई है। "मैं ज्ञाता हूँ, अतः मेरी सत्ता अनिवार्य है"—यह निगमन तर्क नहीं है, किन्तु स्वतःसिद्ध अनुभूति है। "ईश्वर की पूर्णता में उनकी सत्ता अन्तर्निहित है"—यह निगमन तर्क नहीं है, यह भी स्वतःसिद्ध अनुभूति है। अतः ज्ञाता और ईश्वर दोनों स्वतःसिद्ध हैं और इनकी सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि अनुभूति होती है आत्मा को और आत्मा स्वयं अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है, तब आत्मा में होने वाला निर्विकल्प प्रत्यक्ष, जो अपनी सत्ता के लिए स्वयं ईश्वर पर निर्भर है, ईश्वर की सत्ता कैसे सिद्ध करेगा?—तो इसका उत्तर है कि सत्ता और ज्ञान के दृष्टिकोणों का भेद समझ लेने पर इस शंका का समाधान हो जाता है। सत्ता की दृष्टि से ईश्वर पहले हैं और आत्मा बाद में। ज्ञान की दृष्टि से आत्मा की सत्ता का ज्ञान पहले होता है और ईश्वर की सत्ता का ज्ञान बाद में। ईश्वर की सत्ता प्राथमिक है और आत्मा अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित है। किन्तु ज्ञान होता है पहले आत्मा की सत्ता का और फिर ईश्वर की सत्ता का। ईश्वर स्वानुभूति की सत्ता के कारण हैं (Ratio Essendi) और स्वानुभूति ईश्वर की सत्ता के ज्ञान का कारण है (Ratio Cognoscendi)।

इस प्रकार देकार्त तत्व-त्रय अर्थात् ईश्वर, चित् और अचित् को सिद्ध करते हैं। ये तीनों तत्व अर्थात् द्रव्य हैं। किन्तु देकार्त की द्रव्य की परिभाषा के अन्तर्गत ये तीनों नहीं आते। देकार्त के अनुसार द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए अन्य वस्तु की अपेक्षा न हो। इस परिभाषा के अनुरूप तो ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य हैं, क्योंकि केवल उन्हीं की स्वतन्त्र सत्ता है। फिर चित् और अचित् को, जो दोनों अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर आश्रित हैं, द्रव्य कैसे

कहा जाता है? देकार्त इस विषम परिस्थिति से बचने के लिए द्रव्य के दो विभाग कर देते हैं--निरपेक्ष या पर द्रव्य और सापेक्ष या अपर द्रव्य। ईश्वर ही एकमात्र स्वतन्त्र और निरपेक्ष द्रव्य हैं। चित् और अचित् दोनों सापेक्ष द्रव्य हैं, क्योंकि दोनों अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं। इन दोनों को 'द्रव्य' इसलिए कहा जाता है कि ये दोनों परस्पर-सापेक्ष न होकर केवल ईश्वर-सापेक्ष हैं। चित् और अचित् दोनों परस्पर-स्वतन्त्र हैं; यदि वे परतन्त्र हैं तो केवल ईश्वर पर। ईश्वर-परतन्त्र होने से उनके 'द्रव्यत्व' की क्षति नहीं होती। इस प्रकार तीन द्रव्य सिद्ध हुये--एक तो ईश्वर जो 'पर द्रव्य' (Absolute Substance) हैं; दूसरा, जीव जो 'चेतन द्रव्य' (Thinking Substance) है; और तीसरा, जड जगत् जो 'विस्तृत द्रव्य' (Extended Substance) है।

प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय होते हैं। ईश्वर के अनन्त गुण और अनन्त पर्याय हैं। चित् का मूल गुण है चैतन्य और अचित् का मूल गुण है विस्तार। चित् और अचित् को परस्पर स्वतन्त्र और विलक्षण मानने के कारण, इस द्वैत-वाद के कारण, देकार्त को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। यदि चित् और अचित् परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र हैं, तो उनका संयोग कैसे हो सकता है? देकार्त ने इस विषय में ईश्वर की शरण ली है। किन्तु ईश्वर भी इस द्वैतवाद के दोषों को मुक्ति नहीं दे सके। पाश्चात्य और पौरस्त्य, सभी द्वैतवादों में यह दोष आता है और कोई भी द्वैतवाद इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाया है। जैन दर्शन के जीव और अजीव, सांख्य के पुरुष और प्रकृति, रामानुज के चित् और अचित्--सभी इस दोष से ग्रस्त हैं। इसका एक ही समाधान है कि इन दोनों को परस्पर स्वतन्त्र और विलक्षण द्रव्य न मानकर ईश्वर का आभासमात्र माना जाय, और यह समाधान द्वैतवादियों को अमान्य है। फलतः द्वैतवादियों ने इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में अपनी-अपनी असंगत कल्पनायें की हैं। देकार्त की कल्पना है चिदचित्संयोगवाद अर्थात् चित् और अचित् में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध। एक की क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। क्यों? इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं। देकार्त की एक और असंगत कल्पना है। वह यह कि शरीर की एक विशेष ग्रन्थि (Pineal Gland) इन दोनों की, जीव और शरीर की, मिलन-शय्या है। जड जगत् एक उद्देश्यहीन यन्त्र है जिसे ईश्वररूपी चेतन चालक चला रहा है। जड में चैतन्य नहीं और चित् में परिमाण या विस्तार या आकार नहीं। पशुओं में चैतन्य नहीं है, क्योंकि देकार्त के अनुसार चैतन्य और विवेक एक ही है। इसलिए जीवित पशु भी यन्त्रवत् हैं। मनुष्य का शरीर भी यन्त्रवत् है। टूटते हुए यन्त्र की खड़खड़ाहट और मुमूर्षु पशु की चीत्कार में कोई अन्तर नहीं! पशुओं में और मानव-शरीर में स्नायु और मांस-पेशियों के संचालन से गति उत्पन्न होती है। किन्तु मनुष्यों में चैतन्य है, और यही मानव-जीवन की

महिमा है। देह का प्रभाव चैतन्य पर और चैतन्य का प्रभाव देह पर क्यों पड़ता है? शरीर पर आघात पहुँचने से चैतन्य लुप्त क्यों हो जाता है और चैतन्य के चिन्ता-ग्रस्त होने से शरीर दुर्बल क्यों होता है? आदि प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं सिवाय इसके कि ईश्वर की यही इच्छा है कि एक की क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया हो।

यह है देकार्त के दर्शन का परिचय। पहले कहा जा चुका है कि देकार्त का महत्व उनकी सन्देह-पद्धति और ज्ञाता के अनिवार्य अस्तित्व—इन दो बातों के कारण है। यह दर्शन का मूलाधार है। देकार्त ने यह पक्की नींव डाली है। इस नींव पर उन्होंने जो प्रासाद बनाया, वह ढह चुका है, किन्तु नींव अभी भी वैसी ही स्थित है और दार्शनिक प्रासाद इसी पर बनते-बिगड़ते रहे हैं। देकार्त ने आत्मा की स्वतःसिद्धता और स्वप्रकाशता प्रमाणित करके भी आत्मा का महत्व नहीं समझा। आत्मा अद्वय तत्व है। यह अद्वैत तत्व ही स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। यह बिचारा जीवात्मा क्या स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश होगा! आत्मबहुत्ववाद हास्यास्पद दोष है। इसी प्रकार चित् और अचित् को 'द्रव्य' मानना भी भारी भूल है। यह द्वैतवाद अनेक दोषों का मूल है। अचित् को यन्त्रवत् और निरुद्देश्य समझना तथा पशुओं को अचेतन मानना भी विचित्र है। ईश्वर के लिए दिये गये प्रमाण भी अकाटच नहीं हैं। आगे चलकर कान्ट ने इन सबका खण्डन किया है। इन सब प्रमाणों से केवल 'ईश्वरविषयक विचार' की सत्ता सिद्ध होती है, स्वयं ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इनसे यही सिद्ध होता है कि हमारे विचार में ही ईश्वर की सत्ता है—यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर की वास्तविक सत्ता भी है। ईश्वर सृष्टिकर्ता भी सिद्ध नहीं होते, क्योंकि यदि कार्य से कारण की अभिव्यक्ति भी हो, तो अधिक-से-अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि इस सृष्टि-कार्य का कारण अवश्य होना चाहिये। यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वह कारण पूर्ण, अनन्त और चेतन ईश्वर ही है? और फिर, देकार्त ने ईश्वर का स्वरूप भी ठीक-ठीक नहीं समझा। ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानना और उनका सृष्टि से ऊपर दिव्य लोक में निवास आदि मानना व्यर्थ की कल्पना है। इससे स्रष्टा के साथ सृष्टि का कोई आन्तर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। पुनश्च, चित् और अचित् का क्रिया-प्रतिक्रियावाद भी असंगत और दोषपूर्ण है। इन सब दोषों और असंगतियों के होते हुए भी, देकार्त अपनी सन्देह-पद्धति और ज्ञाता की स्वप्रकाशता के सिद्धान्त के कारण पाश्चात्य दर्शन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रहेंगे।

देहात्मनिमित्तवाद (Occasionalism) :—

आरनोल्ड ग्यूलिंक्स (१६२४–१६६९) और **निकोलस मेलेब्रांच** (१६३८–१७१५) :—देकार्त के उत्तराधिकारियों में ग्यूलिंक्स (Geulincx) और मेलेब्रांच (Malebranche) प्रसिद्ध हैं। देकार्त के देह और आत्मा के द्वैतवाद को

पिघलाकर इन लोगों ने क्रिया-प्रतिक्रियावाद के दोषों को दूर करने का प्रयास किया। देकार्त ने तो यही कहकर सन्तोष कर लिया था कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है कि देह और आत्मा के संयोग के कारण इन दोनों में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया हो, किन्तु देकार्त के इन उत्तराधिकारियों ने ईश्वर पर और अधिक भार डालना ही उचित समझा। इनको 'ईश्वर की इच्छा' से ही सन्तोष नहीं हुआ। इन्होंने ईश्वर पर सक्रिय उत्तरदायित्व का भार डालना आवश्यक माना। इन दोनों ने कहा कि यदि देह और आत्मा परस्पर भिन्न हैं तो उनका वास्तविक संयोग नहीं हो सकता। देह का धर्म है गति और आत्मा का धर्म है चैतन्य। समस्या यह है कि शारीरिक गति का प्रभाव चैतन्य पर और चैतन्य का प्रभाव शारीरिक गति पर कैसे पड़ सकता है? इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर इन्द्रिय-संवेदन होता है जो प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत होता है। ज्ञान के आदेशानुसार, विविध अर्थों की प्राप्ति या परिहार के लिए, शरीर कर्म करता है। आत्मा का धर्म है ज्ञान और शरीर का धर्म है कर्म। ज्ञान और कर्म में स्वतः परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः इस सम्बन्ध का कारण ईश्वर को ही मानना पड़ेगा। किसी आत्मा में प्रत्यक्षज्ञान होते ही ईश्वर उस आत्मा के शरीर को तदनुसार कर्म करने की प्रवृत्ति प्रदान करते हैं; और इसी प्रकार किसी शरीर में कर्म होता देखकर ईश्वर उस शरीर की आत्मा को तदनुसार सम्वेदन करने की क्षमता प्रदान करते हैं। अतः वास्तव में न तो ज्ञान का कारण आत्मा है और न कर्म का कारण शरीर, क्योंकि दोनों के ही वास्तविक कारण हैं ईश्वर। मेरी इच्छा या आदेश से मेरा शरीर कर्म नहीं करता; ईश्वर की इच्छा से करता है। मेरी इच्छा निमित्तमात्र है; मेरे शारीरिक कर्मों के शक्त कारण ईश्वर हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मेरे ज्ञान का निमित्तमात्र है; उसके शक्त कारण हैं ईश्वर। ग्यूलिंक्स ने कहा—ईश्वर के कारण मेरा शरीर कर्म करता है। मेलेब्रांच ने कहा—ईश्वर के कारण मेरी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस निमित्तवाद के कारण आत्मा और शरीर तो क्रमशः ज्ञान और कर्म के निमित्तमात्र बनकर छूट जाते हैं, किन्तु ईश्वर को असंख्य आत्माओं और असंख्य शरीरों के प्रत्येक ज्ञान और कर्म के अवसर पर सक्रिय उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है! इस हास्यास्पद सिद्धान्त से एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि देकार्त का द्वैतवाद पिघला दिया गया। चित् और अचित् अब स्वतन्त्र 'द्रव्य' न रहकर 'निमित्त' मात्र रह गये। स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद की भूमिका तैयार हो गई। ग्यूलिंक्स ने आत्मा के द्रव्यत्व का अपहरण किया; मेलेब्रांच ने शरीर के द्रव्यत्व का, और स्पिनोज़ा ने दोनों के द्रव्यत्व का।

अष्टम अध्याय

बुद्धिवाद: स्पिनोज़ा

बेनेडिक्टस स्पिनोज़ा (१६३२–१६७७):—स्पिनोज़ा (Benedictus Spinoza) पश्चिम के एक महान् दार्शनिक हैं। उनका जन्म हॉलैण्ड के एमस्टरडम नगर में बसे हुए एक धनी यहूदी परिवार में हुआ था। प्रारंभ में उन्होंने यहूदी धर्म-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों के कारण उन्हें धार्मिक अन्धविश्वासों से अरुचि हो गई और इन विचारों के कारण ही यहूदी समाज ने, उनके बान्धवों और मित्रों ने, उन्हें बहिष्कृत कर दिया। ईसाई समाज भी उनसे, यहूदी होने के कारण, वैसे ही घृणा करता था और उनके विचारों के कारण, जो ईसाई धर्मविश्वासों के भी प्रतिकूल पड़ते थे, उनसे और अधिक द्वेष रखने लगा। यहूदी और ईसाई दोनों समाजों के विद्वेष के कारण स्पिनोज़ा को बहुत कष्टमय जीवन बिताना पड़ा। किन्तु उन्होंने अपने विचार नहीं बदले। उनको विविध प्रलोभन दिये गये, किन्तु उन्होंने सबको ठुकरा दिया। न उन्हें धन का लोभ था और न सांसारिक वैभव का। यदि वे चाहते तो राजसी वैभव का जीवन व्यतीत कर सकते थे, किन्तु उन्होंने सांसारिक सुखों के बदले अपनी आत्मा को बेचना स्वीकार नहीं किया। वे सत्य के ही भक्त रहे। दर्शन की उपासना में ही उन्होंने जीवन अर्पण कर दिया। स्पिनोज़ा ने ऋषि-तुल्य जीवन बिताया। पश्चिम के दार्शनिकों में विरले ही होंगे जिन्होंने इतना त्यागमय और कष्टमय जीवन हँसते-हँसते बिताया हो। वे आजन्म अविवाहित रहे। चश्मों के शीशे बनाकर वे अपना उदर-पोषण करते थे। पिता की सारी सम्पत्ति वे अपनी बहिन को दे चुके थे। फ्रान्स के सम्राट लुई १४वें ने उनसे कहलाया था कि यदि वे अपनी पुस्तक सम्राट् को समर्पण करें तो उनकी वृत्ति का समुचित प्रबन्ध कर दिया जायगा। स्पिनोज़ा ने विनयपूर्वक प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उनके एक धनी प्रशंसक और भक्त अपनी सारी सम्पत्ति उनको देना चाहते थे, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया, और अत्यधिक प्रेमानुरोध के कारण, जीवननिर्वाह के लिए नाममात्र लेना स्वीकार किया। हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय ने उनको दर्शनाध्यक्ष के पद पर आमन्त्रित किया, किन्तु वे नहीं गये। उनके विरोधियों ने उनकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु वे बच गये। धर्म के ठेकेदारों ने उनको "निन्दनीय नास्तिक" की उपाधि से भूषित किया, उनके ग्रन्थों के छपने का उग्र विरोध किया, किन्तु स्पिनोज़ा साहसपूर्वक हँसते हुए अपने ही मार्ग पर चलते रहे।

स्पिनोज़ा विलक्षण प्रतिभाशाली थे। वे कई भाषाओं के पण्डित थे। गणित और दर्शन में उनकी विशेष रुचि थी। वे दर्शन को केवल बौद्धिक नटविद्या नहीं मानते थे। उन्होंने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया और अपने सिद्धान्तों को जीवन में उतारा। उनका प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'आचारशास्त्र' (Ethica) है। बड़े-बड़े विद्वानों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। लाइबनित्ज़ भी उनमें से एक थे जिनसे उनका पत्र-व्यवहार होता था।

यों तो स्पिनोज़ा पर यहूदी और ईसाई धर्मपण्डितों के विचारों का, एरिस्टॉटल, प्लेटो और प्लोटाइनस आदि का एवं पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव उन पर पड़ा निकोलस, ब्रूनो और देकार्त का। उनकी पुस्तक "आचारशास्त्र" (Ethica) के विषय में एक महाशय की उक्ति है--"आजतक की लिखी पुस्तकों में यह सबसे विचित्र है--इसकी रचना हुई है लेटिन भाषा में, शैली इसकी है रेखागणित की, ग्रीक दर्शन की तरह यह विज्ञानवादी है, विषय इसका इटली (ब्रूनो) का है, नींव इसकी फ्रान्सीसी (देकार्त की) है और विश्वास इसके हिब्रू हैं।" स्पिनोज़ा के दर्शन की नींव ब्रूनो के सर्वेश्वरवाद और देकार्त के बुद्धिवाद के सामञ्जस्य पर पड़ी है।

स्पिनोज़ा में पाइथेगोरस, प्लेटो और देकार्त का गणितप्रेम और अधिक प्रस्फुट हुआ। देकार्त की इच्छा दर्शन को गणित की सुदृढ़ नींव पर खड़े करने की थी और इसका उन्होंने प्रयास भी किया, किन्तु इस कार्य को पूरा किया स्पिनोज़ा ने। जैसे यूक्लिड की ज्यामिति में मौलिक नियमों से उपनियम निकलते हैं और अन्य बातें सिद्ध की जाती हैं, वैसे ही स्पिनोज़ा के दर्शन में मौलिक नियमों से अन्य सिद्धान्त निकलते चले जाते हैं। स्पिनोज़ा अपनी प्रखर प्रतिभा से जिस सूत्र को पकड़ते हैं उसके छोर का पता लगाये बिना उसे नहीं छोड़ते। कुछ विद्वानों का मत है कि स्पिनोज़ा की प्रतिभा विश्लेषणात्मक (Vertical) अधिक रही, संश्लेषणात्मक (Horizental) कम। उन्होंने विविध सूत्रों को पकड़कर उनका अन्त पाने का प्रयत्न तो किया, किन्तु जब ये सूत्र आपस में उलझ गये तो इनको सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। स्पिनोज़ा एक-एक सिद्धान्त का विश्लेषण करके उसके अन्त तक पहुँचने का प्रयत्न करते रहे, किन्तु इन सिद्धान्तों के परस्पर विरोध को मिटा कर उनका संश्लेषण करने का कार्य उन्होंने नहीं किया।

स्पिनोज़ा के दर्शन का आधार देकार्त के कुछ मूल विचार हैं जिनको स्पिनोज़ा ने सुधारा, सँवारा, बढ़ाया और अपनाया। देकार्त के समान स्पिनोज़ा भी कट्टर बुद्धिवादी हैं। वे भी इस बात को मानते हैं कि निर्विकल्प अनुभूति के मौलिक नियमों की सहायता से बुद्धि निश्चयात्मक और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखती है; कि इस ज्ञान का आदर्श गणित, विशेषतः रेखागणित है; कि ज्ञान का उद्गम इन्द्रियानुभव में न होकर बुद्धि के सार्वभौम नियमों में है।

द्वितीय, देकार्त का द्रव्य, गुण और पर्याय का विभाजन और इनकी परिभाषायें स्पिनोज़ा को मान्य हैं, किन्तु इनके आधार पर देकार्त ने जो सिद्धान्त बनाये उनसे स्पिनोज़ा बिलकुल सहमत नहीं हैं। तृतीय, देकार्त का सिद्धान्त कि जगत् यन्त्रवत् है, उन्हें मान्य है और देकार्त के आगे बढ़कर उन्होंने जीव को भी यन्त्रवत् मान लिया, किन्तु देहात्मसंयोग और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त स्पिनोज़ा को मान्य नहीं। स्पिनोज़ा के दर्शन में देकार्त का द्वैतवाद अद्वैतवाद में, ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद में और क्रिया-प्रतिक्रियावाद समानान्तरवाद में परिणत हो जाता है।

देकार्त के ये विचार कि दर्शन सत्य की खोज है, कि सत्य के स्वतःसिद्ध और प्रमाणजन्य दो रूप हैं, कि दर्शन की पद्धति सन्देह को साधन मानकर चलने की है, कि ज्ञाता की स्वतःसिद्धता और स्वप्रकाशता अनिवार्य है, कि पदार्थों को द्रव्य, गुण और पर्याय में विभक्त किया जा सकता है, स्पिनोज़ा को मान्य हैं। किन्तु देकार्त ने जो भूलें कीं उनको स्पिनोज़ा ने सुधारा। देकार्त ने आत्मा को स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश तो माना, किन्तु आत्मा के महत्व को नहीं समझा। आत्मा उनके लिये जीवात्मा ही रहा। स्पिनोज़ा ने बताया कि जीव को स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता। वास्तविक आत्मा परमात्मा है। परमात्मा अद्वैतस्वरूप हैं। यह परमात्मा ही स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश हैं, जीवात्मा नहीं। द्रव्य के विषय में देकार्त ने दो प्रकार का द्वैत माना था—एक तो परद्रव्य और अपर द्रव्य का द्वैत, और दूसरा चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का द्वैत। स्पिनोज़ा ने पहले द्वैत को असंगत कह कर ठुकरा दिया और दूसरे द्वैत को संशोधित रूप में स्वीकार किया। संशोधन यह किया कि इस द्वैत को द्रव्य के स्तर से उतार कर गुण के स्तर पर रख दिया, अर्थात् चेतन द्रव्य और विस्तृत द्रव्य का तात्विक द्वैत स्वीकार न करके केवल चैतन्य गुण और विस्तार गुण का गौण द्वैत स्वीकार किया। स्पिनोज़ा ने बताया कि जब देकार्त द्रव्य को स्वतन्त्रसत्ताशील मानते हैं, तब चित् और अचित् को द्रव्य कैसे मान सकते हैं? चित् और अचित् दोनों ईश्वर-परतन्त्र हैं; उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः वे द्रव्य नहीं हैं। एकमात्र ईश्वर ही द्रव्य कहे जाने के पात्र हैं, क्योंकि केवल उन्हीं की स्वतन्त्र सत्ता है। 'अपर द्रव्य' या 'सापेक्ष द्रव्य' वदतोव्याघात है। वस्तुतः देकार्त भी इस विरोध को जानते थे, किन्तु चर्च के भय के कारण शायद उनको यह स्पष्ट करने का साहस नहीं हुआ और उन्होंने 'ईश्वर-परतन्त्र होने से स्वतन्त्रता की क्षति नहीं होती' यह कहकर ही सन्तोष की साँस ले ली। स्पिनोज़ा ने चित् और अचित् को द्रव्य के पद से उतारकर गुण के पद पर बैठा दिया। चित् और अचित् दोनों ईश्वर के गुण हैं। चित् का अर्थ चैतन्य और अचित् का अर्थ विस्तार है। इस प्रकार देकार्त का द्वैतवाद स्पिनोज़ा में अद्वैतवाद बन गया। देकार्त ने जो ईश्वर का स्वरूप बताया वह भी दोषपूर्ण था। देकार्त के ईश्वर सृष्टि के कर्ता

और नियन्ता बनकर सृष्टि के पार अपने दिव्य लोग में बिराजते हैं। उनका सृष्टि के साथ कोई साक्षात् और आन्तर सम्बन्ध नहीं। वे सृष्टि के निमित्त कारण ही हैं। स्पिनोज़ा ने ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों मानकर ईश्वर और सृष्टि का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया। ईश्वर सृष्टि के ऊपर दिव्य लोक में नहीं बिराजते और न वे साकार हैं। ब्रूनो के सामान स्पिनोज़ा ने कहा कि ईश्वर सृष्टि के अणु-अणु में रम रहे हैं। वे अन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनका शरीर है। सृष्टि ईश्वर के बाहर नहीं, भीतर है। जो कुछ है, सब ईश्वर-रूप है। इस प्रकार देकार्त का ईश्वरवाद स्पिनोज़ा में सर्वेश्वरवाद बन गया। स्पिनोज़ा ने देकार्त के देहात्मक्रिया-प्रतिक्रियावाद को असंगत बताकर अपने समानान्तरवाद की पुष्टि की। निमित्तवादियों ने देह और आत्मा को निमित्त मात्र मानकर ईश्वर को ही शक्तकारण माना था। स्पिनोज़ा ने कहा कि देह और आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तो हैं नहीं, ये ईश्वर के विस्तार और चैतन्य नामक गुण हैं, जो दो समानान्तर धाराओं के रूप में बह रहे हैं। इनका संयोग या क्रिया-प्रतिक्रिया मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार देकार्त का क्रिया-प्रतिक्रियावाद स्पिनोज़ा में समानान्तरवाद में बदल गया।

द्रव्य, गुण और पर्याय—ये तीन स्पिनोज़ा के दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो। गुण हैं द्रव्य के स्वरूप-धर्म अर्थात वे धर्म जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। पर्याय या प्रकार हैं द्रव्य के परिणामी धर्म। इन तीनों पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है।

पहले द्रव्य पर विचार करें। स्पिनोज़ा की परिभाषा के अनुसार "द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिये किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो।" द्रव्य का लक्षण है स्वातन्त्र्य। जो अपने अस्तित्व और ान के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हो वही द्रव्य है। द्रव्य के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व या ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि सब पदार्थ अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिये द्रव्य पर निर्भर हैं। किन्तु द्रव्य किसी पर निर्भर नहीं। द्रव्य वह है जो स्वयं किसी पर निर्भर न हो और जिस पर सब कुछ निर्भर हो। द्रव्य की इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें निकलती हैं:—

(१) द्रव्य स्वतन्त्र है। वह अपनी सत्ता या अपने ज्ञान के लिये किसी पर निर्भर नहीं।

(२) द्रव्य निरपेक्ष है। उसे अपनी सत्ता या अपने ज्ञान के लिये किसी की अपेक्षा नहीं।

(३) द्रव्य अपरिच्छिन्न या अपरिमित है। परिमित होने का अर्थ है किसी पर आश्रित होना और द्रव्य किसी पर आश्रित नहीं हो सकता।

(४) द्रव्य अद्वितीय है। यदि उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हो, तो वह परिमित बन जायगा और अपनी सीमा के लिये उस वस्तु पर आश्रित हो जायगा। जो अद्वितीय है उसी की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। द्वैत होते ही स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। दो वस्तुयें कभी स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकतीं। वे एक दूसरे को परिच्छिन्न कर देती हैं। उनमें कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है और सम्बन्ध होते ही वे परस्पर सापेक्ष और परतन्त्र हो जाती हैं।

(५) द्रव्य स्वतःसिद्ध और स्वयंज्योति है क्योंकि वह अपनी सत्ता और ज्ञान के लिये किसी पर आश्रित नहीं है।

(६) द्रव्य स्वयंभू है। वह अपना कारण स्वयं है। उसका कोई कारण या जनक नहीं हो सकता। वही सबका कारण है, उसका कोई कारण नहीं है। यदि द्रव्य का भी कोई कारण माना जाय तो वह परतन्त्र और सापेक्ष हो जायगा। और इस प्रकार अनवस्था दोष भी आयगा।

(७) द्रव्य पूर्ण है। उसे किसी की कमी नहीं। वह आप्तकाम है। जो अपूर्ण है वह स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता।

(८) द्रव्य नित्य है। यदि वह अनित्य हो तो अपूर्ण हो जायगा और विनाश के आधीन हो जायगा।

(९) द्रव्य अन्तर्यामी है। द्रव्य ही सृष्टि के अणु अणु में व्याप्त है। सब कुछ द्रव्य पर आश्रित है। द्रव्य सब में है और सब कुछ द्रव्य में है। द्रव्य से भिन्न कुछ नहीं है।

(१०) द्रव्य निर्गुण और अनिर्वचनीय है। हमारी वाणी और बुद्धि की पहुँच द्रव्य तक नहीं। बुद्धि द्रव्य की ओर संकेत करती है, किन्तु उसे पूर्णरूप में नहीं जान सकती। वह निर्विकल्प अनुभूति का विषय है। गुण बुद्धि के विकल्प हैं। किसी वस्तु का गुण बताना उस वस्तु को उस गुण द्वारा परिच्छिन्न करना है। किसी वस्तु का निर्वचन करना उसे उस अंश में सीमित करना है। सीमा या परिच्छेद का अर्थ है अन्य गुणों का निषेध। जैसे किसी वस्तु को श्वेत कहना उसमें काले, पीले, लाल आदि गुणों का निषेध करना है। द्रव्य अपरिच्छिन्न है, अतः निर्गुण और अनिर्वचनीय है। यद्यपि हमारी दृष्टि से द्रव्य समस्तगुण-सम्पन्न है, तथापि वस्तुतः निर्गुण और अनिर्वचनीय ही है।

इस स्वतन्त्र, अपरिमित और अद्वितीय द्रव्य को स्पिनोज़ा ने ईश्वर के नाम से निर्दिष्ट किया है। ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है। स्पिनोज़ा के ईश्वर यहूदी और ईसाई धर्मों के ईश्वर से भिन्न हैं। धर्म के ईश्वर सगुण और पुरुषविशेष या पुरुषोत्तम हैं। स्पिनोज़ा के ईश्वर निर्गुण और अद्वितीय हैं। देकार्त ने तीन द्रव्य माने थे। स्पिनोज़ा ने एकमात्र ईश्वर को ही द्रव्य माना है। चित् और अचित,

स्वतन्त्र न होने के कारण, द्रव्य नहीं कहे जा सकते। वे ईश्वर के गुण मात्र हैं। देकार्त के ईश्वर धर्म के ईश्वर हैं। स्पिनोज़ा के ईश्वर दर्शन के ईश्वर हैं। देकार्त के ईश्वर सृष्टि-कर्ता और जगन्नियन्ता हैं और सृष्टि के ऊपर अपने दिव्य लोक में विराजते हैं। सृष्टि उनके बाहर है। उनका सृष्टि से कोई आन्तर सम्बन्ध नहीं। स्पिनोज़ा के ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी हैं। सृष्टि उनके बाहर नहीं, उनके भीतर है। वे सृष्टि में हैं और सृष्टि उनमें है। सृष्टि उनका शरीर है, वे सृष्टि के प्राण हैं। ईश्वर द्रव्य हैं और सृष्टि उनके गुण-पर्यायों का समूह।

ईश्वर और सृष्टि का सम्बन्ध तादात्म्यसम्बन्ध है। ईश्वर कारण हैं और सृष्टि कार्य। स्पिनोज़ा 'कारण' को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। उनके अनुसार, अद्वैत वेदान्त की भाँति, कारण और कार्य में तादात्म्यसम्बन्ध है। कारण-ही कार्य के रूप में प्रतीत होता है। कारण ही एकमात्र सत् है; कार्य की सत्ता कारण से आती है। ईश्वर सृष्टि के निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों हैं। स्पिनोज़ा ने कारण शब्द का प्रयोग 'अधिष्ठान' के अर्थ में किया है, साधारण अर्थ में नहीं। ईश्वर सृष्टि के वैसे कारण नहीं हैं, जैसे पिता पुत्र का कारण होता है या कुम्हार घड़े का। सृष्टि की स्थिति स्रष्टा के बाहर और उससे स्वतन्त्र नहीं रहती। सृष्टि ईश्वर का 'परिणाम' है, जैसे दूध जमकर दही बन जाता है या सेव पककर लाल हो जाता है। ईश्वर अधिष्ठान हैं जिनके कारण सृष्टि की प्रतीति हो रही है। सृष्टि ईश्वर से पृथक् सिद्ध नहीं है। ईश्वर सृष्टि से अलग रह कर उसको अपने से भिन्न रूप में उत्पन्न नहीं करते। सृष्टि ईश्वर के भीतर से बहकर बाहर नहीं निकल पड़ती। सृष्टि ईश्वर का 'स्वभाव' है, उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, किन्तु व्यक्त होकर भी उनके बाहर नहीं आती क्योंकि ईश्वर के बाहर कुछ है ही नहीं। ईश्वर स्वतन्त्र हैं। कोई उनको सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिये बाध्य नहीं करता। सृष्टि को व्यक्त करने में उनकी कोई 'इच्छा नहीं', क्योंकि वे आप्तकाम हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ है स्वाभाविक अनिवार्यता। स्वातन्त्र्य का अर्थ है स्वाराज्य अर्थात् न अराजकता और न परवशता। यदि किसी को कोई अन्य बाध्य करे तो वह परवश या परतन्त्र है; यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण या नियम या 'स्वभाव' न हो, तो यह उच्छृंखलता या अराजकता है; अपने शुद्ध ज्ञान या 'स्वभाव' द्वारा नियमित होना ही स्वातन्त्र्य या स्वाराज्य है। सृष्टि ईश्वर के स्वातन्त्र्य की स्वाभाविक और अनिवार्य अभिव्यक्ति है। सृष्टि के लिये ईश्वर की इच्छा या कोई अन्य प्रयोजन मानना असंगत है, क्योंकि 'ईश्वरेच्छा' मानने पर ईश्वर आप्तकाम न रहकर अपूर्ण बन जायँगे, और 'प्रयोजन' मानने पर, उस 'प्रयोजन' की सत्ता ईश्वर से भिन्न माननी पड़ेगी और तब ईश्वर 'प्रयोजन' से परिच्छिन्न हो जायँगे। जैसे प्रकाश से किरणों का निकलना स्वाभाविक है, जैसे हवा चलने पर जल का लहरों के रूप में प्रतीत होना

स्वाभाविक है, जैसे त्रिभुज की स्थिति मात्र से यह सिद्ध होना कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर है, स्वाभाविक है, वैसे ही ईश्वर से सृष्टि की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है।

सृष्टि का अर्थ है यह चिदचिद्रूप विश्व। विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है। ईश्वर और विश्व एक ही हैं। विश्व की ईश्वर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर ही विश्व में व्याप्त हैं। विश्व ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व ईश्वर में सीमित है, किन्तु ईश्वर विश्व में सीमित नहीं हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर भी विश्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ईश्वर विश्व में अन्तर्यामी हैं, किन्तु ईश्वर विश्व के पार भी हैं। वे अन्तर्यामी (Immanent) और पर (Transcendent) दोनों हैं। विश्व उनका शरीर है। वे विश्व की आत्मा हैं। विश्व उनके गुण-पर्यायों का समूह है। वे स्वयं द्रव्य हैं। और वे परात्पर निर्गुण और अनिर्वचनीय भी हैं।

स्पिनोज़ा ने ईश्वर के तीन रूप बताये हैं—विश्व, विश्वात्मा और पर। गुण और पर्यायों के समूह की दृष्टि से यह चिदचिद्रूप संसार, जो ईश्वर का नित्य शरीर है अर्थात् जो उनके स्वातन्त्र्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, ईश्वर का 'विश्वरूप' (Natura Naturata) है। द्रव्य की दृष्टि से अर्थात् विश्व के अन्तर्यामी अधिष्ठान की दृष्टि से इस चिद्चिद्रूप संसार-शरीर की आत्मा, ईश्वर का 'विश्वात्मरूप' (Natura Naturans) है। शरीर और आत्मा के सगुण रूप म प्रतीत होने वाला निर्गुण और अनिर्वचनीय तत्व ईश्वर का 'पर रूप' (Ens Absolutum Indeterminatum) है। विश्वरूप अपरिच्छिन्न है क्योंकि ईश्वर का शरीर है। यदि इस शरीर में विश्वात्मा न होती तो यह अपरिच्छिन्न नहीं होता, क्योंकि 'परिच्छिन्नों' का समूह, स्वयं अपरिच्छिन्न नहीं होता। विश्वात्मरूप अपरिच्छिन्न और व्यापक दोनों है। विश्व, गुणपर्यायों का समूह होने के कारण नहीं, किन्तु विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण, असीमित तो है, किन्तु व्यापक नहीं है। शरीर अपने अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त नहीं रहता; आत्मा ही शरीर के अंग प्रत्यंगों में व्याप्त हो सकती है। ईश्वर स्वतः निर्गुण और अनिवर्चनीय हैं। सगुण का अर्थ है सीमित और सीमित का अर्थ है परतन्त्र। ईश्वर स्वतन्त्र हैं, अतः सगुण नहीं हो सकते। वस्तुतः ईश्वर का कोई निर्वचन शक्य नहीं, क्योंकि निर्वचन करते ही बुद्धि के विकल्प ईश्वर को सीमित कर देते हैं। निर्वचनमात्र निषेधात्मक है—Determinatio negatio est। गुण हमारी बुद्धि के धर्म हैं, अतः सगुण ईश्वर मनुष्य-सृष्ट ईश्वर है। वास्तविक ईश्वर निर्गुण और निर्विशेष है। 'नेति नेति' ईश्वर का सर्वोत्तम निर्वचन है। इसके आगे मौन है। किन्तु निर्गुण होने से ईश्वर 'असत्' या 'शून्य' नहीं हो जाते हैं, क्योंकि वे निर्विकल्प अनुभूति के विषय हैं। बुद्धि उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान द्वारा

उनका साक्षात्कार शक्य है। किन्तु व्यावहारिक पक्ष में ईश्वर को अनन्तगुण सम्पन्न मानना आवश्यक है। इसमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि बुद्धि की गति गुणों के स्तर तक ही है। जब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, उनके सगुणत्व का प्रतिपादन अनिवार्य है। यह है स्पिनोज़ा का सर्वेश्वरवाद, जिसमें शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का मिश्रण है।

अब स्पिनोज़ा के गुण-धर्म पर विचार करें। स्पिनोज़ा की परिभाषा के अनुसार "गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।" गुण द्रव्य के स्वरूपधर्म हैं। निरपेक्ष और स्वतन्त्र होने के कारण द्रव्य स्वतः बुद्धिगोचर नहीं है। इसीलिए स्पिनोज़ा ने द्रव्य को निर्गुण, निर्विशेष और अनिर्वचनीय माना है। गुणों के कारण ही द्रव्य सगुण, सविशेष और बुद्धिग्राह्य बनता है। द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है।[1] ईश्वर अशेषगुणाकर या समस्तगुणसम्पन्न हैं।[2] ईश्वर के अनन्त गुण हैं किन्तु मानव केवल दो ही गुणों को जानता है जो उसमें भी विद्यमान हैं। ये दो गुण हैं—चैतन्य और विस्तार। चित्-अचित्, पुरुष-प्रकृति, जीव-जगत्—इनको द्रव्य मानना भूल है। ये ईश्वर के गुण, धर्म या विशेषण-मात्र हैं। चित् का अर्थ है चैतन्य और अचित् का अर्थ है विस्तार। ईश्वर द्रव्य है; ये उनके गुण है। ईश्वर विशेष्य हैं; ये उनके विशेषण हैं। ईश्वर आत्मा है, ये शरीर हैं। एक ही ईश्वर के दो गुण होने के कारण इनको परस्पर विरुद्ध नहीं माना जा सकता। देकार्त ने इनको दो परस्पर-विरुद्ध और परस्पर-निरपेक्ष द्रव्य मानकर द्वैतवाद की जो भयंकर भूल की थी, उसे स्पिनोज़ा ने मिटा दिया। एक ही द्रव्य के गुण होने से इनके परस्पर विरोध का प्रश्न नहीं उठता। ये परस्पर भिन्न अवश्य हैं, किन्तु विरुद्ध नहीं। दोनों ही अपनी सत्ता के लिये ईश्वर पर निर्भर हैं और ईश्वर से पृथक् नहीं हैं। द्रव्य के साथ इनका तादात्म्य या अपृथक्सिद्धि का सम्बन्ध है। ये ईश्वर के अन्तर्गत हैं और बिना ईश्वर के इनकी कोई सत्ता नहीं। जड और चेतन, एक ही ईश्वर के विभिन्न रूप हैं; एक ही प्रकाश की दो किरणें हैं। दोनों भगवत्-सत्ता से भासित हो रहे हैं। दोनों के पारस्परिक संयोग या क्रिया-प्रतिक्रिया की आवश्यकता नहीं है। इनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, पारस्परिक संगति मात्र है। प्रत्येक घटना दैहिक और आध्यात्मिक दोनों है। जड की दृष्टि से दैहिक और चेतन की दृष्टि से आध्यात्मिक। दोनों का उद्गम एक ही ईश्वर है। यह स्पिनोज़ा का चिदचित्-समानान्तरवाद (Parallelism) है। एक ही उद्गम से निकलनेवाली ये दो धारायें समानान्तर बह रही हैं।

---

१. जैन दर्शन : 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम्।'

२. रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि

स्पिनोज़ा के 'गुण' के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत अधिक विवाद हुआ है। गुणों की सत्ता वास्तविक है या काल्पनिक ? गुण ईश्वर के सत्य धर्म हैं या मानवी बुद्धि के आरोप ? गुण ईश्वर के परिणाम हैं या विवर्त ? स्पिनोज़ा ने जो गुण की परिभाषा दी है उसके दो भिन्न अर्थ लगाये गये हैं। परिभाषा है--"गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।" इस परिभाषा में यदि **"द्रव्य का स्वरूप"** इन शब्दों पर आग्रह हो, तो गुण द्रव्य के तात्विक या वास्तविक या सत्य धर्म हैं। और इसी परिभाषा में यदि **"बुद्धि समझती है"** इन शब्दों पर आग्रह हो, तो गुण मानवी बुद्धि के काल्पनिक आरोप हैं। कूनो फ़िशर (Kuno Fischer) के अनुसार स्पिनोज़ा के गुण ईश्वर के सत्य धर्म या परिणाम हैं। हेगल (Hegel) और अर्डमान (Erdmann) के अनुसार स्पिनोज़ा के गुण मानवी बुद्धि के काल्पनिक आरोप या ईश्वर के विवर्त हैं। हेगल और अर्डमान का कथन है कि स्पिनोज़ा ने द्रव्य को स्पष्ट रूप से वस्तुतः निर्गुण और अनिर्वचनीय माना है और निर्वचनमात्र को निषेधात्मक कहा है। यदि ईश्वर वस्तुतः निर्गुण हैं, तो वस्तुतः सगुण कैसे हो सकते हैं ? अतः गुणों को मानवी बुद्धि के विकल्प मानना ही स्पिनोज़ा का अभिप्राय है। इसीलिये स्पिनोज़ा ने गुणों को सापेक्षतया अनन्त और द्रव्य को निरपेक्षतया अनन्त कहा है। द्रव्य में वस्तुतः गुण नहीं हैं। गुण हमारी सविकल्प बुद्धि के द्रव्य पर आरोपमात्र हैं। ऐसा मानने पर ही स्पिनोज़ा की प्रसिद्ध उक्ति--'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है', चरितार्थ होती है। इसके विपरीत कूनो फ़िशर का मत है कि स्पिनोज़ा गुणों को ईश्वर के सत्य धर्म मानते हैं। स्पिनोज़ा के अनुसार गुण वस्तुतः ईश्वर के 'स्वरूप' हैं; केवल उनकी सत्ता ईश्वर से पृथक् नहीं है। 'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है'--इस उक्ति का यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर निर्विशेष या निर्गुण है, इसका अर्थ यह है कि ईश्वर असीम या अपरिच्छिन्न है अर्थात् गुण ईश्वर को सीमित या परिच्छिन्न नहीं कर सकते। स्पिनोज़ा ने विश्व के सत्यत्व का बारम्बार साग्रह प्रतिपादन किया है। उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि विश्व का सत्यत्व ईश्वर पर निर्भर है और उनसे पृथक् नहीं।

भारतीय दर्शन में भी वेदान्त के ब्रह्म को लेकर परिणामवाद और विवर्तवाद का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। ब्रह्म निर्गुण है या सगुण ? शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण और रामानुजाचार्य के अनुसार सगुण। किन्तु वस्तुतः इन दोनों मतों में विरोध नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म को पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण और व्यावहारिक दृष्टि से सगुण मानने से कोई विरोध नहीं रहता। स्पिनोज़ा का आशय भी हमें यही प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् प्रायः अपनी धार्मिक और बौद्धिक परम्परा के कारण इस विरोध को अचल समझ लेते हैं। हेगल स्वयं स्पिनोज़ा के घोर विरुद्ध हैं और स्पिनोज़ा के मत को विवर्तवाद बतलाकर उन्होंने स्पिनोज़ा

की खिल्ली उड़ाई है। इसके विपरीत कूनो फ़िशर इस बात की सिद्धि के लिये उत्सुक हैं कि स्पिनोज़ा ने विश्व का सत्यत्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। हमारे विचार से स्पिनोज़ा का दर्शन शंकराचार्य के दर्शन से बहुत से अंशों में साम्य रखता है। स्पिनोज़ा यहूदी और ईसाई धर्म के द्वैतवाद के घोर विरुद्ध थे। ईश्वर को उन्होंने धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टिकर्ता और बाह्य नियन्ता पुरुष-विशेष कभी नहीं माना। स्पिनोज़ा ने भी, शंकराचार्य के समान, व्यावहारिक (Sub Specie Temporis) और पारमार्थिक (Sub Specie Aeternitatis) सत्ता पर विशेष बल दिया है। अतः यह मानना उचित है कि स्पिनोज़ा के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर निर्गुण और अनिर्वचनीय हैं, एवं व्यावहारिक दृष्टि से सगुण और सविशेष। व्यावहारिक दृष्टि से विश्व का सत्यत्व अक्षुण्ण है। इन दोनों दृष्टिकोणों में कोई विरोध नहीं। 'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है'—इस उक्ति से स्पिनोज़ा का तात्पर्य ईश्वर को असीम और निर्विशेष दोनों सिद्ध करना है। वस्तुतः ईश्वर की निर्विशेषता और अनिर्वचनीयता स्पिनोज़ा को उतनी ही अभीष्ट है जितनी ईश्वर की अपरिच्छिन्नता।

अब स्पिनोजा के पर्याय या प्रकार धर्म पर कुछ विचार करें। पर्याय हैं द्रव्य के परिणामी धर्म। परिणाम से तात्पर्य है विवर्त का। पर्याय का अर्थ है द्रव्य का विकार। द्रव्य स्वयं तो अद्वितीय, नित्य, शाश्वत, अपरिणामी और अविकारी है, किन्तु गुणों के कारण अनेक, अनित्य, परिणामी और विकारी प्रतीत होता है। पर्याय द्रव्य के आगन्तुक धर्म हैं, वास्तविक नहीं। और ये धर्म गुणों के माध्यम से ही सम्भव होते हैं। द्रव्य निरपेक्ष है, पर्याय सापेक्ष। द्रव्य स्वतन्त्र है, पर्याय परतन्त्र। द्रव्य अद्वितीय है, पर्याय अनेक। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य। द्रव्य अनिवार्य है, पर्याय सम्भाव्य। द्रव्य समुद्र है, पर्याय तरंग। बिना द्रव्य के पर्यायों का अस्तित्व या ज्ञान नहीं हो सकता। पर्याय सर्वथा द्रव्य पर आश्रित हैं।[1] द्रव्य के अनन्त गुणों में से मानवी बुद्धि केवल चैतन्य और विस्तार को जान पाती है। चैतन्य के पर्याय हैं बुद्धि और संकल्प। विस्तार के पर्याय हैं गति और स्थिति। पर्याय दो प्रकार के हैं—अनन्त या नित्य और सान्त या अनित्य। ईश्वर के शरीर के रूप में पर्याय अनन्त और नित्य हैं; व्यक्तिरूप में पर्याय सान्त और अनित्य हैं। विविध जीव चैतन्य गुण के पर्याय हैं और विविध जड पदार्थ विस्तार-गुण के पर्याय हैं। चैतन्य के रूप में बुद्धि तथा संकल्प अनन्त और नित्य हैं, किन्तु विविध जीवों के रूप में सान्त और अनित्य। विस्तार के रूप में गति तथा स्थिति अनन्त और नित्य हैं, किन्तु विविध जड पदार्थों के रूप में सान्त और अनित्य।

यह तो हुआ स्पिनोज़ा के द्रव्य, गुण और पर्याय का विवेचन। अब उनकी ज्ञान-मीमांसा पर भी दृष्टिपात कर लें। विश्व के जितने भी विज्ञानवादी दार्शनिक

---

१. जैन दर्शन

हुये हैं, उन सबने, किसी-न-किसी रूप में, व्यवहार और परमार्थ का भेद स्वीकार किया है। सविकल्प बुद्धि का ज्ञान व्यवहार का ज्ञान है और निर्विकल्प अनुभूति का ज्ञान परमार्थ का ज्ञान है। व्यवहार का ज्ञान अज्ञान या धुँधला ज्ञान है; असली ज्ञान परमार्थ का साक्षात्कार ही है। पार्मेनाइडीज़ का 'व्यवहार' (Opinion) और 'सत्य' (Truth) का भेद; हिरेक्लाइटस का 'अवनत मार्ग' (The Way Down) और 'उन्नत मार्ग' (The Way Up) का भेद; तथा प्लेटो का 'इन्द्रिय-ज्ञान' (Sense) और 'विशुद्ध ज्ञान' (Idea) का भेद प्रसिद्ध है। स्पिनोज़ा ने इस भेद को 'व्यावहारिक या अनित्य दृष्टिकोण' (Sub Specie Temporis) और 'पारमार्थिक या नित्य दृष्टिकोण' (Sub Specie Aeternitatis) के रूप में व्यक्त किया है।

स्पिनोज़ा ने ज्ञान के तीन स्तर बताये हैं। प्रथम स्तर है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और विश्लेषणात्मक सविकल्प बुद्धि का। इसे स्पिनोज़ा ने 'कल्पना का स्तर' (Imaginatio) कहा है। पंचेन्द्रियों के संवेदनों द्वारा प्राप्त गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दरूपी बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा मानसिक संवेदनों द्वारा प्राप्त हर्ष, शोक, क्रोध आदि आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान और विश्लेषणात्मक बुद्धि के विकल्प जिनमें कोरी कल्पनायें सम्मिलित हैं, इस स्तर के अन्तर्गत आते हैं। विश्लेषणात्मक बुद्धि काल्पनिक अद्वैत या काल्पनिक द्वैत में ही क्रीड़ा करती रहती है। या तो यह इन्द्रिय-सम्वेदनों के अस्त-व्यस्त प्रपञ्चों से मन बहलाती रहती है या इन्द्रिय-संवेदन के जीवित प्रपञ्च से सर्वथा निर्लिप्त काल्पनिक सामान्यों (Abstract Universals) से खेलती रहती है। इस स्तर में प्रायः सारा लौकिक ज्ञान आ जाता है। यह स्तर व्यावहारिक दृष्टिकोण का है जो या तो केवल भेद देखता है या केवल अभेद।

द्वितीय स्तर है संश्लेषणात्मक ज्ञान (Intellectus) का। यह विशिष्टाद्वैत का स्तर है। यहाँ भेद में अभेद का या द्वैत में अद्वैत का ज्ञान होता है। अद्वैत प्रधान है, द्वैत गौण है। अभेद प्रधान है, भेद उसका विशेषण है। इस स्तर में ईश्वर के 'विश्वरूप' और 'विश्वात्मरूप' का ज्ञान होता है। समस्त विश्व ईश्वर का शरीर है और ईश्वर उसकी अन्तर्यामी आत्मा (Concrete Universal) हैं।

तृतीय स्तर है निर्विकल्प साक्षात्कार (Intuitio) का। इसमें ईश्वर के अद्वितीय, निर्गुण और अनिर्वचनीय रूप का निर्विकल्प स्वानुभूति द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी नहीं रहती। यह परम विशुद्ध ज्ञान है और मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

स्पिनोज़ा इन्द्रियज्ञान और विश्लेषणात्मक बुद्धि के स्तर को व्यावहारिक स्तर और संश्लेषणात्मक ज्ञान तथा निर्विकल्प अनुभूति के स्तरों को पारमार्थिक स्तर

कहते हैं। वस्तुतः पारमार्थिक स्तर तो निर्विकल्प अनुभूति ही है, किन्तु संश्लेषणात्मक ज्ञान को भी साधन होने के कारण पारमार्थिक स्तर के अन्तर्गत मान लिया है क्योंकि संश्लेषणात्मक ज्ञान की निरन्तर भावना से ही निर्विकल्प अनुभूति तक पहुँचा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि स्पिनोज़ा जैसे महान् दार्शनिक के महत्व को पश्चिम ने प्रायः ठीक नहीं समझा। स्पिनोज़ा के क्रान्तिकारी विचारों के कारण यहूदी और ईसाई धर्मों के श्रद्धालु उनसे घृणा ही करते रहे और उन्हें 'निन्दनीय नास्तिक' ही समझते रहे। जिन लोगों ने उन्हें समझा उन्होंने स्पिनोज़ा को 'ईश्वरप्रेमोन्मत्त' (God-intoxicated) की उपाधि से भूषित किया। जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल ने स्पिनोज़ा के ईश्वर को 'सर्वग्रासी ईश्वर' बताया क्योंकि उनके अनुसार स्पिनोज़ा ने समस्त विश्व को असत् बना दिया था। हेगल ने स्पिनोज़ा ने ईश्वर को 'सिंह की गुफा' के समान बताया 'जहाँ विविध पशुओं के अन्दर जाने के पदचिह्न तो दिखाई देते हैं, किन्तु बाहर आने के नहीं'। उनका तात्पर्य है कि जैसे सिंह अपनी गुफा में आनेवाले पशुओं को खा जाता है और वहाँ से कोई जीवित नहीं लौट सकता, वैसे ही स्पिनोज़ा का ईश्वर समस्त विश्व का संहार कर जाता है। यह ईश्वर कोरे अद्वैत (Abstract Identity) का प्रतीक है क्योंकि इसमें किसी प्रकार के द्वैत को कोई स्थान नहीं। हेगल के अनुसार वास्तविक ईश्वर विशिष्टाद्वैतरूप है। वह समस्त विश्व में अन्तर्यामी है और द्वैत या भेद की सत्ता ईश्वर के अद्वैत के लिये आवश्यक है। बड़े खेद का विषय है कि हेगल जैसे महान् दार्शनिक ने स्पिनोज़ा के साथ ऐसा भयंकर अन्याय किया है। स्पिनोज़ा ने स्पष्ट कहा है कि कोरे अद्वैत का स्तर 'कल्पना का स्तर' (Imaginatio) है। इसके ऊपर विशिष्टाद्वैत का स्तर है। हेगल के बहुत कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वयं स्पिनोज़ा ने कर दिया था। ईश्वर के अन्तर्यामित्व और विशिष्टाद्वैतस्वरूप को स्पिनोज़ा ने स्वयं माना है और यह भी स्पष्ट किया है कि मानवी बुद्धि के लिये यह संश्लेषणात्मक स्तर सर्वोच्च है। इसको भी पारमार्थिक स्तर कहकर स्पिनोज़ा ने विश्वात्मा और विश्वरूप के सत्यत्व को अक्षुण्ण रक्खा है। स्पिनोज़ा हेगल से आगे बढ़कर यह भी कहते हैं कि जो मानवी बुद्धि के लिये सर्वोच्च है, वह स्वतः सर्वोच्च नहीं। ईश्वर स्वतः निर्गुण और अनिर्वचनीय हैं और उनका साक्षात्कार बुद्धि से न होकर निर्विकल्प स्वानुभूति से होता है। यह निर्विकल्प स्वानुभूति विशुद्ध अद्वैत है, काल्पनिक या कोरा अद्वैत नहीं। "निर्विकल्प अनुभूति के शत्रु" हेगल को भले ही यह बात अच्छी न लगे, भले ही हेगल को अपनी संश्लेषणात्मक बुद्धि द्वारा ईश्वर का पूर्ण ज्ञान करने का अभिमान हो, किन्तु फिर भी सत्य तो सत्य ही रहेगा। स्वयं हेगल के मुख से यह सुनकर सन्तोष होता है—और शायद हेगल को विवश होकर यह कहना पड़ा—कि "दार्शनिक होने के लिए पहले स्पिनोज़ा का शिष्य बनना पड़ेगा।"

स्पिनोज़ा का दर्शन जीवन के लिये है। उनका कथन है--"जीव का परम कल्याण ईश्वर की निर्विकल्प अनुभूति में है और श्रेष्ठतम आचार है इस अनुभूति को पाने का प्रयत्न।" यह नैतिक जीवन से प्राप्त हो सकती है, अतः दर्शन का उच्चतम रूप है नैतिक जीवन। पुण्य का अर्थ है ज्ञान और पाप का अर्थ है अज्ञान। अपने स्वरूप को जानना मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। इन्द्रियानुभव से सत्य का स्थूल आवरण मिलता है। संश्लेषणात्मक ज्ञान सीमा से भूमा की ओर ले जाता है। भावावेग के ऊपर उठकर इस ज्ञान के स्तर पर आना चाहिये। तभी हम बुद्धि के पार जा सकते हैं। हम चाहते हैं सुख अर्थात् असीम की प्राप्ति, किन्तु साथ ही सीमा का मोह अर्थात् दुःख का मोह भी बनाये रखते हैं। असली सुख निर्द्वन्द्व होने में है--राग-द्वेष, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, दया-घृणा आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर 'स्थित-प्रज्ञ' बनने में है। जड और चेतन दोनों ईश्वर के 'शरीर' होने के कारण उनके लिये यन्त्रवत् हैं। ईश्वर स्वतः निर्गुण हैं, अतः इस विश्व-यन्त्र को चलाने में उनका कोई प्रयोजन या कोई इच्छा नहीं है। यह यन्त्र चालक से भिन्न नहीं है। यह ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। राग-द्वेष शून्य होकर तटस्थ भाव से ईश्वरीय अनुभूति करना--सबमें ईश्वर को और ईश्वर में सबको देखना--यह ईश्वर-प्रेम (Amor Dei) है। यह परमानन्द का स्रोत है। वास्तविक सुख और शान्ति इस 'ईश्वर-प्रेम' पर ही निर्भर है। इस कारण स्पिनोज़ा को 'ईश्वर-प्रेमोन्मत्त' कहा जाता है, जो सार्थक है।

स्पिनोज़ा के दर्शन में कुछ दोष भी हैं। उनका समानान्तरवाद और यन्त्रवाद दोषपूर्ण है। निर्गुण तत्व सगुण क्यों प्रतीत होता है--इस 'मूलाविद्या' का विवेचन भी स्पिनोज़ा के दर्शन में नहीं मिलता। संश्लेषणात्मक ज्ञान और निर्विकल्प अनुभूति दोनों को पारमार्थिक मानना उचित नहीं लगता, किन्तु स्पिनोज़ा का बुद्धिवाद इस विषय में अटल है। स्पिनोज़ा ने कई स्थानों में तत्व की ओर संकेत किया है, विशद विवेचन नहीं। किन्तु यह सब होते हुये भी स्पिनोज़ा निःसन्देह पश्चिम के एक अत्यन्त महान् दार्शनिक हैं।

नवम अध्याय

बुद्धिवाद : लाइबनित्ज़

गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनित्ज़ (१६४६–१७१६):––लाइबनित्ज़ (Gottfried Wilhelm Leibnitz) का जन्म जर्मनी के लीपज़िग नगर में हुआ था। पिता स्थानीय विश्वविद्यालय में आचारदर्शन के अध्यापक थे और लाइबनित्ज़ को ६ वर्ष का छोड़कर चल बसे थे। बचपन से ही लाइबनित्ज़ को पिता के पुस्तकालय में पढ़ने का शौक लग गया। अपनी असाधारण बहुमुखी प्रतिभा और स्मरणशक्ति के कारण लाइबनित्ज़ कई विषयों के पारंगत विद्वान् हो गये। ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच आदि कई भाषायें वे जानते थे और गणित, भौतिक विज्ञान, दर्शन, न्याय, इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। बीस वर्ष की आयु में ही उनको डाक्टरेट की उपाधि मिल गई थी। अपनी महत्वाकांक्षा के कारण उन्होंने विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद, जो उन्हें मिल रहा था, स्वीकार नहीं किया। वे मैंज़ के प्रधान पादरी के राजनीतिक विभाग में काम करने लगे और इसी सिलसिले में फ़्रान्स के सम्राट् लुई १४वें के पास सम्राट् को धर्म-विरोधी मिस्र पर आक्रमण करने की सलाह देने पेरिस गये। अपने दूतकार्य में तो वे सफल नहीं हुये, किन्तु चार वर्ष पेरिस में रहने और वहीं से लन्दन आदि नगरों में घूमने के कारण उनको नूतन विज्ञान, गणित और दर्शन के अध्ययन का अवसर मिला। इस काल में वे मेलेब्रांच और स्पिनोज़ा के सम्पर्क में आये। जर्मनी लौटकर वे हनोवर के राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्ष पद पर कई वर्षों तक रहे। उनकी कीर्ति चारों ओर फैली। कई पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख छपे। उनकी विद्वत्ता की धूम हुई। उन्होंने गणित के 'कलन' (Calculus) का, जिसका उनके समकालीन वैज्ञानिक न्यूटन ने भी स्वतन्त्र आविष्कार किया था, स्वतन्त्र रीति से आविष्कार किया। केथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट मतों में सन्धि कराने का उन्होंने प्रयत्न किया और इस पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा। बर्लिन में उन्होंने 'विज्ञान संस्था' (Academy of Sciences) की स्थापना की। जीवन के अन्तिम दिनों में वे आश्रयहीन से हो गये और लोगों ने उन्हें भुला दिया। इस उपेक्षित अवस्था में ही उनकी मृत्यु हुई। लाइबनित्ज़ में बहुमुखी प्रतिभा और असाधारण स्मरणशक्ति थी। चरित्र-बल विशेष नहीं था। वे वैभवप्रिय और पक्के दुनियादार व्यक्ति थे। जीवन के अन्तिम दिनों को छोड़ कर उन्होंने ख्याति और वैभव का जीवन बिताया। विविध मतों का समन्वय करना उनके दर्शन का लक्ष्य है। 'चिदणुशास्त्र' (Monadology) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक है।

देकार्त और स्पिनोज़ा के समान लाइबनित्ज़ भी बुद्धिवादी हैं। देकार्त द्वैतवादी, स्पिनोज़ा अद्वैतवादी और लाइबनित्ज़ द्वैताद्वैतवादी हैं। देकार्त ने ईश्वर, चित् और अचित् रूपी तत्वत्रय की प्रतिष्ठा की। स्पिनोज़ा ने चित् और अचित् को गुण मानकर अद्वैततत्व की प्रतिष्ठा की। द्रव्य या तत्व की परिभाषा में देकार्त और स्पिनोज़ा दोनों सहमत हैं। दोनों के अनुसार द्रव्य का लक्षण स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता है। लाइबनित्ज़ इस परिभाषा से असन्तुष्ट हैं। देकार्त चित् और अचित् को दो परस्पर विरोधी द्रव्य मानते हैं। चित् का गुण चैतन्य और अचित् का विस्तार मानते हैं। और चैतन्य तथा विस्तार में विरोध स्वीकार करते हैं। जो चेतन है, वह अचेतन नहीं हो सकता और जो अचेतन है, वह चेतन नहीं हो सकता। लाइबनित्ज़ इसका विरोध करते हुये कहते हैं कि चेतन आत्म द्रव्य को अचेतन और उपचेतन प्रतीतियाँ भी होती हैं। आत्मा की चार चित्तभूमियाँ हैं— स्वचेतन, चेतन, उपचेतन और अचेतन (Self-conscious, Conscious, Subconscious and Unconscious)। उपचेतन और अचेतन मानसिक दशाओं को लाइबनित्ज़ ने "लघु चेतना" (Petite Perceptions) नाम दिया है। अतः देकार्त का चेतन-अचेतन का द्वैतवाद ध्वस्त हो जाता है। लाइबनित्ज़ के इस चित्तभूमियों के सिद्धान्त को प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ़्रायड ने अपनाया है। लाइबनित्ज़ ने अनुसार केवल चैतन्य को ही आत्मा का गुण नहीं मान सकते। इसी प्रकार देकार्त की अचित्-सम्बन्धी मान्यता भी दोषपूर्ण है। देकार्त ने विस्तार को ही अचित् का गुण और गति तथा स्थिति को विस्तार का पर्याय माना है। यह ग़लत है। प्रथम तो, देकार्त की गति का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना है। इसमें अन्य प्रकार के परिवर्तन नहीं आते, जैसे सेव का पककर हरे रंग से लाल रंग में बदल जाना, जैसे बालक का युवक और युवक का वृद्ध होना आदि। द्वितीय, जब दो गतिशील पदार्थ एक दूसरे से टकराते हैं तो उनका वेग कम हो जाता है, किन्तु यदि पदार्थों का गुण विस्तार है तो उनका वेग या गति बढ़नी चाहिए। तृतीय, पदार्थों में कभी गति होती है, कभी स्थिति। किन्तु अविच्छिन्नता के सिद्धान्त (Law of Continuity) के अनुसार गति या स्थिति में व्यवधान नहीं होना चाहिये। जब एक गतिशील पदार्थ रुक कर स्थिर हो गया, तब फिर उसमें दुबारा गति क्यों होती है? विस्तार से तो ऐसा हो नहीं सकता। अतः जड पदार्थों का गुण विस्तार नहीं माना जा सकता। चतुर्थ, जहाँ विस्तार है वहाँ विभाग भी है, अतः यदि विस्तार जड पदार्थ का गुण है तो कोई जड पदार्थ मूल द्रव्य के अर्थ में सिद्ध ही नहीं हो सकेगा क्योंकि मूल द्रव्य को अविभाज्य मानना पड़ेगा और विस्तार के कारण वह अविभाज्य हो नहीं पायगा। इस प्रकार लाइबनित्ज़ ने देकार्त के मत का खण्डन किया। उनके अनुसार न तो आत्मा और जड दो विरुद्ध द्रव्य हैं और न चैतन्य तथा विस्तार दो विरुद्ध गुण; और न केवल चैतन्य आत्मा का गुण है और न केवल विस्तार जड पदार्थ का।

लाइबनित्ज़ ने स्पिनोज़ा के अद्वैतवाद का भी घोर विरोध किया। स्पिनोज़ा ने देकार्त के द्वैतवाद का खण्डन करके चित् और अचित् को द्रव्य-पद से उतारकर गुण के आसन पर बिठा दिया। किन्तु स्पिनोज़ा ने द्रव्यों के द्वैत को मिटाकर गुणों के द्वैत को रहने दिया। स्पिनोज़ा भी चैतन्य और विस्तार नामक गुणों को परस्पर भिन्न मानते हैं। लाइबनित्ज़ को यह भी पसन्द नहीं। लाइबनित्ज़ का आक्षेप है कि एक ही द्रव्य में चैतन्य और विस्तार जैसे विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं? पुनश्च, स्पिनोज़ा ने चेतन और जड जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों के व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया और इनकी सत्ता को ही उड़ा दिया। यह लाइबनित्ज़ को नितान्त अनुचित लगा।

लाइबनित्ज़ के अनुसार देकार्त और स्पिनोज़ा की असफलता का और उनके दर्शन में पाये जानेवाले विरोधों का कारण यह है कि उन दोनों ने द्रव्य के लक्षण को ठीक-ठीक नहीं समझा। उन्होंने द्रव्य को दर्शन का केन्द्र बनाया, यह ठीक किया। उन्होंने द्रव्य का लक्षण स्वातन्त्र्य माना, यह भी ठीक किया। किन्तु आगे वे ग़लती कर गये। स्वातन्त्र्य का अर्थ उन्होंने समझा स्वतन्त्र सत्ता। यह ठीक नहीं। स्वातन्त्र्य का अर्थ स्वतन्त्र सत्ता नहीं, स्वतन्त्र शक्ति है। अतः द्रव्य की परिभाषा 'द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो' न होकर यह होनी चाहिए—'द्रव्य वह है जिसमें स्वतन्त्र शक्ति हो।' वस्तुतः शक्ति ही सत्ता है। सत्ता का अर्थ होना चाहिए 'अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य'। जो अर्थ-क्रिया-समर्थ है वही सत् है।[1] शक्त पदार्थ को ही द्रव्य कहा जा सकता है। जिसमें अपनी स्वतन्त्र शक्ति हो वही द्रव्य है।[2] इस चिदचिद्रूप विश्व के प्रत्येक पदार्थ में कुछ-न-कुछ अपनी शक्ति है, प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेषता है। अतः प्रत्येक पदार्थ, जिसमें अपनी शक्ति और विशेषता हो, द्रव्य कहलाने का पात्र है। लाइबनित्ज़ का द्रव्य है 'शक्तिमान् विशेष' (Self-active Individual)। देकार्त ने तीन द्रव्य माने थे और स्पिनोज़ा ने एक ही रहने दिया था, किन्तु लाइबनित्ज़ ने असंख्य द्रव्यों की कल्पना की। स्पिनोज़ा का ईश्वर खण्ड-खण्ड होकर लाइबनित्ज़ के द्रव्यों में बिखर पड़ा। स्पिनोज़ा ने चेतन और जड पदार्थों की जिस सत्ता का अपहरण कर लिया था, लाइबनित्ज़ ने वह उन्हें लौटा दी।

लाइबनित्ज़ ने अपने द्रव्य का नामकरण किया 'चिदणु' (Monad)। यह नाम उन्होंने ब्रूनो से लिया जिनके दर्शन के कुछ विचारों की छाप लाइबनित्ज़ पर पड़ी है। अपने 'चिदणु' की कल्पना में लाइबनित्ज़ ने देकार्त के बुद्धिवाद से और जड पदार्थ विज्ञान के विचारों से सहायता ली है। देकार्त के स्वतन्त्र सत्तावान्

---

१. स्वतन्त्रविज्ञानवाद: 'अर्थक्रियासमर्थं सत्'—धर्मकीर्ति।

२. शाक्तमत।

द्रव्य को लाइबनित्ज़ ने स्वतन्त्र शक्तिमान् द्रव्य में और जड पदार्थ विज्ञान के जड परमाणु को चेतन परमाणु में परिणत करके दोनों को एक में मिला दिया है। लाइबनित्ज़ का द्रव्य स्वतन्त्रशक्तिमान् चेतन परमाणु है। लाइबनित्ज़ ने गणित से और जड-पदार्थ विज्ञान से फिर सहायता ली है। गणित के बिन्दु निरवयव और अविभाज्य हैं, किन्तु वे तात्विक नहीं हैं, काल्पनिक हैं। जड पदार्थ विज्ञान के बिन्दु अर्थात् परमाणु तात्विक तो हैं, किन्तु निरवयव और अविभाज्य नहीं। जड पदार्थ विज्ञान अपने परमाणुओं को निरवयव और अविभाज्य मानता है, किन्तु लाइबनित्ज़ उससे सहमत नहीं हैं। लाइबनित्ज़ के अनुसार जब परमाणुओं की आकाश में स्थिति है और जब वे जड हैं तो उनका विस्तार अवश्य होना चाहिये और जिसका विस्तार है उसका अवयवों में विभाग अवश्य होना चाहिये। लाइबनित्ज़ ने अपने चिदणु में इन दोनों प्रकार के बिन्दुओं के गुणों का मिश्रण करके एक नये प्रकार के बिन्दु की कल्पना की है। चिदणु में परमाणु की तात्विकता है, किन्तु उसकी विभाज्यता और जडता नहीं। चिदणु में गणित के बिन्दु की अविभाज्यता है, किन्तु उसकी काल्पनिकता और अचेतनता नहीं। लाइबनित्ज़ का चिदणु निरवयव अविभाज्य, तात्विक और चेतन है। यह तात्विक-बिन्दु, द्रव्य-बिन्दु, या चिद्-बिन्दु है। यह शक्तिमान् विशेष है। यह अपनी शक्ति का स्वयं केन्द्र है। यह अनादि, अनन्त और नित्य है। विश्व में ऐसे असंख्य चिदणु हैं।

प्रत्येक चिदणु विश्व के अन्य समस्त चिदणुओं को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है। चिदणु चित्-शक्ति का केन्द्र है और अपनी चित्-शक्ति के कारण समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है। 'समस्त विश्व' का अर्थ है 'समस्त चिदणु और उनके प्रतिबिम्ब', क्योंकि विश्व में चिदणुओं और उनके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार लाइबनित्ज़ के अनुसार समस्त विश्व चिन्मय है। चैतन्य के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व ज्ञानरूप में समाया हुआ है। व्यष्टि में समष्टि का प्रतिबिम्ब है। अणु में विराट् भरा पड़ा है। प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व का एक जीवित दर्पण है।

चैतन्य के अतिरिक्त, चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है, ऐसा कहकर लाइबनित्ज़ ने स्पिनोज़ा का चैतन्य और विस्तार का गौण द्वैत भी समाप्त कर दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, तो इस जड जगत् का क्या होगा? लाइबनित्ज़ का उत्तर है कि जड नामक कोई वस्तु नहीं है। जिसको हम जड समझते हैं वह गुप्त या सुप्त चैतन्य है। है वह चैतन्य ही, किन्तु प्रकट नहीं है, सोया हुआ है, खोया हुआ-सा है। लाइबनित्ज़ ने चैतन्य की चार भूमियाँ मानी हैं——स्वचेतन, चेतन, उपचेतन और अचेतन।[1]

---

१. विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश।

अचेतन का अर्थ 'चेतना का अभाव' नहीं है, अपितु 'चेतना की कमी' है। अचेतन का अर्थ है 'ईषत्-चेतन'। यहाँ चेतना सुप्त या मूर्च्छित रहती है। उपचेतन में चेतना स्वप्नस्थित जैसी रहती है। चेतन में चेतना जाग्रत् रहती है। स्वचेतन में चेतना अपना स्वसम्वेदन करती है। अतः विश्व में चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अचेतन और उपचेतन को लाइबनित्ज़ ने 'लघु चेतना' (Petite Perception) कहा है। चेतन सदा स्वचेतन हो, यह आवश्यक नहीं। लाइबनित्ज़ ने समुद्र की गर्जना के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया है। समुद्र की प्रत्येक तरंग थोड़ी बहुत ध्वनि करती है, और उसका संवेदन हमारी श्रोत्रेन्द्रिय को होता अवश्य है, किन्तु यह ध्वनि 'संवेदन' मात्र ही रहती है, इसका ज्ञान हमें नहीं होता। हमें तो समुद्र की गर्जना ही, अर्थात् तरंगों की सामूहिक ध्वनि ही, सुनाई देती है। समुद्र की गर्जना विविध तरंगों की ध्वनि से मिलकर बनती है। तरंगों की पृथक्-पृथक् ध्वनि का 'संवेदन' होता है और सामूहिक ध्वनि या गर्जना का 'ज्ञान'। अचेतन और उपचेतन की क्षीण चेतना होती है। अतः चेतनाशून्य कुछ नहीं है।

प्रत्येक चिदणु एक व्यक्तिविशेष है। वह अपनी चित्शक्ति का केन्द्र है और उसकी अपनी विशेषता है। चित्-शक्ति एक नहीं है, जो अनेक चिदणुओं में अभिव्यक्ति होती हो। चित्-शक्ति अविभाज्य है। अतः वह खण्ड-खण्ड होकर विभिन्न चिदणुओं में नहीं रह सकती। यदि एक ही अविभाज्य चित्-शक्ति की अनन्त चिदणुओं में अभिव्यक्ति मानी जाय, तो चिदणु शक्ति के आभास मात्र बन जायेंगे और उनका सत्यत्व नष्ट हो जायगा, जो लाइबनित्ज़ को कदापि अभीष्ट नहीं। ऐसा होने पर लाइबनित्ज़ का सिद्धान्त बहुत कुछ स्पिनोज़ा के समान हो जायगा और लाइबनित्ज़ को यह कभी स्वीकार्य नहीं। इसलिए लाइबनित्ज़ ने प्रत्येक चिदणु के व्यक्तित्व और उसकी विशेषता को बहुत अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक चिदणु में अपनी स्वतन्त्र और अविभाज्य शक्ति है। हाँ, चिदणुओं में तात्विक भेद या मौलिक स्वरूपभेद लाइबनित्ज़ को मान्य नहीं है, इसलिए वे प्रत्यक चिदणु की शक्ति को, स्वतन्त्र और अविभाज्य मानते हुये भी, मौलिक स्वरूप की दृष्टि से, समान अर्थात् एक-सी (एक ही नहीं) मानते हैं। प्रत्येक चिदणु, अपनी स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति रखते हुए भी, अपने मौलिक स्वरूप में, अन्य समस्त चिदणुओं के समान है। चिदणुओं में संख्या का भेद (Quantitative Difference) है, मौलिक स्वरूप का भेद (Qualitative Difference) नहीं है। प्रत्येक चिदणु के विशिष्ट व्यक्तित्व पर लाइबनित्ज़ ने बहुत बल दिया है। प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण है। उसकी अपनी निरपेक्ष चित्-शक्ति है। वह अपनी सत्ता या शक्ति के लिए, ईश्वर के अतिरिक्त (ईश्वर का स्वरूप आगे समझाया जायगा), अन्य किसी पर निर्भर नहीं। चिदणु में कोई छिद्र या खिड़-

कियाँ नहीं हैं जिनमें होकर कोई वस्तु भीतर से बाहर जा सके या बाहर से भीतर आ सके। चिदणु छिद्ररहित या गवाक्षहीन (Windowless) हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। प्रभावित करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व, बीज रूप में अर्थात् ज्ञान रूप में, विद्यमान है।

यहाँ एक शंका होती है। एक ओर तो लाइबनित्ज़ कहते हैं कि प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व का जीवित दर्पण है और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि प्रत्येक चिदणु छिद्ररहित या गवाक्षहीन है। यदि प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित है तो यह कैसे कहा जाता है कि उसमें किसी प्रकार का आदान-प्रदान संभव नहीं, कि न तो वह किसी को प्रभावित कर सकता है और न किसी से प्रभावित हो सकता है? इस विरोधाभास का परिहार लाइबनित्ज़ ने इस प्रकार किया है: प्रत्येक चिदणु पूर्ण है क्योंकि उसमें समस्त विश्व बीज रूप में अन्तर्निहित है। वस्तुतः चिदणुओं में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक चिदणु परस्पर-निरपेक्ष है। प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करता है—इस कथन का तात्पर्य यही है कि समस्त विश्व चिदणु में बीजरूप से विद्यमान है। चिदणु में समस्त विश्व का इतिहास विद्यमान है——भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ उसमें अन्तर्निहित है क्योंकि भूत अपने चिह्न वर्तमान में छोड़ जाता है और वर्तमान के बीज ही भविष्य के रूप में प्रतिफलित होते हैं। समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करने का अर्थ है अपनी ही चित्-शक्ति का विकास करना। 'समस्त विश्व' का अर्थ है चित्-शक्ति क्योंकि चित्-शक्ति के अतिरिक्त विश्व में और कुछ नहीं है। प्रत्येक चिदणु में चित्-शक्ति के रूप में समस्त विश्व विद्यमान है, किन्तु है बीजरूप में ही, विकसित रूप में नहीं। इस सुप्त शक्ति को जाग्रत् करना, अधिकाधिक चैतन्य प्राप्त करना, अधिकाधिक सक्रिय होना ही विश्व को प्रतिबिम्बित करना है। यह अपनी ही सुप्त शक्ति की जागृति है, अपनी ही गुप्त शक्ति का प्राकट्य है, अतः इसमें बाह्य प्रभाव का प्रश्न नहीं उठता। जब सब कुछ भीतर ही है, तो बाहर से क्या लिया जाय? इस प्रकार लाइबनित्ज़ ने इस विरोधाभास का——कि चिदणु छिद्ररहित होते हुए भी समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है——परिहार करने की चेष्टा की है।

इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है——वह है चिदणुओं का तारतम्य। चिदणु, मौलिक स्वरूप में अर्थात् चित्-शक्ति में, समान होते हुए भी, इस शक्ति के क्रियान्वित विकास में, विभिन्न हैं। समस्त चिदणु एक ही विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं, किन्तु विभिन्न रूपों में। सबके प्रतिबिम्ब समान नहीं हैं, क्योंकि सबका विकास समान नहीं है। शक्ति सबमें बराबर है, किन्तु उस शक्ति को क्रियान्वित करके सबने एक रूप में नहीं पा लिया है। उदाहरणार्थ, सब मनुष्यों में शक्ति है

कि वे एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर सकें, किन्तु वास्तव में करते कितने हैं? बुद्धि, बीज रूप में, स्वरूपतः, मानव-मात्र में है, किन्तु इसका विकास अलग-अलग मनुष्यों में अलग-अलग रूप में होता है। इसके लिए परस्पर-सम्बद्ध सोपानवत् श्रेणियाँ बनानी पड़ती हैं। कोई मैट्रिक है, कोई इन्टर है, कोई बी० ए० है और कोई एम० ए०। इसी प्रकार चिदणुओं में भी, शक्ति के वास्तविक विकास की दृष्टि से, श्रेणियाँ हैं। यह तारतम्य अखण्ड है; इसमें शृंखला टूटती नहीं; इसमें व्यवधान नहीं है। चिदणुओं का ज्ञान क्षीणतम, क्षीणतर, क्षीणस्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। कुछ चिदणु सो रहे हैं, कुछ स्वप्न देख रहे हैं, कुछ जाग रहे हैं। लाइबनित्ज़ के अनुसार चिदणुओं को हम पाँच श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। वस्तुतः प्रत्येक चिदणु की अपनी अलग ही श्रेणी है क्योंकि प्रत्येक चिदणु का ज्ञान अपनी विशेषता रखता है और दो चिदणुओं में विश्व का प्रतिबिम्ब बिलकुल एक जैसा नहीं हो सकता। विश्व में न अनावश्यकता है न पुनरावृत्ति। प्रत्येक चिदणु का अपना अलग विश्व है। अतः उतनी ही श्रेणियाँ हैं जितने चिदणु, किन्तु फिर भी समान प्रतिबिम्बों के आधार पर स्थूल रूप में पाँच श्रेणियाँ बताई गई हैं। प्रथम श्रेणी में आते हैं अचेतन (अर्थात् ईषत्-चेतन) चिदणु जिनको लोक में 'जड जगत्' कहा जाता है। इनमें चैतन्य सुप्त या मूर्च्छित रहता है। यह चैतन्य का क्षीणतम स्तर है क्योंकि इसमें क्षीणतम सम्वेदन मात्र होता है। उपनिषद् में इसको अन्नमय कोश कहा गया है। द्वितीय श्रेणी है उपचेतन चिदणु की जिसे लोक में 'वनस्पति जगत्' कहा जाता है। इसमें चैतन्य स्वप्न-स्थित-सा रहता है। यह क्षीणतर सम्वेदन का स्तर है जहाँ प्राण-स्पन्दन होने लगता है। उपनिषद् में इसको प्राणमय कोश कहा गया है। अचेतन चिदणु और उपचेतन चिदणु दोनों को लाइबनित्ज़ ने 'साधारण या नग्न चिदणु' (Simple or Naked Monads) नाम दिया है। तृतीय श्रेणी में आते हैं चेतन चिदणु (Soul Monads) जिनको लोक में 'पशु-जगत्' कहा जाता है। इनमें चैतन्य जाग्रत् रहता है। यह स्तर क्षीण ज्ञान और स्पष्ट सम्वेदन का है, अतः इसे क्षीण-स्पष्ट स्तर कहा है। यह सहज मानसिक प्रवृत्तियों (Instincts) का स्तर है। उपनिषद् में इसे मनोमय कोश कहा गया है। यहाँ चिदणु 'जीव' कहे जाते हैं। चतुर्थ श्रेणी है स्वचेतन चिदणु (Spirit Monads) की जिसे लोक में 'मानव जगत्' कहा जाता है। यह 'आत्म-जगत् है। यह स्पष्टतर ज्ञान का स्तर है क्योंकि यहाँ चेतन स्वचेतन (Self-conscious) बन जाता है। उपनिषद् में इसको विज्ञानमय कोश कहा गया है। पञ्चम और अन्तिम श्रेणी में केवल एक ही चिदणु है--वह है परम चिदणु या ईश्वर (God-Monad or Queen-Monad) जिनका ज्ञान स्पष्टतम है। यह 'दिव्य जगत्' है। उपनिषद् में इसे आनन्दमय कोश कहा गया है। यह 'पुरुषोत्तम' का स्तर है। ये सब श्रेणियाँ

परस्पर-सम्बद्ध हैं। ऊपर की श्रेणी में नीचे की सब श्रेणियाँ आ जाती हैं। कोई वस्तु छूटती नहीं। नीचे की श्रेणी का आदर्श ऊपर की श्रेणी में जाना है। इन श्रेणियों में केवल विकास का भेद है, जातिगत भेद नहीं है। लाइबनित्ज़ का संकेत विकासवाद की ओर है। यद्यपि सभी चिदणु अपनी शक्ति के केन्द्र हैं, तथापि वस्तुतः स्वतन्त्र तो केवल स्वचेतन चिदणु हैं। स्वातन्त्र्य का अर्थ लाइबनित्ज़ भी, स्पिनोज़ा के समान, ज्ञान-तन्त्रता मानते हैं। स्वतन्त्र का अर्थ है ज्ञान-तन्त्र अर्थात् न अतन्त्र और न परतन्त्र। और यह आत्म-चिदणुओं में ही संभव है। सभी चिदणुओं का लक्ष्य है सर्वोत्तम चिदणु या ईश्वर के समान बनना। ज्यों-ज्यों चिदणु इस लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वे ज्ञान-तन्त्र और उच्चतर होते जाते हैं, अधिक विकसित और सक्रिय होते जाते हैं।

यह तो हुआ चिदणुओं के तारतम्य का वर्णन। यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब सभी चिदणु अपनी स्वतन्त्र चित्-शक्ति के केन्द्र हैं और अपने भीतर सम्पूर्ण विश्व लिये हुये हैं तथा मौलिक स्वरूप में समान हैं, तो उनमें तारतम्य हो ही कैसे सकता है? चिदणु क्यों नहीं एक साथ अपनी शक्ति का पूर्ण विकास कर लेता? उसकी शक्ति को रोकनेवाला कौन है? क्या कारण है कि चिदणुओं के प्रतिबिम्बों में क्षीण और स्पष्ट आदि का तारतम्य करना पड़ता है? लाइबनित्ज़ का उत्तर है कि शक्ति का असली अर्थ है चित्-शक्ति। यह चित्-शक्ति अपने पूर्ण क्रियान्वित अर्थात् विकसित और अनिरुद्ध रूप में केवल ईश्वर में ही हो सकती है। ईश्वर ही सच्चे अर्थ में पूर्ण क्रियान्वित शक्ति (Purus Actus) हैं। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब चिदणुओं में शक्त्यवरोध का बीज विद्यमान है जो उनकी शक्ति को रोकता है। इस बीज को लाइबनित्ज़ ने 'सूक्ष्म जडता' (Materia Prima) कहा है। जब यह बीज मूर्त रूप (Corporeal) ले लेता है तब इसे 'स्थूल जडता' (Materia Secunda) कहा जाता है। ईश्वर के अतिरिक्त सभी चिदणुओं में यह सूक्ष्म जडता न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है और इसीलिए चिदणुओं में विकास का तारतम्य है। जिनमें यह सूक्ष्म जडता अधिक है, वे कम क्रियाशील और विकसित हैं, और जिनमें कम है, वे अधिक क्रियाशील और विकसित हैं। यह 'सूक्ष्म जडता' वेदान्त की 'अविद्या' के समान है। यह क्यों और कहाँ से आई इसका लाइबनित्ज़ के पास कोई उत्तर नहीं।

जिनमें चैतन्य सुप्त है उन चिदणुओं को 'जड' और जिनमें चैतन्य जाग्रत् और स्वचेतन है उनको 'आत्मा' कहा जाता है। एक व्यक्ति या प्राणी असंख्य चिदणुओं का समुदाय है। इस समुदाय में एक चिदणु प्रमुख होता है जो उस समुदाय की 'आत्मा' कहा जाता है। यह आत्मा उस समुदाय का बाह्य शासक नहीं है। वस्तुतः चिदणुओं में तात्विक सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध होने का अर्थ है विकास के एक-से स्तर पर होना। परन्तु प्रश्न यह है कि शरीर और आत्मा

में जो लौकिक सम्बन्ध दिखाई देता है और जो एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता दिखाई देता है, उसका क्या उत्तर है? सृष्टि के सामञ्जस्य का क्या कारण है? जब सभी चिदणु परस्पर-निरपेक्ष और पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तब उनमें सम्बन्ध या सहयोग कैसा? तब जगत् म नियम, व्यवस्था, एकतन्त्रता क्यों हो सकती है? लाइबनित्ज़ के लिए यह समस्या बड़ी जटिल है और उन्होंने इसका समाधान ईश्वर की शरण लेकर किया है। ईश्वर ने चिदणुओं की सृष्टि की है। उन्होंने सबको स्वतन्त्र बनाया है, किन्तु साथ ही सबको एकतन्त्र में बाँध दिया है। एक चिदणु की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करती। प्रत्येक चिदणु अपनी स्वतन्त्र सत्ता और विशेषता रखते हुए भी विश्व की एकतन्त्रता को क्षण्ण नहीं करता। इस सार्वभौम ईश्वरीय नियम को लाइबनित्ज़ 'पूर्वस्थापित सामञ्जस्य' (Pre-established Harmony) कहते हैं। इसकी तुलना उन्होंने विविध वाद्ययन्त्रों के एकतानसंगीत (Orchestra) से की है, जिसमें प्रत्येक वाद्ययन्त्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वर-वैशिष्ट्य रखते हुए भी, अन्य वाद्ययन्त्रों के स्वरों से संगति रखता है और इस प्रकार एकतानसंगीत की सृष्टि होती है। सब वाद्ययन्त्रों का उद्देश्य एकतानसंगीत है। उसी की पूर्ति वे अपने-अपने स्वरों से करते हैं। इसी प्रकार चिदणु-जगत् की सृष्टि भी सोद्देश्य की गई है। उनमें पूर्वस्थापित सामञ्जस्य है। सबका लक्ष्य इस सामञ्जस्य के साथ अपना-अपना विकास करना है। चिदणुओं के अस्तित्व के पार्थक्य में लक्ष्य की एकतन्त्रता है। उनके द्वैत में सामञ्जस्य का अद्वैत है। विश्व, भेद में अनस्यूत अभेद या द्वैतविशिष्ट अद्वैत है। प्रत्येक चिदणु इस विराट् का जीवित अंग है और विराट् में जो कुछ हो रहा है वह प्रत्येक चिदणु में प्रतिफलित होता है। सारे चिदणुओं में एक ही चैतन्य विकास के विविध स्तरों में प्रकट होता है, अतः यह सामञ्जस्य असंगत नहीं है। सारे चिदणु एक ही चेतना के सूत्र में बँधे हैं जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक चिदणु अपने स्वतन्त्र और विशिष्ट रूप में करता है। ईश्वर ने पहले ही सृष्टि में यह सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है।

इस पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य के नियम से लाइबनित्ज़ ने देहात्मसमस्या का भी समाधान किया है। देह और आत्मा, जड और चेतन नामक दो विरुद्ध द्रव्य या दो विरुद्ध गुण नहीं हैं। सुप्त चेतन को ही जड कहते हैं, अतः इनमें कोई विरोध नहीं। चेतन के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं। देह के चिदणु-समूह में एक केन्द्रीय चिदणु, जो अधिक क्रियाशील और अधिक विकसित चैतन्य होता है, 'आत्मा' कहलाता है। सारे चिदणु अपने अन्तरंग नियमों के आधार पर विकसित होते रहते हैं। कम विकसित चैतन्यवाले चिदणुओं का अधिक विकसित चैतन्य-वाले चिदणुओं की ओर आकर्षण स्वाभाविक है। देह के चिदणु इस प्रकार क्रिया-शील होते हैं कि ऐसी प्रतीति होती है मानों वे केन्द्रीय आत्म-चिदणु द्वारा शासित

हो रहे हों। वास्तव में कोई चिदणु किसी अन्य चिदणु पर साक्षात् प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि चिदणु छिद्ररहित हैं। प्रत्येक चिदणु अपने नियम पर चल रहा है। ईश्वर ने पहले ही सामञ्जस्य की स्थापना करके प्रत्येक चिदणु को इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया है कि उनमें संगति प्रतीत होती रहे। देह के चिदणु और आत्म-चिदणु परस्पर निर्भर नहीं हैं और न इनमें कोई क्रिया-प्रतिक्रिया ही हो सकती है और न ये समानान्तर गुण हैं। इनमें केवल पूर्वस्थापित एकतन्त्रता है। देकार्त ने देह और आत्मा को दो स्वतन्त्र द्रव्य मानकर उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया-सम्बन्ध माना। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रांच ने इनको निमित्तमात्र मानकर प्रत्येक ज्ञान और कर्म को ईश्वर का, जो शक्त कारण हैं, कार्य माना। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान और कर्म के लिए ईश्वर का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। स्पिनोज़ा ने इनको एक ही द्रव्य के गुणमात्र मानकर इनकी दो समानान्तर धारायें बतलाईं। लाइबनित्ज़ ने कहा कि न तो ये दो भिन्न द्रव्य हैं जिनमें क्रिया-प्रतिक्रिया हो सके और न ये दो भिन्न गुण हैं जो समानान्तर हों। इनमें न तात्विक भेद है, न गौण। ये तो एक ही चैतन्य की जाग्रत् और सुप्त अवस्थायें हैं। निमित्तवादियों के समान प्रत्येक ज्ञान और कर्म के समय ईश्वर का हस्तक्षेप आवश्यक बतलाना ईश्वर का अपमान करना है। ईश्वर समर्थ हैं और उन्होंने एक ही बार इनमें पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का नियम बना दिया जिसके अनुसार ये सदा चलते रहते हैं और ईश्वर को बारम्बार हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं रहती। देह और आत्मा दो घड़ियों के समान हैं जो सदा एक-सा समय बताते हुए चलती हैं। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर देकार्त ने दिया कि वे एक यंत्र से परस्पर जुड़ी हुई हैं जिसके कारण एक-सी चलती हैं। एक की क्रिया से दूसरी में उसकी प्रतिक्रिया होती है। स्पिनोज़ा ने कहा कि ये एक ही घड़ी की दो समानान्तर छायायें हैं इसलिए एक-सा समय बताती हैं। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रांच ने कहा कि एक घड़ीसाज़ सदा उपस्थित रहता है जो इनको हर समय मिलाता रहता है। लाइबनित्ज़ ने कहा कि घड़ीसाज़ इतना चतुर है कि उसने ये घड़ियाँ इसी प्रकार की बनाई हैं कि सदा एक-सा समय बताती रहें।

ईश्वर सृष्टिकर्ता हैं। उन्होंने सम्पूर्ण चिदणुओं की सृष्टि करके उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है। सृष्टि का विकासक्रम ईश्वर द्वारा पहले ही निर्धारित हो चुका है। कोई चिदणु इस सार्वभौम नियम का व्यतिक्रम नहीं कर सकता। ईश्वर केवल पूर्णतम चिदणु या पुरुषोत्तम ही नहीं हैं, वे चिदणुओं के भी चिदणु (Monad of Monads) हैं। वे चिदणु-सृष्टि के ऊपर हैं। लाइबनित्ज़ का उद्देश्य दर्शन का ईसाई धर्म के साथ सामञ्जस्य करना रहा है। अतः उन्होंने परम चिदणु को चिदणुओं का स्रष्टा और पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का स्थापक भी माना है। यह स्रष्टा निरंकुश सम्राट् नहीं है, किन्तु स्वयं भी अपने एकतन्त्रता के नियम से बद्ध है। ज्ञानतन्त्र होने के कारण यह स्वतन्त्र है। यह न

अतन्त्र है न परतन्त्र। यह ब्रूनो या स्पिनोज़ा के ईश्वर के समान सृष्टि-स्वरूप न होकर देकार्त के ईश्वर के समान सृष्टि-कर्ता है। इसको लाइबनित्ज़ अपने 'पर्याप्त कारणता नियम' (Law of Sufficient Reason) से सिद्ध करते हैं। इस नियम के अनुसार वही वस्तु सत्य मानी जा सकती है जिसकी सत्ता के लिये पर्याप्त कारण या यथेष्ट हेतु विद्यमान हो। प्रत्येक वस्तु की सत्ता का पर्याप्त कारण होना चाहिए। यह कारण वस्तुओं की कार्य-कारण-शृङ्खला में नहीं मिल सकता क्योंकि इस प्रकार चलते रहने पर अनवस्था दोष आता है। अन्तिम कारण पर, जिसका कोई अन्य कारण न हो, रुकना पड़ता है। यह स्वयंभू (Causa Sui) जो अपना कारण स्वयं है और सृष्टि की कार्य-कारण-शृंखला से परे है, ईश्वर है। इस प्रकार सृष्टि-कर्ता की सिद्धि के लिए पर्याप्तकारण विद्यमान है। लाइबनित्ज़ का ईश्वर देकार्त के ईश्वर के समान सृष्टिकर्ता तो है, किन्तु जिस अर्थ में देकार्त ईश्वर को 'सृष्टि के पार' मानते हैं, लाइबनित्ज़ उस अर्थ में नहीं। लाइबनित्ज़ के अनुसार ईश्वर, मानवी बुद्धि के पार होने के कारण, सृष्टि के पार है। ईश्वर हमारी अपेक्षा परे हैं, जैसे हम पशु की अपेक्षा परे हैं या जैसे पशु वनस्पति और जड जगत् की अपेक्षा परे हैं। "पार" का अर्थ है "ज्ञान का अधिक विकास"। ईश्वर सबके पार या परे हैं क्योंकि उनका ज्ञान पूर्ण विकसित है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्णतम ईश्वर की यह सृष्टि भी सर्वोत्तम है। इससे उत्तम जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती थी, अन्यथा ईश्वर अवश्य उसे सृष्ट करते। लाइबनित्ज़ को जीवन में काफी सफलता मिली थी इसलिए उन्हें यह जगत् ही सर्वोत्तम दिखाई दिया। जगत् में जो दुःख और अभाव प्रतीत होता है, वह हमारे अज्ञान के कारण है। जैसे अन्धकार से प्रकाश का महत्व है, वैसे ही दुःख से ईश्वरीय आनन्द का महत्व है।

लाइबनित्ज़ देकार्त और स्पिनोज़ा के समान बुद्धिवादी हैं। उनके समकालीन लॉक इंगलैण्ड में इन्द्रियानुभववाद की प्रतिष्ठा कर चुके थे। लाइबनित्ज़ ने देकार्त और लॉक के बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस अंश में वे कान्ट के पुरोगामी बने। देकार्त के अनुसार ज्ञान सहज और इन्द्रिय-निरपेक्ष है। लॉक के अनुसार ज्ञान इन्द्रियानुभव से ही उत्पन्न होता है। लाइबनित्ज़ ने कहा कि ज्ञान वास्तव में सहज और इन्द्रिय-निरपेक्ष ही है। ज्ञान की सार्वभौमता और निश्चयात्मकता इन्द्रियानुभव से कदापि नहीं आ सकती। किन्तु दोनों में विरोध नहीं है क्योंकि इन्द्रियानुभव भी ज्ञान का ही क्षीण स्वरूप है।

यह है लाइबनित्ज़ का चिदणु-दर्शन। इसमें लाइबनित्ज़ ने विभिन्न विरोधी मतों में दार्शनिक सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। कुछ अंश में वे सफल हुए हैं, किन्तु बहुत अंश में असफल। लाइबनित्ज़ का दर्शन विरोधों का पिटारा है। इस विरोध-पुञ्ज के कुछ विरोधों का परिहार उन्होंने किया है,

किन्तु बहुत से विरोधों का समाधान करने में वे असफल रहे हैं। इस असफलता का मुख्य कारण है लाइबनित्ज़ का प्रपञ्चवाद (Pluralism)। उनका लक्ष्य था स्पिनोज़ा के द्रव्य के सर्वग्रासी प्रभाव से चिदचित्रूप विश्व की रक्षा करना। इसलिए उन्होंने इस द्रव्य को खण्ड-खण्ड करके चिदणुओं के रूप में बिखेर दिया और फिर उन टुकड़ों को समेटकर ईश्वर का नाम दे दिया। लाइबनित्ज़ प्रत्येक चिदणु को स्वतन्त्र और निरपेक्ष भी रखना चाहते हैं और समस्त चिदणुओं को एक सूत्र में बाँधना भी चाहते हैं। यह कार्य असंभव है। दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं की जा सकती। स्पिनोज़ा का यह कथन कि द्रव्य निरपेक्ष होने के कारण अद्वितीय है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, सर्वथा सत्य है। असंख्य निरपेक्ष वस्तुओं की कल्पना असंगत है। उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। लाइबनित्ज़ को इसका ज्ञान था और इसीलिए उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के कई असफल प्रयत्न किये, किन्तु समस्या सुलझने के बजाय उलझती ही गई। लाइबनित्ज़ भरसक प्रयत्न करके भी अपने चिदणु-चन्द्र को विरोध-राहु के खग्रास-ग्रहण से नहीं बचा सके। चैतन्य या चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है और जो कुछ है वह चित्-शक्ति का ही विविध स्तरों पर विकास-मात्र है—लाइबनित्ज़ का यह कथन सत्य है। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि समस्त चिदणु-जगत् चित्-शक्तिमान् ईश्वर की विविध रूपों में प्रतीति या आभास मात्र है। चिदणुओं की स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति नहीं हो सकती। चिदणुओं का भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। सब चिदणु ईश्वर के विभिन्न प्रतिबिम्ब हैं। सब सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। यदि यह स्वीकार नहीं—और लाइबनित्ज़ को यह स्वीकार नहीं है—तो ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं, चिदणुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं, जगत् की आवश्यकता नहीं और फलतः ऐसे चिदणुओं की भी आवश्यकता नहीं। ऐसी दशा में लाइबनित्ज़ के दर्शन में विरोधों का आना अनिवार्य है, जैसे :—(१) चिदणु की स्वतन्त्र सत्ता या शक्ति है और चिदणुओं में पूर्वस्थापित एकतन्त्रता है, (२) चिदणु अनादि, अनन्त और नित्य हैं और चिदणु ईश्वर-सृष्ट हैं, (३) चिदणु छिद्ररहित हैं और चिदणु समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करते हैं, (४) चिदणु मौलिक स्वरूप में एक हैं और चिदणु विकास के स्तरों में विभिन्न हैं, (५) चिदणु पूर्ण हैं और चिदणुओं में अपूर्णता का तारतम्य है, (६) चिदणु समस्त विश्व का जीवित दर्पण है और चिदणु के अतिरिक्त विश्व में अन्य कुछ नहीं (जो इस दर्पण में प्रतिबिम्बित हो सके), (७) चिदणु में स्वतन्त्र चित्-शक्ति है और चिदणु में इस शक्ति को रोकनेवाली 'सूक्ष्म जडता' है, (८) चिदणुओं में वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और चिदणु परस्पर सामञ्जस्य से सम्बन्धित हैं, (९) ईश्वर स्वयं एक विशिष्ट चिदणु हैं और ईश्वर चिदणुओं के स्रष्टा हैं, (१०)

ईश्वर पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के विधाता हैं और ईश्वर स्वयं इस नियम से बद्ध हैं, आदि। स्पष्ट है कि लाइबनित्ज़ के प्रपञ्चवाद में ईश्वर के लिए वस्तुतः कोई स्थान नहीं। पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का नियम यह काम चला लेगा। और, इस पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के लिए भी उनके दर्शन में कोई स्थान नहीं, क्योंकि छिद्ररहित निरपेक्ष चिदणुओं को सामञ्जस्य की आवश्यकता ही नहीं। चिदणु प्रतिबिम्बित किसे करते हैं? उत्तर है--विश्व को। विश्व क्या है? उत्तर है--चिदणु और उनके प्रतिबिम्ब। परन्तु बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब किस का होगा? लाइबनित्ज़ का विश्व दर्पणों का समूह है जिसमें प्रत्येक दर्पण अन्य सब दर्पणों को अपने भीतर प्रतिबिम्बत कर रहा है! ये निरपेक्ष कहे जानेवाले चिदणु वस्तुतः सापेक्ष चित्-खण्ड हैं। और सत्य निरपेक्ष के अभाव में न इनमें कोई सम्बन्ध हो सकता है और न तारतम्य। उनको विवश होकर, इस कठिनाई को दूर करने के लिए ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी। किन्तु उनका ईश्वर उन्हीं की कल्पना की उपज है, वास्तविक ईश्वर नहीं। लाइबनित्ज़ के दर्शन में आनेवाले विरोधों का एकमात्र परिहार है--चिदणुओं का व्यावहारिक भेद और पारमार्थिक अभेद अर्थात् समस्त चिदणुओं को एक ही निरपेक्ष चित्-शक्ति के आभास मानना। और लाइबनित्ज़ को यह समाधान किसी दशा में स्वीकार नहीं। फलतः उनका दर्शन बौद्धिक अस्थिपञ्जर है, जीवित शक्ति नहीं।

इतने विरोधों के होते हुए भी, लाइबनित्ज़ का दर्शन अपना महत्व रखता है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा प्रशंसनीय है। उनका विविध मतों में सामञ्जस्य करके उनको अपने दर्शन में अपनाने का प्रयत्न, असफल होते हुए भी, श्लाघ्य है। उनके दर्शन की छाप, किसी न किसी अंश में, उनके बाद आनेवाले सभी पाश्चात्य दार्शनिकों पर पड़ी है। और यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं।

———

दशम अध्याय

अनुभववाद : लॉक

जॉन लॉक (१६३२–१७०४) :—लॉक (John Locke) का जन्म इंगलैण्ड के एक साधारण गृहस्थ परिवार में हुआ। आक्सफोर्ड में पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन किया और वहीं यूनानी भाषा के अध्यापक बन गये। जीवन में राजनीति तथा दर्शन के क्षेत्र में उतरे। लार्ड एशले के, जो बाद में अर्ल ऑव शेफ्ट्सबरी हुए, एक भीषण फोड़े को सफलता से चीर-कर उनको रोगमुक्त कर देने के कारण लॉक को उन्होंने अपना मित्र और घरेलू डाक्टर बना लिया। उन्हीं के जीवन के साथ लॉक के राजनीतिक जीवन का भी उत्थान-पतन चलता रहा! एशले की मृत्यु के बाद वे हालैंड भाग गये और पांच वर्ष बाद सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के समय स्वदेश लौट आये। लॉक रायल सोसायटी के सदस्य थे। राजनीति और दर्शन पर उन्होंने प्रसिद्ध तुस्तकें लिखी हैं। वे पुरुषार्थ, पवित्रता, सहनशीलता और विचारस्वातन्त्र्य के बड़े प्रेमी थे। 'मानवी बुद्धि पर निबन्ध' (Essay Concerning Human Understanding) उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचना है।

लॉक में अंग्रेजों की व्यवहार-प्रियता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कूट-कूट कर भरे थे। देकार्त, स्पिनोज़ा और लाइबनित्ज़ के समान परमतत्व को जानने की इच्छा उन्हें नहीं थी। परमतत्व के विषय में दार्शनिकों में कितना मतभेद है। सत्य के स्वरूप को जानने के पहले अपने ज्ञान के स्वरूप को जान लेना अधिक आवश्यक है। द्रव्य-मीमांसा की अपेक्षा ज्ञान-मीमांसा दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख विषय होना चाहिए। तत्व-परीक्षा के पूर्व मानवीय ज्ञान की उत्पत्ति, स्वभाव और सीमा का निर्णय कर लेना आवश्यक है। लॉक के 'निबन्ध' का लक्ष्य ये तीन बातें हैं—(१) यह जानना कि हमारे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है और उसका मूलस्रोत कहाँ है? (२) यह जानना कि हमारे ज्ञान का स्वरूप क्या है और उसमें कितनी प्रामाणिकता, कितनी निश्चयात्मकता होती है? (३) यह जानना कि हमारे ज्ञान की पहुँच, उसकी सीमा, उसकी क्षमता कहाँ तक है?

देकार्त, स्पिनोज़ा और लाइबनित्ज़ के बुद्धिवाद के अनसार ज्ञान का मूलस्रोत है इन्द्रियातीत सहज अनभूति में। यह अनुभूति निर्विकल्प और स्वतःसिद्ध होती है। इसके मौलिक नियम सहज प्रत्यय या विचार या विज्ञान (Innate Ideas) कहलाते हैं। ये हमारे भीतर जन्म से ही विद्यमान है। ये बाहर से नहीं आते।

ये हमारे ज्ञान के मूलस्रोत और आधार हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता और सार्वभौमता इन्हीं पर निर्भर है। ये सहज (Innate), सार्वभौम (Universal) और इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष (A priori) हैं। इन सहज प्रत्ययों के अतिरिक्त देकार्त ने दो प्रकार के प्रत्यय और माने थे, एक तो वे जिनकी कल्पना हमारी बुद्धि कर लेती है और दूसरे वे जो इन्द्रियानुभव से बनते हैं।

लॉक ने बुद्धिवाद की इस मान्यता का खण्डन किया कि ज्ञान का मूलस्रोत इन्द्रियातीत सहज अनुभूति है। हमारे कोई सहज प्रत्यय नहीं हैं। हमारी आत्मा में कोई जन्मजात विचार नहीं हैं। समस्त ज्ञान की जननी इन्द्रियानुभूति है। हमारे ज्ञान का आदि और अन्त इन्द्रियानुभव में होता है। इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष ज्ञान वदतोव्याघात है। सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव-प्रसूत (A posteriori) है। लॉक ने बुद्धिवाद के विपरीत इन्द्रियानुभववाद की प्रतिष्ठा की।

इसके लिए सर्वप्रथम लॉक ने देकार्त के सहज प्रत्ययों या विज्ञानों का खण्डन प्रारम्भ किया। हमारा कोई ज्ञान सहज नहीं है। हम किसी प्रकार का ज्ञान जन्म के साथ नहीं लाते। सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव से आता है। जब लोग किसी वस्तु को अनुभव से सिद्ध नहीं कर सकते, तो उसे सहज कहकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह मार्ग सत्य की खोज से भागने का मार्ग है। यह अन्धविश्वास और रूढ़िवाद का मार्ग है। सहज ज्ञान के समर्थकों के अनुसार आत्मा अपने स्वतःसिद्ध प्रत्ययों के साथ ही इस संसार में आती है। तादात्म्य-नियम (Law of Identity), विरोध-नियम (Law of Contradiction) आदि अनिवार्य और सार्वभौम नियम सहज हैं, इन्द्रियानभव पर निर्भर नहीं। देकार्त के अनुसार आत्मा और ईश्वर की प्रतीति भी सहज ज्ञान द्वारा होती है। लॉक का आक्षेप है कि यदि सहज प्रत्यय हों तो उनकी प्रतीति बालकों, मूर्खों और पागलों को भी होनी चाहिए और उनके विषय में सभी देशों और सब समयों के मानवों में मतैक्य होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। बालकों, मूर्खों और पागलों को ज्ञान के सार्वभौम नियमों का कोई बोध नहीं होता। बच्चे जानते हैं कि गुड़िया और दूध पीने का गिलास एक ही वस्तु नहीं है, किन्तु यह कथन कि बच्चों का यह ज्ञान उनके तादात्म्यनियम और विरोध-नियम के ज्ञान के कारण है, हास्यास्पद है। कुछ वज्रमूर्ख ऐसे भी हैं जो दस तक की गिनती भी नहीं जानते। कुछ पागल ऐसे भी हैं जिनको अपनी आत्मा का भी अनुभव नहीं होता। यदि ईश्वर की प्रतीति भी सहज हो, तो फिर संसार में नास्तिक नहीं होने चाहिए। किन्तु विश्व में नास्तिकों की कमी नहीं। और ईश्वर के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों में जितना विवाद हुआ है तथा धर्मान्ध लोगों में जितना रक्तपात हुआ है, वह भी विदित ही है। आचार सम्बन्धी एक भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो सब देशों और सब युगों के लोगों को समानरूप से मान्य रहा हो। आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों को युक्तियों से सिद्ध करने का अर्थ

ही यह है कि वे आन्तरिक या सहज नहीं हैं। यदि बुद्धिवादी यह कहें कि ये विचार बुद्धि में विद्यमान तो रहते हैं, किन्तु प्रकट रूप में नहीं आते, तो यह असंगत है। 'बुद्धि में विद्यमान' रहने का अर्थ है 'ज्ञात' होना। बुद्धि में कोई विचार रहे और उसका ज्ञान न हो यह असंभव है। कोई प्रत्यय अचेतन नहीं हो सकता। कोई विचार ऐसा नहीं है जो सहज कहा जा सके।

तब ज्ञान का मूल-स्रोत कहाँ है? लॉक का उत्तर है---इन्द्रियानुभव में। लॉक के अनुसार इन्द्रियातीत अनुभव असंभव है। अतः अनुभव शब्द का अर्थ इन्द्रियानुभव ही समझना चाहिए। यह अनुभव दो प्रकार का है---एक तो बाह्य पदार्थों का, और दूसरा मानसिक दशाओं का। अनुभव का अर्थ है बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष होता है पञ्चज्ञानेन्द्रियों के सम्वेदन (Sensation) द्वारा और आन्तर प्रत्यक्ष होता है अन्तःकरण (Inner Sense) के स्वसम्वेदन (Reflection) द्वारा। सम्वेदन और स्वसम्वेदन इन दो द्वारों के द्वारा ही ज्ञान आत्मा में प्रवेश पा सकता है। लॉक के अनुसार आत्मा 'कोरे कागज़', 'साफ़ स्लेट' या 'अन्धेरे कमरे' की तरह है। आत्मारूपी इस कोरे कागज़ या साफ़ स्लेट पर अनुभव अपनी सम्वेदन और स्वसम्वेदन रूपी उँगलियों से ज्ञान-रूपी अक्षर लिखता रहता है। आत्मारूपी इस अन्धेरे कमरे में अनुभवरूपी सूर्य का ज्ञानरूपी प्रकाश सम्वेदन और स्वसम्वेदन रूपी दो खिड़कियों में से होकर आता है और उसे आलोकित करता है। बुद्धि का प्रत्येक विज्ञान अनभव से प्राप्त किया जाता है। सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव में ही स्थित रहता है और इसी में से निकाला जाता है। समस्त ज्ञान का आरम्भ और पर्यवसान इन्द्रियानुभव में होता है।

सम्वेदन और स्वसम्वेदन ही ज्ञान के दो द्वार हैं। ये दोनों द्वार एक साथ नहीं खुलते, एक दूसरे के बाद खुलते हैं। इनमें सम्वेदन प्रथम और प्रधान है। स्वसंवेदन बाद में होता है और संवेदन की अपेक्षा रखता है।

हमारा ज्ञान प्रत्ययों या विज्ञानों से बनता है। विज्ञान दो प्रकार के हैं---एक तो सरल (Simple) और दूसरे मिश्र (Complex)। सरल विज्ञान संवेदन से या स्वसंवेदन से या दोनों से आते हैं। मिश्र विज्ञान सरल विज्ञानों के योग और मिश्रण से बनाये जाते हैं। आत्मा सरल विज्ञानों को निष्क्रिय होकर ग्रहण करती है। मिश्र विज्ञानों के निर्माण में आत्मा को सक्रिय होना पड़ता है। किन्तु आत्मा एक भी विज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। आत्मा की सक्रियता विज्ञानों के मिश्रण करने में ही है, उनको उत्पन्न करने में नहीं।

सरल विज्ञान मौलिक होते हैं। वे बाह्य प्रत्यक्ष या आन्तर प्रत्यक्ष या दोनों से प्राप्त किये जाते हैं। सरल विज्ञान चार प्रकार के हैं:---(१) जो एक इन्द्रिय के संवेदन-द्वार से आत्मा में प्रवेश करते हैं, जैसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द;

(२) जो एक से अधिक इन्द्रियों के संवेदन-द्वार से आत्मा में प्रवेश करते हैं, जैसे विस्तार, आकार, गति आदि ; (३) जो अन्तःकरण के स्वसंवेदन-द्वार से आत्मा में प्रविष्ट होते हैं; जैसे स्मृति, सन्देह, विश्वास, संकल्प आदि; और (४) जो बाह्य-इन्द्रियों के संवेदन और अन्तःकरण के स्वसंवेदन, इन दोनों द्वारों से आत्मा में आते हैं, जैसे सुख, दुःख, सत्ता, शक्ति, एकता, क्रम आदि। इन चार प्रकार के सरल विज्ञानों से ही हमारा सारा ज्ञान बना है। जैसे परिमित अक्षरों से अनन्त वाङमय का निर्माण होता है, वैसे ही इन सरल विज्ञानों से समस्त मानव-ज्ञान बनता है।

मिश्र विज्ञान सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनते हैं। इन विज्ञानों के मिश्रण करने में आत्मा सक्रिय होती है, किन्तु इनको उत्पन्न नहीं करती। जिस प्रक्रिया से आत्मा सरल विज्ञानों द्वारा मिश्र विज्ञान बनाती है, उसकी छह अवस्थायें हैं:—(१) निष्क्रिय रूप से संवेदन या स्वसंवेदन या दोनों के द्वारा सरल विज्ञानों का ग्रहण (Perception); (२) इन विज्ञानों का धारण (Retention), क्योंकि विस्मृति होने पर फिर इनकी रचना संभव नहीं; (३) इन विज्ञानों के परस्पर पार्थक्य-बोध (Discernment) का उदय; (४) इन विज्ञानों का परस्पर संतुलन (Comparison), (५) इन विज्ञानों का मिश्रण (Composition) और (६) इनका सामान्य-करण और नाम-करण (Abstraction and Naming)। सामान्यकरण और नामकरण आत्मा की क्रिया है। यह मनुष्य की ही विशेषता है। इसी के कारण पशु में और मनुष्य में भेद है। पशु सामान्य की कल्पना नहीं कर सकता। सामान्य की कल्पना के कारण नाम-करण संभव होता है और इसके कारण भाषा का आविष्कार होता है।

मिश्र विज्ञान तीन प्रकार के होते हैं—पर्याय या प्रकार (Modes), द्रव्य (Substance) और सम्बन्ध (Relation)।

पर्याय वे मिश्र विज्ञान हैं जो उन सरल विज्ञानों से बनते हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती और जो अपनी सत्ता के लिए द्रव्य पर निर्भर रहते हैं। पर्याय भी दो प्रकार के होते हैं—सरल (Simple) और मिश्र (Mixed)। एक प्रकार के सरल विज्ञानों से बने हुए पर्याय सरल हैं, और विभिन्न प्रकार के सरल विज्ञानों से बने हुए पर्याय मिश्र हैं। आकार, स्थान, दूरी, निकटता आदि आकाश के सरल विज्ञान से बने हुए सरल पर्याय हैं। पल, घंटा, दिन, पक्ष, मास आदि समय के सरल विज्ञान से बने हुए सरल पर्याय हैं। सौन्दर्य है रंग, आकार आदि विभिन्न प्रकार के सरल विज्ञानों से बना हुआ मिश्र पर्याय।

द्रव्य के विज्ञान वे मिश्र विज्ञान हैं जो उन सरल विज्ञानों से बनते हैं जो स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः हम द्रव्य को नहीं जान सकते; हम केवल उसके गुणों को जानते हैं। गुणों के कारण हम उन गुणों के आधारभूत

द्रव्य का अनुमान कर लेते हैं। प्रत्यक्ष द्रव्य का नहीं होता; प्रत्यक्ष द्रव्य के गुणों का ही होता है।

सम्बन्ध के विज्ञान वे मिश्र विज्ञान हैं जिनकी, सरल विज्ञानों के आधार पर, आत्मा स्वयं कल्पना कर लेती है। ये विज्ञान किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इन विज्ञानों में कार्य-कारण-सम्बन्ध का विज्ञान मुख्य है।

यह हुई लॉक के सरल और मिश्र विज्ञानों की चर्चा। अब उनके 'द्रव्य' और 'गुण' सम्बन्धी विचारों की चर्चा भी कर दें। लॉक के अनुसार हमारा ज्ञान विज्ञानों से बनता है अर्थात् विज्ञान ही हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हैं। विज्ञान होते हैं आत्मा में और उत्पन्न होते हैं अनुभव से। अनुभव का अर्थ है संवेदन और स्वसंवेदन। संवेदन होता है इन्द्रियों और बाह्य पदार्थों के सन्निकर्ष से तथा स्वसंवेदन होता है अन्तःकरण और मानसिक भावों के सन्निकर्ष से।

द्रव्य के पूर्व गुण की विवेचना कर लेना अच्छा होगा। लॉक के अनुसार द्रव्य की वह शक्ति जिसके कारण वह हमारी आत्मा में विज्ञान उत्पन्न करता है 'गुण' कहलाती है। हमारा साक्षात् सम्पर्क 'द्रव्य' से न होकर उसके 'गुणों' से ही होता है। गुण दो प्रकार के होते हैं—मूल गुण (Primary Qualities) और उपगुण (Secondary Qualities)। मूल गुण वे हैं जो वस्तुतः द्रव्य में पाये जाते हैं और जो हमारी आत्मा में अपने अनुरूप विज्ञान उत्पन्न करते हैं। मूल गुण द्रव्यों के वास्तविक धर्म हैं। जब इन्द्रियों का इन मूल गुणों से सम्पर्क होता है, तब ये मूल गुण हमारी आत्मा में सम्वेदन उत्पन्न करते हैं और उन संवेदनों में अपनी प्रतिकृति या अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। ये प्रतिबिम्ब ही विज्ञान कहलाते हैं। अतः मूल गुणों का काम हमारी आत्मा में संवेदनों के माध्यम से अपने प्रतिबिम्ब के रूप में विज्ञान उत्पन्न करने का है। इन मूल गुणों के विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक धर्मों के प्रतिबिम्ब हैं। इन मूल गुणों का एक कार्य और है। वह है आत्मा में उपगुणों के सम्वेदन उत्पन्न करना। उपगुण द्रव्य के वास्तविक धर्म नहीं हैं। वे द्रव्य में नहीं रहते। वे हमारी आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः उपगुणों को 'गुण' नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये द्रव्यों के वास्तविक धर्म नहीं हैं फिर भी इनको व्यवहार के कारण गुणों का भेद मान लिया गया है। उपगुण वस्तुओं के धर्म न होकर हमारी आत्मा के संवेदनमात्र हैं। इन संवेदनों को उत्पन्न करते हैं मूल गुण। मूल गुणों के बिना उपगुण उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः इन उपगुणों को हमारी आत्मा की कल्पना भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनको उत्पन्न करने की शक्ति आत्मा में न होकर द्रव्यों के वास्तविक गुणों में है। ये उपगुण हमारी आत्मा में द्रव्यों के मूल गुणों द्वारा उत्थापित सम्वेदनमात्र हैं, अतः इन उपगुणों के विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक धर्मों के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। द्रव्यों का घनत्व (Solidity), विस्तार (Extension), आकार (Shape),

गति (Motion), स्थिति (Rest) और संख्या (Number), जो एकाधिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं, उनके मूल गुण हैं जो उन द्रव्यों में वस्तुतः विद्यमान हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द जो एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होते हैं, उपगुण हैं। ये वस्तुतः द्रव्यों में नहीं रहते। ये आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। मूलगुणों की शक्ति के कारण इन्द्रियसंवेदन के रूप में इनका आत्मा में जन्म होता है। घनत्व, विस्तार, आकार आदि विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक मूलगुणों के हमारी आत्मा में प्रतिबिम्ब हैं। रूप, रस, गन्ध आदि विज्ञान द्रव्यों के वास्तविक गुणों के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। ये वास्तविक गुणों द्वारा उत्पादित इन्द्रियसम्वेदन मात्र हैं। आत्म-द्रव्य में मूल गुण ही होते हैं, उपगुण नहीं। स्वसंवेदन में अन्तःकरण का इन मूल गुणों से साक्षात् सम्पर्क होता है।

लॉक के अनुसार द्रव्य वह पदार्थ है जिसमें मूल गुण रहते हैं। वस्तुतः द्रव्य 'अज्ञेय' (Unknowable) है क्योंकि हमारा द्रव्य के साथ कभी साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। हमारा सम्बन्ध द्रव्य के गुणों के साथ ही होता है जो हमारी आत्मा में अपनी प्रतिकृतियाँ छोड़ जाते हैं। चूँकि गुण केवल शक्ति हैं और शक्ति के लिए शक्तिमान् चाहिए, इसलिए इन गुणों के आधारभूत द्रव्य का अनुमान कर लिया जाता है। लॉक बाह्य-प्रत्यक्षवादी (Presentationist) न होकर बाह्यानुमेयवादी (Representationist) हैं। बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल अनुमान होता है। प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है, द्रव्य का नहीं। इसी को प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद या विज्ञानप्रतिबिम्बवाद भी कहते हैं। लॉक के अनुसार ज्ञान का एकमात्र स्रोत प्रत्यक्ष है। अतः द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने के कारण उन्होंने द्रव्य को 'अज्ञेय' कहा है। द्रव्य की कल्पना मिश्र विज्ञान है जो कई सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनी है। ये सरल विज्ञान स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः द्रव्य की कल्पना में उसकी स्वतन्त्र सत्ता का समावेश है। हमारे लिए द्रव्य गुणों का समुदाय मात्र है। किन्तु गुणों के अतिरिक्त उनका आधारभूत द्रव्य होना अवश्य चाहिए, भले ही वह हमारे लिए अज्ञेय हो। द्रव्य "सर्वत्र एक-सा" (The same everywhere) और "मैं नहीं जानता क्या" (I know not what) है। फिर भी लॉक तीन प्रकार के द्रव्यों को मानते हैं:—ईश्वर, आत्मा और जडतत्व। आत्मा चेतन तत्व है जिसकी हमें साक्षात् अनुभूति होती है। जड तत्व की हमें उसके गुणों द्वारा प्रतीति होती है। ईश्वर का हमें केवल परोक्ष ज्ञान होता है। ईश्वर अनादि, अनन्त, नित्य, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं और इस जगत् के स्रष्टा हैं।

अब ज्ञान के स्वरूप और उसकी सीमा का विचार करना चाहिए। हमारे ज्ञान के विषय केवल हमारे विज्ञान हैं। ज्ञान हमारे विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का, उनकी संगति या असंगति का दर्शन मात्र है। विज्ञानों की असंगति या अविसं-

वाद मिथ्या ज्ञान का, कोरी कल्पना या विश्वास का क्षेत्र है, सत्य ज्ञान का नहीं। हमारे विज्ञानों के कुछ आदिरूप (Archetypes) हैं। यदि विज्ञानों की संगति उनके आदिरूपों के साथ हो, उन गुणों के साथ हो जिनके कारण विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तो हमारा ज्ञान सत्य है। यदि संगति न हो, तो ज्ञान असत्य है। जितनी अधिक संगति होगी, ज्ञान की सत्यता भी उतनी ही अधिक होगी।[1] वस्तुतः ज्ञान के साक्षात् विषय तो विज्ञान ही हैं, किन्तु ज्ञान विषय बनाना चाहता है वस्तुओं को। ऐसा वह विज्ञानों के माध्यम से ही कर सकता है, साक्षात् नहीं। विचार वस्तुओं के स्वरूप-धर्मों के प्रतिबिम्ब हैं और आत्मा के पास यह साधन अवश्य है जिससे वह यह जान लेती है कि अमुक प्रतिबिम्ब सत्य हैं या मिथ्या। यदि प्रतिबिम्बों की उनके बिम्बों से अर्थात् वस्तुओं के गुणों से संगति है, तो वे सत्य हैं और यदि असंगति है तो मिथ्या हैं।

लॉक ने हमारे ज्ञान के तीन प्रकार बताये हैं--बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान (Sensitive knowledge), आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान (Intuitive knowledge) और परोक्ष-ज्ञान (Demonstrative knowledge)। बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियों के संवेदनों से प्राप्त होता है। मिश्र विज्ञानों में, द्रव्य विज्ञानों को छोड़कर, जितने भी विज्ञान हैं अर्थात् पर्याय-विज्ञान और सम्बन्ध-विज्ञान, वे पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने का दावा नहीं करते और इसीलिए उनके ज्ञान के मिथ्या होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। किन्तु सरल विज्ञानों और द्रव्य-विज्ञानों के बिम्बों का अस्तित्व आत्मा के बाहर है और इनका ज्ञान या तो पदार्थों के मूल-गुणों के प्रतिबिम्बों का ज्ञान है या उपगुणों का ज्ञान, जो प्रतिबिम्ब या उपगुण मूलगुणों द्वारा आत्मा में उत्पन्न किये जाते हैं। अतः इनके विषय में मिथ्या या सत्य होने का प्रश्न उठता है। यदि प्रतिबिम्ब अपने बिम्बों के समान हैं, तो ज्ञान सत्य है, अन्यथा मिथ्या। सरल विज्ञानों के प्रतिबिम्ब मूलगुणों द्वारा उत्थापित होने के कारण सदा सत्य ही होते हैं क्योंकि मूलगुण, वस्तुओं के वास्तविक धर्म होने के कारण, अपना यथार्थ प्रतिबिम्ब ही आत्मा पर अंकित करते हैं। उपगुणों की सृष्टि भी आत्मा के संवेदनों के रूप में ये मूलगुण ही करते हैं, अतः उपगुण भी यथार्थ ही होते हैं। अतः इन्द्रियसंवेदनजन्य बाह्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान का यथार्थ होना असंदिग्ध है क्योंकि संवेदन वस्तुओं के वास्तविक गुणों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। द्रव्य-विज्ञानों के विषय में, जो मिश्र विज्ञान हैं, सन्देह अवश्य हो सकता है क्योंकि हमें द्रव्यों का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। किन्तु फिर भी बाह्य पदार्थों के अस्तित्व में लॉक का अखण्ड विश्वास है। इसके लिए वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं:--(१) हमारे संवेदनों का कारण बाह्य पदार्थ हैं, क्योंकि यदि कोई मनुष्य किसी इन्द्रिय से वंचित हो, तो वह तत्सम्बन्धी संवेदनों का ज्ञान नहीं कर सकता। चक्षुविहीन को

---

१. परतःप्रामाण्यवाद

रूप नहीं दिखाई देता और बहरा शब्द नहीं सुन सकता। (२) संवेदन और स्मरण में अन्तर है। संवेदन अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली होते हैं; स्मरण धुंधले और मन्द। अतः संवेदनों को बाह्यपदार्थजनित ही मानना पड़ता है। (३) हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ, बाह्य वस्तुओं की सत्ता को, अपने-अपने सम्वेदनों से पुष्ट करती हैं। जिस अग्नि को मैं देखता हूँ, उसे छू कर भी जान सकता हूँ। अतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध है। इसलिए बाह्यप्रत्यक्षज्ञान यथार्थ होता है।

द्वितीय प्रकार का ज्ञान है आन्तर-प्रत्यक्ष-ज्ञान। यह ज्ञान सबसे अधिक प्रामाणिक और निश्चयात्मक होता है। यह स्वसम्वेदनों से होता है। इसमें सम्वेदनों द्वारा उत्पन्न दो विज्ञानों की परस्पर संगति, बिना किसी तृतीय विज्ञान की सहायता के, स्वतः जानी जाती है। यह ज्ञान स्वतःसिद्ध, निश्चयात्मक और असंदिग्ध है। स्वतःसिद्ध इस अर्थ में नहीं है कि यह आत्मा का सहज विज्ञान है, क्योंकि कोई विज्ञान सहज नहीं हो सकता। स्वतःसिद्ध इस अर्थ में है कि उत्पन्न होते ही यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लिया जाता है। आन्तरप्रत्यक्षज्ञान अर्थात् आत्मा का और उसकी अवस्थाओं का ज्ञान तथा कुछ बौद्धिक मौलिक नियमों का ज्ञान, जिनका बाह्य वस्तुओं से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं, स्वतःसिद्ध और असंदिग्ध है। उदाहरणार्थ, हमारे अपने अस्तित्व का ज्ञान, हमारी मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान और यह ज्ञान कि सफेद काला नहीं होता और दो और दो मिलकर चार होते हैं।

तृतीय प्रकार का ज्ञान है परोक्ष ज्ञान। इसमें दो विज्ञानों की परस्पर संगति अन्य विज्ञानों के माध्यम से जानी जाती है। यह निगमनात्मक तर्क (Deductive Reasoning) की प्रणाली है। ईश्वर का अस्तित्व इसी अनुमान-प्रमाण के आधार पर सिद्ध होता है। इस विराट् विश्व के स्रष्टा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। गणितशास्त्र इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

हमें अपनी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है आन्तरप्रत्यक्ष द्वारा, जड जगत् के अस्तित्व का ज्ञान होता है बाह्यप्रत्यक्ष द्वारा और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान होता है परोक्ष-ज्ञान द्वारा। यही मानव-ज्ञान की सीमा है।

यह लॉक के दर्शन का संक्षिप्त परिचय है। लॉक ने दर्शन में ज्ञान-मीमांसा का महत्व बताकर एक नई परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने इन्द्रियानुभववाद (Empiricism), सम्वेदनवाद (Sensationism) और विज्ञानप्रतिबिम्बवाद (Representationism) की प्रतिष्ठा की। लॉक की इस परम्परा का आगे के दार्शनिकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

किन्तु लॉक की ज्ञान-मीमांसा अनेक दोषों से परिपूर्ण है। वस्तुतः इन्द्रियानुभववाद की सच्ची प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। इन्द्रियों द्वारा केवल विशेष संवेदनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। जब तक ये बिखरे हुए संवेदन बुद्धि की मौलिक

धारणाओं और नियमों द्वारा व्यवस्थित न किये जावें, तब तक ये 'संवेदन' मात्र रहेंगे, 'ज्ञान' नहीं बन सकते। ज्ञान का उद्‌गम इन्द्रियानुभव में कदापि नहीं हो सकता। ज्ञान हमारी आत्मा का सहज और स्वरूप धर्म है। इस सहज निर्विकल्प अनुभूति और उसके स्वतःसिद्ध मौलिक नियमों को माने बिना ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। हाँ, पशुओं के समान हमें भी इन्द्रिय-संवेदनों का पृथक्-पृथक् अनुभव तो होगा, किन्तु इस अनुभव को ज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। जब तक बुद्धि के विकल्प इन निरीह और विकल्प-हीन संवेदनों को, जो पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, अपने सहज नियमों द्वारा, एक सूत्र में बाँधकर 'ज्ञान' का रूप न दे दें, तब तक हमें केवल पाशविक संवेदन के स्तर पर ही रहना होगा। बुद्धि-विकल्पों के अभाव में दो संवेदनों में परस्पर कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना तो हम 'संवेदन' को संवेदन के रूप में भी नहीं जान सकते। हमें संवेदन की **'वेदना मात्र'** होगी, उनका **'ज्ञान'** नहीं होगा। अतः ज्ञान को इन्द्रिय-संवेदनों से बाँध देने पर वह ज्ञान ही नहीं रहता। इन्द्रियानुभव के आधार पर कोई दर्शन स्थापित नहीं हो सकता, स्वयं इन्द्रियानुभववाद भी नहीं। पुनश्च, यदि थोड़ी देर के लिए इन्द्रियानुभव को सविकल्प बुद्धि से अनुप्राणित और व्यवस्थित 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' भी मान लें, तो भी परिणाम घोर असन्तोषजनक होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, चाहे वह प्रत्यक्ष बाह्य हो, चाहे आन्तर, चाहे दोनों, कोई दर्शन खड़ा नहीं हो सकता। इस अनुभववाद के अनुसार हमें केवल अपने विज्ञानों का ही साक्षात् ज्ञान होगा, जो विज्ञान संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा उत्थापित किये जावेंगे। संवेदन और उस पर आश्रित स्वसंवेदन के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती---न आत्मा की, न जड जगत् की और न ईश्वर की। यह संवेदनवाद 'सन्देहवाद' और 'अज्ञेयवाद' का जनक है। इसके अनुसार किसी की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती---स्वयं इसकी भी नहीं, और इस प्रकार यह आत्मघात करके समाप्त हो जाता है। हाँ, इन्द्रियसंवेदनों का बड़ा भारी महत्व है। वे हमारे ज्ञान को जगाते हैं, उसे विकसित करते हैं; किन्तु उसे **'उत्पन्न'** नहीं कर सकते। ज्ञान के बीज आत्मा के सहज स्वरूप में विद्यमान हैं, वे बाहर से नहीं आते। इन्द्रियानुभव उन बीजों को पल्लवित, पुष्पित और फलित करता है। वस्तुस्थिति यह है। लॉक ने इसे नहीं समझा। और फिर अनुभववाद की आत्मघाती प्रवृत्ति से घबराकर, तर्क को ताक में रख दिया तथा ईश्वर, जीव और जगत् तीनों द्रव्यों की सत्ता स्वीकार कर ली। यदि 'द्रव्य' अज्ञेय है तो हम ईश्वर, जड और चेतन द्रव्यों की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकते हैं? जब द्रव्य से हमारा साक्षात् सम्बन्ध ही नहीं, जब हमारे ज्ञान के विषय केवल हमारे विज्ञान हैं, तो हम अपने विज्ञानों की दुनिया में ही मस्त रह लें, हमें जड जगत्, आत्मा और ईश्वर से क्या प्रयोजन? हमारा सारा संसार हमारे मन की ही कल्पना है।

लॉक का यह कथन कि आत्मा 'कोरे कागज़' या 'अँधेरे कमरे' के समान है और निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-संवेदनों को ग्रहण करता है, हास्यास्पद है। आत्मा सक्रिय संग्रह करनेवाला है, निष्क्रिय नहीं। यदि मैं किसी इन्द्रिय का द्वार ही बन्द कर दूँ, जैसे आँखें मूँद लूँ, तो संवेदन की सामर्थ्य नहीं कि मेरी आत्मा में घुस सके। और, यदि आँख खोलकर भी मैं सक्रिय रूप से संवेदनों को ग्रहण न करूँ तो वे संवेदन 'ज्ञात' ही नहीं होंगे। यदि मेरा ध्यान किसी विचार में रम रहा है, तो बाहर कितना ही शोर हो, मैं उसे नहीं जानता। शोर हो रहा है और मेरी श्रोत्रेन्द्रिय का उससे सम्पर्क भी हो रहा है, किन्तु मैं उसे नहीं 'सुनता'। संवेदन हैं, किन्तु उनका ज्ञान नहीं है अर्थात् वे (बुद्धि-विकल्प के अभाव में) ज्ञान के रूप में परिणत नहीं हो रहे। मै अपने विचारों में खोया सड़क पर चला जा रहा हूँ, सामने से मेरे मित्र आ रहे हैं, मेरी चक्षुरिन्द्रिय का उनसे सन्निकर्ष हो रहा है, किन्तु मैं उन्हें नहीं 'देखता'—देखकर भी नहीं देख पाता। यदि आत्मा 'निष्क्रिय' है तो यह संभव नहीं हो सकता।

पुनश्च, हमारे ज्ञान में जो निश्चयात्मकता, प्रामाणिकता और सार्वभौमता है, वह इन्द्रियानुभव से आ नहीं सकती क्योंकि इन्द्रियानुभव विशेषों का होता है; सामान्यों का नहीं। लॉक के अनुसार 'सामान्य' कल्पनामात्र है। यदि ऐसा है, तो हमारे ज्ञान में कभी निश्चयात्मकता नहीं आ सकती। सारा ज्ञान संदिग्ध रहेगा। स्वयं इन्द्रियानुभववाद भी संदिग्ध होगा और इस प्रकार अबाधित 'सन्देह-वाद' को जन्म देकर इन्द्रियानुभववाद आत्महत्या कर लेगा।

लॉक के अनुसार वस्तुतः जड द्रव्य और गुण का भेद नहीं हो सकता और न मूलगुण और उपगुण का भेद हो सकता है। इसको बर्कले ने स्पष्ट किया है, अतः इसका विवेचन आगे करेंगे।

एकादश अध्याय

अनुभववाद : बर्कले

जॉर्ज बर्कले (१६८५–१७५३) :––बर्कले (George Berkeley) का जन्म आयरलैंड में हुआ था। उनकी प्रतिभा असाधारण, प्रवृत्ति धार्मिक और स्वभाव मधुर था। २५ वर्ष की आयु से ही वे अपनी दार्शनिक कृतियाँ प्रकाशित कराने लग गये थे। पहले वे डबलिन कॉलेज में अध्यापक हुए। फिर पादरी बन गये। बाद में लन्दन जाकर विख्यात साहित्यिकों से उन्होंने घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया। उनकी दार्शनिक कृतियाँ भाषा की शैली और साहित्यिक सौन्दर्य से भी पूर्ण हैं। उन्होंने यूरोप का भ्रमण किया और एक नवीन आदर्श समाज स्थापित करने के उद्देश्य से अमेरिका गये। केलिफ़ोर्निया में बर्कले नामक नगर उनके नाम पर बसाया गया था। अमेरिका में सफल न होने के कारण वे आयरलैंड लौट आये और दक्षिण आयरलैंड के पादरी बने। साधारण सरल जीवन के प्रेमी होने के कारण, उच्च पद मिलने पर भी, वे नहीं गये। धर्म के प्रचार और रोगियों की सेवा में उनकी विशेष अभिरुचि थी। जीवन के अन्तिम दिनों में वे ऑक्सफोर्ड चले गये और वहीं एक दिन अपराह्न में चाय पीते समय उनका देहान्त हो गया। उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचनायें हैं––'मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Human Knowledge), 'हाइलस और फ़िलोनाउस के तीन संवाद' (Three Dialogues Between Hylas and Philonous), 'एल्सीफ्रोन या सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक' (Alciphron, or the Minute Philosopher) और 'सिरिस' (Siris)।

जैसे स्पिनोज़ा ने अपना दर्शन देकार्त की त्रुटियाँ सुधार कर प्रारंभ किया, वैसे ही बर्कले ने अपना दर्शन लॉक की भूलें ठीक करके प्रारंभ किया। बर्कले का लक्ष्य धर्म और दर्शन का सामञ्जस्य करना था। लॉक की ज्ञान-मीमांसा के कुछ सिद्धान्त बर्कले ने स्वीकार किये। लॉक के दर्शन में जो बहुत से विरोध थे उनको बर्कले ने दूर किया। बर्कले भी लॉक के समान अनुभववादी हैं, किन्तु लॉक का इन्द्रियानुभववाद बर्कले में विज्ञानानुभववाद बन गया है। तत्वमीमांसा में बर्कले लाइबनित्ज़ के समान चैतन्यवादी हैं। बर्कले का मुख्य उद्देश्य जडवाद का खण्डन और विज्ञानवाद का मण्डन है।

बर्कले ने लॉक के अनुभववाद को स्वीकार किया। हमारे विज्ञान संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा आते हैं, हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय विज्ञान ही हैं, विज्ञान आत्मा में उत्पन्न होते हैं, आत्मा विज्ञानों का आश्रय है, विज्ञान सरल या मिश्र होते हैं––लॉक के ये सिद्धान्त बर्कले को मान्य हैं।

बर्कले के अनुसार लॉक ने अपने इन्द्रियानुभववाद को उचित और पूर्ण रूप से नहीं समझा। इसी कारण उनके दर्शन में विरोध आ गये हैं और वे जडवाद, सन्देहवाद तथा अनीश्वरवाद से पूर्णतया बच नहीं पाये हैं। इन सब का मूल कारण उनका जडवाद है अर्थात् बाह्य जड पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानना। जब लॉक इस बात को मानते हैं कि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे विज्ञान ही हैं, तब बाह्य पदार्थों की सत्ता कैसे स्वीकार की जा सकती है? लॉक यह भी कहते हैं कि जड द्रव्य 'अज्ञेय' है, कि हमारा उससे कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, कि हमें केवल गुणों का ही प्रत्यक्ष होता है और साथ ही यह भी मानते हैं कि बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा स्वतन्त्र जड पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होता है। किन्तु जब प्रत्यक्ष केवल विज्ञानों का ही होता है, तो बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष कैसे होगा? इस कठिनाई से बचने के लिए लॉक कहते हैं कि बाह्य पदार्थ का अनुमान कर लिया जाता है। कैसे? उसके गुणों के कारण। द्रव्य के मूलगुण संवेदनों के माध्यम से हमारी आत्मा में अपने प्रतिबिम्ब या प्रतिलिपि अंकित कर देते हैं। ये प्रतिबिम्ब ही विज्ञान हैं। हम इन प्रतिबिम्बों को देखकर उस द्रव्य का अनुमान कर लेते हैं जिस द्रव्य के मूलगुणों के ये प्रतिबिम्ब हैं। प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य का अनुमान हम उसके मूलगुणों के कारण करते हैं कि मूलगुणों के प्रतिबिम्बों के कारण? पहले तो कहा गया था कि हमारा साक्षात् सम्पर्क द्रव्य से न होकर उसके गुणों से होता है। अब कहा जाता है कि वस्तुतः हमारा सम्पर्क मूलगुणों से भी नहीं होता, केवल उनके प्रतिबिम्बों से होता है जो हमारे विज्ञान हैं। न तो हम द्रव्य को जानते हैं और न उसके मूलगुणों को। हम जानते हैं केवल अपने विज्ञानों को जो मूलगुणों के प्रतिबिम्ब हैं। यदि ऐसा है, तो प्रश्न यह है कि बिम्बों के ज्ञान के अभाव में हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे विज्ञान प्रतिबिम्ब हैं? और कैसे हम इन प्रतिबिम्बों को यथार्थ कहकर अपने ज्ञान को सत्य मान सकते हैं? यदि हम बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों को देख सकते तो हम कह सकते थे कि अमुक प्रतिबिम्ब अमुक बिम्ब का है और ठीक आया है या नहीं। बिम्ब के ज्ञान के अभाव में हम दोनों की तुलना नहीं कर सकते और न अपने विज्ञानों को यथार्थ या अयथार्थ कह सकते हैं। हमारे लिये तो केवल विज्ञान ही सत्य हैं। हम न तो अपने विज्ञानों को प्रतिबिम्ब कह सकते हैं न मूल गुणों को बिम्ब। हम मूलगुणों को नहीं जान सकते और न उनके द्वारा बाह्य द्रव्य का अनुमान कर सकते हैं। जब जड द्रव्य और उसके मूलगुण दोनों हमारे प्रत्यक्ष के बाहर हैं, तो द्रव्य और गुण के भेद का प्रश्न नहीं उठ सकता।

इसी प्रकार मूलगुण और उपगुण का भेद भी अनुचित है। कहा गया है कि मूलगुण द्रव्य के वास्तविक धर्म हैं जो उसमें विद्यमान रहते हैं और जिनका कार्य, इन्द्रियों से सम्पर्क होने पर, हमारी आत्मा में, संवेदनों के माध्यम से अपने

प्रतिबिम्बों के रूप में विज्ञान उत्पन्न करने का है। इन मूलगुणों का दूसरा कार्य अपनी शक्ति से हमारी आत्मा में संवेदनों के रूप में उपगुण उत्पन्न करने का है। उपगुण संवेदन रूप हैं और आत्मा में रहते हैं। मूलगुण बाह्य पदार्थ में रहते हैं और आत्मा में केवल अपने प्रतिबिम्ब अंकित करते हैं। आकार, विस्तार, गति आदि मूल गुण हैं। रूप, रस, गंध आदि उपगुण। बर्कले का तर्क है कि मूलगुण और उपगुण में कोई भेद नहीं। जैसे उपगुण आत्मा में रहते हैं, वैसे ही मूलगुण भी, बाह्य पदार्थ में न रहकर, आत्मा में ही रहते हैं। दोनों का अधिष्ठान आत्मा है। दोनों मानसिक धर्म हैं। दोनों संवेदन मात्र हैं। दोनों ही इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं। दोनों आत्मा में उत्पन्न होते हैं। दोनों विज्ञानरूप हैं और दोनों की सत्ता आत्मा पर निर्भर है। शीत या उष्ण स्पर्श मानसिक हैं––एक ही वस्तु किसी को कम उष्ण और किसी को अधिक उष्ण लगती है। ज्वर में चीनी भी कड़वी लगती है। पीलिया के रोगी को सफ़ेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। इसी प्रकार तथाकथित मूलगुण भी द्रष्टा पर निर्भर हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर वस्तुओं का आकार और विस्तार भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। एक ही वस्तु दूर से देखने पर छोटी और पास से देखने पर बड़ी लगती है। एक ही वस्तु जो सामने से देखने पर गोलाकार लगती है, बगल से देखने पर अण्डाकार प्रतीत होती है। पुनश्च, मूलगुण और उपगुण सदा साथ रहते हैं। उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अतः सिद्ध है कि दोनों एक ही प्रकार के गुण हैं और आत्मा में रहते हैं। इनका भेद कल्पित और अनुचित है। इसलिए इन तथाकथित मूलगुणों को बाह्य पदार्थों का वास्तविक धर्म मानना और उनके आधार पर बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करना, दोनों बातें गलत हैं। लॉक अपने सिद्धान्तों को भूलकर ऐसा करते हैं। वे ''स्वयं धूल उछालते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि वे देख नहीं सकते।''

बाह्य द्रव्यों की सत्ता के लिए लॉक ने एक प्रमाण यह भी दिया था कि हम 'अमूर्त विज्ञान' अर्थात् काल्पनिक सामान्य या जाति के विज्ञान (Abstract Idea) के बल पर द्रव्य का ज्ञान करते हैं। जैसे हम विशेषों के आधार पर सामान्य की कल्पना करते हैं, यथा विविध मनुष्यों को देखकर मनुष्यत्व की कल्पना करते हैं, वैसे ही विविध गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य-सामान्य की कल्पना करते हैं। बर्कले ने बताया कि ये 'अमूर्त या काल्पनिक विज्ञान' असंभव हैं। हम इन्द्रियों द्वारा विशेषों का ही ज्ञान कर सकते हैं, सामान्य का नहीं। 'सामान्य मनुष्य' की कल्पना करते ही किसी मनुष्य विशेष की आकृति मस्तिष्क में आती है। 'काल्पनिक विज्ञान' वदतोव्याघात है। सारे विज्ञान वास्तविक होते हैं। ज्ञान का विषय सदा संवेदन या स्वसंवेदन होता है और यह एक विशेष और वास्तविक विज्ञान होता है। यह ध्यान देने की बात है कि बर्कले सामान्य का खण्डन नहीं करते।

सामान्य और सार्वभौम विज्ञानों की सत्ता उन्हें मान्य है। उनका कथन यह है कि ये सामान्य विज्ञान इन्द्रियानुभव से नहीं आते और न इनको अमूर्त या काल्पनिक विज्ञान कहा जा सकता है। अतः इन तथाकथित 'अमूर्त विज्ञानों' के आधार पर भी बाह्य द्रव्यों की सत्ता नहीं मानी जा सकती।

बर्कले ने यह सिद्ध किया कि तथाकथित बाह्य जड पदार्थ का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं। हम इसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्यक्ष होता है केवल गुणों का, बाह्य पदार्थ का नहीं। गुणों के अधिष्ठान के रूप में हम बाह्य पदार्थ का अनुमान भी नहीं कर सकते क्योंकि गुण वास्तव में संवेदनमात्र हैं और इसीलिए आत्मा पर निर्भर हैं, बाह्य पदार्थ पर नहीं। वे आत्म-निष्ठ होते हैं, वस्तु-निष्ठ नहीं। यहाँ एक शंका और हो सकती है। भले ही संवेदन आत्मा में रहें, किन्तु उन संवेदनों को आत्मा में उत्पन्न करने की शक्ति तो बाह्य पदार्थ में ही माननी पड़ेगी। बाह्य पदार्थ को इन संवेदनों की उत्पत्ति का कारण मानना पड़ेगा। यदि मेज़ वस्तुतः न हो, तो आत्मा में उसका संवेदन भी उत्पन्न नहीं हो सकता। हम बहुत से विज्ञानों की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु बाह्य पदार्थों के अभाव में उनके संवेदन प्राप्त नहीं कर सकते। फिर, यदि बाह्य पदार्थ हमारे विज्ञान मात्र हों, तो वे सबको लगभग एक ही रूप में क्यों प्रतीत होते हैं? यह तो स्पष्ट ही है कि जिन संवेदनों को इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों से ग्रहण करती हैं, उन संवेदनों को हम स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः बाह्य पदार्थों की सत्ता माननी पड़ेगी। बर्कले का उत्तर है कि यह अनावश्यक और भ्रमपूर्ण विचार है। यह सत्य है कि इन इन्द्रिय-संवेदनों को हमारी आत्मा स्वतः उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन संवेदनों के जनक तथाकथित बाह्य जड पदार्थ हैं। जो जड है, जो अशक्त है, जो न द्रष्टा है न दृश्य है, जो न ज्ञाता है न ज्ञेय है, वह तथाकथित बाह्य पदार्थ हमारी चेतन आत्मा पर कैसे अपने गुणों की (जो उसमें विद्यमान ही नहीं हैं) छाप अंकित कर सकता है? विज्ञानों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य जड में नहीं हो सकता। अतः इन विज्ञानों की उत्पत्ति का कारण चेतन आत्मा को ही मानना पड़ेगा। और चूँकि हमारी आत्मा इन्द्रिय-संवेदनों को स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिए इनकी उत्पत्ति का कारण परमात्मा को मानना चाहिए। ईश्वर ही इन इन्द्रियसंवेदन रूपी विज्ञानों को हमारी आत्मा में उत्पन्न करते हैं। यह सामर्थ्य तथाकथित जड द्रव्यों का नहीं हो सकता। अतः सिद्ध हुआ कि तथाकथित बाह्य जड पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं। लॉक का यह अज्ञेय बाह्य द्रव्य जिसके विषय में वे कहते हैं कि यह "कुछ है, किन्तु मैं नहीं जानता क्या है" (Something I know not what), यह "मूर्खतापूर्ण चेतना-शून्य जड" (Stupid thoughtless somewhat) वास्तव में 'शून्य' (Nothing) है।

जड तत्व का खण्डन करके बर्कले अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है--"सत्ता अनुभव-मूलक है" (Esse Est Percipi) अर्थात् उसी की सत्ता मानी जा सकती है जो अनुभव करता है या अनुभव किया जाता है। अनुभव-कर्ता है आत्मा और अनुभव के विषय हैं विज्ञान। अतः आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। ईश्वर भी आत्म-स्वरूप हैं। वे परमात्मा हैं। विज्ञान अजड हैं। वे तथाकथित बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब या प्रतिकृति नहीं हैं। वे आत्म-निष्ठ हैं, बाह्य-वस्तु-निष्ठ नहीं। विज्ञान-बाह्य कोई विषय नहीं। जड तत्व की कोई सत्ता नहीं। कुछ विज्ञानों को आत्मा स्वयं उत्पन्न करती है और कुछ को ईश्वर। विज्ञान के दो रूप हैं--संवेदन और स्वसंवेदन। संवेदनों की सृष्टि ईश्वर करते हैं। स्वसंवेदनों की सृष्टि आत्मा करती है। लाइबनित्ज़ ने कहा था--चिदणु और उनके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं। बर्कले ने कहा--आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं। हमारे विज्ञान ही सत्य वस्तुयें हैं। बर्कले की प्रसिद्ध उक्ति है--"मैं वस्तुओं को विज्ञान नहीं बनाता, मैं विज्ञानों को वस्तु बना रहा हूँ।" विज्ञान ही सत्य विषय हैं और उनकी सत्ता आत्मा के बाहर नहीं है। आत्मा का अर्थ यहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों है। बहुत से विज्ञान मेरी आत्मा के बाहर हैं, किन्तु परमात्मा के बाहर नहीं। संसार के समस्त दृश्य पदार्थ, घट, पट, मेज़, कुर्सी, पेड़, पौधे, सूरज, चाँद, तारे आदि सब हमारे ही विज्ञान हैं, सब आत्मा में विद्यमान हैं। प्रतीति होना या अनुभव किया जाना अस्तित्व का द्योतक है। मान लीजिये, मेरे कमरे में मेरे सामने मेज़ रक्खी है। मेज़ कोई 'बाह्य जड पदार्थ' नहीं है, वह 'विज्ञान मात्र' है और आत्मा की सृष्टि है। जब तक मैं मेज़ को देख रहा हूँ उसका अस्तित्व है। किन्तु जब मैं कमरे के बाहर चला जाऊँगा तो क्या मेज़ की सत्ता नहीं रहेगी? बर्कले का उत्तर है--अवश्य रहेगी। 'प्रतीति का विषय होना सत्ता का सूचक है'--इस वाक्य के अनुसार 'प्रतीति के विषय बनने का सामर्थ्य' भी इसके अन्तर्गत आ जाता है। यदि मैं कमरे में न रहूँ तो भी मेज़ की सत्ता बनी रहेगी, क्योंकि, (१) यदि मैं कमरे में होता तो मुझे मेज़ की प्रतीति हो सकती थी, अर्थात् मेज़ में मेरी प्रतीति का विषय बनने का सामर्थ्य विद्यमान है, (२) अन्य कोई व्यक्ति उस मेज़ को प्रतीति कर रहा हो, (३) ईश्वर को उस मेज़ की प्रतीति सदा हो रही है। अतः बर्कले के अनुसार विज्ञानों की सत्ता बनी रहती है क्योंकि उनमें प्रतीति के विषय बनने का सामर्थ्य है, क्योंकि कोई न कोई जीव उनकी प्रतीति कर रहा है, और क्योंकि ईश्वर को उनकी प्रतीति सदा हुआ करती है।

बर्कले ने जो 'विज्ञान' शब्द का अर्थ किया (अर्थात् 'अनुभव का विषय') उसे न समझकर और उसे साधारण प्रचलित अर्थ में बाह्य वस्तुओं द्वारा जनित

संस्कार या मानसिक कल्पना मात्र मानकर लोगों ने बर्कले पर व्यर्थ के दोष थोपे हैं। बर्कले ने स्वयं इस सिद्धान्त पर किये जानेवाले आक्षेपों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका उत्तर दे दिया है। इस प्रकार के कुछ आक्षेप ये हैं:--यदि बाह्य पदार्थ केवल हमारे मानसिक विज्ञान हैं, तो क्या हम विज्ञानों को खाते हैं, विज्ञानों को पीते हैं और विज्ञानों को पहनते हैं? फिर तो, 'मैं जल पी रहा हूँ, इस वाक्य का अर्थ हुआ 'मेरा विज्ञान जल के विज्ञान को पी रहा है।' बर्कले कृत बाह्य पदार्थों का खण्डन सुनकर, सुनते हैं, डाक्टर जॉनसन ने ज़ोर से ज़मीन पर पैर पटका। उनका तात्पर्य, यह बताकर कि यदि वस्तुयें नहीं हैं तो पैर ज़मीन पर पटकने से आवाज़ क्यों निकली, इस 'मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त' को पैर के नीचे कुचल देने का था। बाइरन की उक्ति है, 'यदि **जड तत्व** नहीं है और बर्कले ने इसे सिद्ध किया है, तो उनके कथन में कोई **तत्व** नहीं है।'[१] ये सब आक्षेप निर्मूल हैं क्योंकि बर्कले ने 'विज्ञान' का प्रयोग 'प्रतीति-विषय' के अर्थ में किया है, 'काल्पनिक विचार' के अर्थ में नहीं।

असली दार्शनिक आक्षप जो इस सिद्धान्त पर प्रायः किया जाता है वह यह है: यह सिद्धान्त बर्कले को 'दृष्टिसृष्टिवादी' या 'जीवसृष्टविज्ञानवादी' (Subjective Idealist) और 'अहंवादी' (Solipsist) बना देता है। इसके अनुसार जीवात्मा ही, इन्द्रियसंवेदनरूप विज्ञानों द्वारा, प्रतीति के समय, जगत् की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण जगत् जीव की सृष्टि है और जब तक प्रतीति है तब तक ही जगत् है। इस सिद्धान्त के अनुसार "मैं और मेरे विज्ञान" के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं। इसके अनुसार ज्ञान को इन्द्रियसंवेदनों से जकड़ दिया गया है, क्योंकि इन्द्रिय-संवेदनों के अतिरिक्त, मेरे मन की कल्पनाओं को छोड़कर, और कोई अनुभव का विषय नहीं। किन्तु ये आक्षेप भी निर्मूल हैं। बर्कले का अभिप्राय न दृष्टिसृष्टिवाद है और न अहंवाद। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कि जीवात्मा जगत् की सृष्टि नहीं करता। जगत् अर्थात् विज्ञान-जगत् की सृष्टि, उन विज्ञानों की सृष्टि जो इन्द्रियसंवेदन के रूप में हमारी आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, ईश्वर करते हैं। उनका तात्पर्य इतना ही है कि जगत् आत्म-बाह्य नहीं है। जीवात्मा के बाहर तो है, किन्तु परमात्मा के बाहर नहीं। "मैं और मेरे विज्ञानों" के अतिरिक्त अन्य जीव और उनके विज्ञान भी हैं और ईश्वर तथा उनके विज्ञान भी। "सत्ता अनुभव-मूलक है"--इस सिद्धान्त में 'अनुभव' शब्द से केवल 'इन्द्रियानुभव' का ही तात्पर्य नहीं है, अपितु इसमें 'अन्तर्बोध' या 'निर्विकल्प स्वानुभूति' का भी समावेश हो जाता है। वास्तविक सत्ता ईश्वरीय ज्ञान

---

१. 'If there is no *Matter* and Berkeley has proved it, it is no *Matter* what he said.'

की है। उसके आगे इन्द्रियानुभव तुच्छ है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये बर्कले ने अपने इस सूत्र को कि "सत्ता अनुभव-मूलक है" (Esse Est Percipi) बाद में इस सूत्र में बदल दिया—"सत्ता अन्तर्बोध-मूलक है" (Esse Est Concipi)। प्रायः आलोचक इन बातों को भूल जाते हैं और बर्कले पर मिथ्या दोषारोपण करने में नहीं हिचकिचाते। बर्कले के अनुसार जगत् की सत्ता हमारे इन्द्रियानुभव पर आश्रित न होकर ईश्वर के ज्ञान पर आश्रित है।'[१]

बर्कले ने आत्म-तत्व का प्रतिपादन किस प्रकार किया, यह भी जान लेना चाहिये। हमारे ज्ञान के विषय केवल विज्ञान ही हैं। फिर हम 'आत्मा' का ज्ञान कैसे करते हैं? आत्मा तो 'ज्ञाता' है, विज्ञान उसके 'ज्ञय' हैं। इस ज्ञाता का ज्ञान कैसे होता है? बर्कले का उत्तर है कि अपनी आत्मा का ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वानुभूति से प्रत्यक्ष हो रहा है। इसके विषय में किसी को कोई शंका नहीं। विज्ञान ज्ञान के विषय हैं, अतः इनका ज्ञाता अवश्य होना चाहिये। वह ज्ञाता आत्मा ही है जो विज्ञानों से पृथक् है और जो विज्ञानों का अधिष्ठान है। आत्मा का कार्य ईश्वरसृष्ट संवेदनों को ग्रहण करना और स्वसंवेदनों का निर्माण करना है। लॉक ने आत्मा को निष्क्रिय बताकर बड़ी भूल की है। आत्मा का अस्तित्व उसकी सक्रियता में है, उसकी चिन्तन-शक्ति में है।

अन्य जीवात्माओं का ज्ञान हमें 'विज्ञानों' से नहीं होता, क्योंकि विज्ञान या तो इन्द्रियसंवेदनरूप हैं या उनके स्वसंवेदनरूप और इनकी पहुँच 'आत्मा' तक नहीं होती क्योंकि आत्मा इन्द्रियानुभव का विषय नहीं है। अन्य आत्माओं का हमें 'अन्तर्बोध' (Notion) होता है, विज्ञान (Idea) नहीं। आत्मा की विशेषता उसकी क्रियाशीलता में है। वह चिन्तन-शक्ति से अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। अन्य जीवों की चिन्तन शक्ति के कार्यों को देखकर हम उनके अस्तित्व का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि हम यह जान सकते हैं कि जो कार्य हम अपनी चिन्तन-शक्ति से कर सकते हैं वे ही कार्य ये लोग भी कर रहे हैं, अतः ये भी आत्म-रूप हैं।

'अन्तर्बोध' और 'विज्ञान' में बर्कले ने चार भेद बताये हैं:—

(१) विज्ञान इन्द्रियानुभव से होता है; अन्तर्बोध प्रज्ञा से।

(२) विज्ञानों का ज्ञान विशेषों का ज्ञान है; अन्तर्बोध सामान्य और सार्वभौम ज्ञान है।

---

१. बर्कले का मत असंग, वसुबन्धु आदि नित्यविज्ञानवादी बौद्धों के मत से आंशिक समानता रखता है, किन्तु बाद के दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति और शान्तरक्षित आदि अनित्यविज्ञानवादियों के मत से इसकी समानता नहीं है।

(३) विज्ञान पशुओं को भी होता है; अन्तर्बोध केवल मानवों को और ईश्वर को।

(४) जहाँ विज्ञान की गति नहीं होती, वहाँ अन्तर्बोध होता है।

अन्तर्बोध विज्ञान नहीं है और न वह सामान्य होने के कारण 'अमूर्त विज्ञान' हो सकता है। 'अमूर्त विज्ञान' एक असंगत कल्पना है। अन्तर्बोध का स्वसंवेदन-रूप विज्ञान से सादृश्य तो है, किन्तु महत्वपूर्ण भेद यह है कि स्वसंवेदन इन्द्रिय-ज्ञान है क्योंकि अन्तःकरण से होता है, और अन्तर्बोध प्रज्ञा से होता है, इन्द्रियों से नहीं। अन्तर्बोध बुद्धि-विकल्पों से भी भिन्न है, क्योंकि अन्तर्बोध निर्विकल्प और साक्षात् होता है, परोक्ष नहीं। अतः अन्तर्बोध इन्द्रियानुभव और सविकल्प बुद्धि दोनों से भिन्न है। अन्तर्बोध से हमें (१) अन्य आत्माओं का, (२) अपनी मानसिक क्रियाओं का और (३) सम्बन्धों का ज्ञान होता है। अन्तर्बोध का विषय विज्ञान नहीं हो सकता; हाँ, विज्ञान, अन्तर्बोध के विषय (आत्मा) का विषय होता है।

परमात्मा होने के कारण ईश्वर का भी हमें अन्तर्बोध होता है। अन्य आत्मायें जीवात्मायें हैं, ईश्वर अनन्त और परम आत्मा हैं। ईश्वर के विषय में बर्कले की अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार है: मेरी आत्मा में विज्ञानों का अनवच्छिन्न प्रवाह चलता रहता है। जिसकी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। इन विज्ञानों का कोई कारण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि कोई कार्य अकारण नहीं होता। इन विज्ञानों के चार संभावित कारण हो सकते हैं--(१) विज्ञान, (२) जड तत्व, (३) जीवात्मा, या (४) परमात्मा। विज्ञान स्वयं निष्क्रिय और विषय-रूप है। अतः एक विज्ञान दूसरे विज्ञान का कारण नहीं हो सकता। जडतत्व की कोई सत्ता नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है। जीवात्मा भी जगत्-विज्ञान का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि जीवात्मा इन इन्द्रियसंवेदनरूप विज्ञानों को केवल ग्रहण करती है, इन्हें उत्पन्न नहीं कर सकती। ये विज्ञान जीवात्मा की इच्छा या संकल्प पर निर्भर नहीं होते। यदि मेरी इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं और मेज़ मेरे सामने है, तो मुझे मेज़-विज्ञान का ग्रहण करना ही पड़ेगा। पुनश्च, ये विज्ञान किसी विशेष आत्मा में ही उत्पन्न नहीं होते, किन्तु सभी आत्माओं में जो समान दशा में हों लगभग समानरूप में उत्पन्न होते हैं। और, इन जगत्-विज्ञानों में एकतन्त्रता और निश्चित क्रम है। अतः इनको जीव-सृष्ट न मानकर ईश्वरसृष्ट ही मानना पड़ता है। अतः ईश्वर की सत्ता में हमें अनिवार्य रूप से विश्वास करना पड़ता है। यह विश्वास अन्धविश्वास नहीं है। यह युक्ति-युक्त और अन्तर्बोध का विश्वास है। ईश्वर की सत्ता इसी विश्वास पर निर्भर है--Esse Est Credi.

बर्कले के अनुसार आत्मा का स्वरूप चित्-शक्ति है जिसमें बोध और संकल्प दोनों का समावेश है। हमारी आत्मा का ज्ञान हमें अपनी चित्-शक्ति से प्रत्यक्ष

हो रहा है। अन्य आत्माओं का ज्ञान हमें अन्तर्बोध से होता है और यह अन्तर्बोध अनुमान से पुष्ट किया जाता है। अन्य आत्माओं का ज्ञान हम उनकी चित्-शक्ति के कार्यों से करते हैं। अन्य जीवात्मों का अनुमान हम उनकी चित्-शक्ति के कार्यों से करते हैं जो कार्य हमारी चित्-शक्ति के कार्यों के समान होते हैं। ईश्वर का अनुमान हम उनकी चित-शक्ति के कार्यों से अर्थात् जगत्-विज्ञानों से करते हैं जिनमें सार्वभौमता, निश्चित क्रम और एकतन्त्रता होती है और जो सम्वेदनरूप से हमारी आत्माओं में प्रविष्ट होते हैं। जीव संवेदन ग्रहण करने में निष्क्रिय और स्वसंवेदन उत्पन्न करने में सक्रिय होते हैं।

ईश्वर में अटल विश्वास रखने और जगत्-विज्ञानों को ईश्वर-सृष्ट (जीव-सृष्ट नहीं) मानने के कारण बर्कले दृष्टिसृष्टिवाद (Subjective Idealism) मानसवाद (Mentalism) और अहंवाद (Solipsism) के दोषों से सर्वथा बच जाते हैं। जगत्-विज्ञान, जो स्वयं निष्क्रिय और विषय-रूप हैं, ईश्वर-सृष्ट होने के कारण सत्य हैं। अतः बर्कले के दर्शन में जगत् न तो हमारी मनोमय कल्पना है और न असत् है। उनके दर्शन को न समझने के कारण प्रायः ये निर्मूल आक्षेप उनपर किये जाते हैं। 'विज्ञान' शब्द से उनका तात्पर्य है--'अनुभव का विषय', और चूँकि जगत् हमारी अनुभूति का विषय है, इसलिये वह 'विज्ञान' है। 'विज्ञान' का अर्थ उनके दर्शन में 'कोरी मानसिक कल्पना' नहीं है। कोई विज्ञान काल्पनिक (Abstract) नहीं हो सकता। प्रत्येक विज्ञान एक विशेष पदार्थ (Particular thing) और अनुभव-विषय (Concrete object) है। विज्ञान दो प्रकार के हैं--संवेदनरूप और स्वसंवेदनरूप। संवेदनरूप विज्ञान ईश्वर-सृष्ट हैं--ये ही तथाकथित बाह्य जगत् हैं। स्वसंवेदनरूप विज्ञान, इनके आधार पर, जीवात्मा की सृष्टि हैं। अनुभविता आत्मा और अनुभूत विज्ञान अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय--इन दो के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। ये दोनों अनुभव के ही दो रूप हैं। अतः 'सत्ता अनुभवमूलक है।' जिसे हम 'जगत्' कहते हैं वह हमारा 'संवेदनपुंज' मात्र है। अतः अनुभव-बाह्य नहीं है। इस 'जगत्' की सृष्टि आत्मा (परमात्मा) द्वारा होती है और इसका ज्ञान भी आत्मा (परमात्मा और जीवात्मा) द्वारा ही होता है। अतः जगत् अपनी उत्पत्ति और ज्ञान दोनों के लिये आत्म-सापेक्ष है। क्या लकड़ी-पत्थर-अग्नि-जल आदि विविध दृश्य पदार्थों का यह समस्त जगत् हमारी आत्मा में स्थित है और क्या हम अपने विज्ञानों को ही खाते, पीते, पहनते, ओढ़ते, बिछाते हैं? आदि सस्ते और बाज़ारू आक्षेपों का उत्तर देते हुये बर्कले कहते हैं कि "इस दृश्य जगत् को विज्ञान रूप कहने का मेरा तात्पर्य यही है कि यह हमारा सम्वेदनपुंजमात्र है और अनुभव-बाह्य नहीं। इसकी सत्ता हमारी अनुभूति का विषय बनने में है। अनुभविता के बिना इसका अस्तित्व नहीं हो सकता। यह आत्म-सापेक्ष है। जब मैं कहता हूँ कि जगत्-

पदार्थ मेरी आत्मा में स्थित हैं या मेरी इन्द्रियों पर अंकित हैं तो मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि ये आत्मा में उस रूप में 'स्थित' या 'अंकित' हैं जिस रूप में (तथाकथित) 'भौतिक पदार्थ' आकाश में स्थित रहते हैं या जिस रूप में मोहर चपड़ी पर अंकित होती है। मेरा अभिप्राय इतना ही है कि ये आत्मा द्वारा 'ज्ञात' या 'अनुभूत' होते हैं। मैं वस्तुओं को विज्ञानों में परिणत नहीं करता; मैं तो विज्ञानों को वस्तुओं में परिणत कर रहा हूँ।" आगे चलकर बर्कले यह भी स्पष्ट करते हैं कि "इस इन्द्रियसंवेदनपुंज-रूप जगत् की सृष्टि मैं स्वयं नहीं करता; मैं तो इसे ग्रहण मात्र करता हूँ। इसकी सृष्टि परमात्मा द्वारा होती है।"

एक समस्या और रह जाती है। क्या यह विज्ञानरूप जगत् नित्य है अथवा परिवर्तनशील? क्या इसकी सत्ता वास्तविक है अथवा व्यावहारिक? बर्कले को परमार्थ और व्यवहार का भेद मान्य है। उन पर प्लेटो का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उनका उत्तर है कि ईश्वर के विज्ञानरूप में यह जगत् नित्य, सत्य और शाश्वत है, किन्तु हमारे विज्ञानरूपमें यह अनित्य और क्षणिक है। हमारा इस जगत् का ज्ञान इन्द्रियानुभव मात्र है (Perception), अतः क्षणिक और क्षीण है। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियानुभव नहीं होता। वे हमारे समान ज्ञान नहीं करते। उनका ज्ञान सदा दिव्य अन्तर्बोध (Conception or Notion) रूप होता है, अतः वह नित्य और सत्य है। ईश्वर के विज्ञान "नित्य और मौलिक बिम्ब" (Eternal Archetypes) हैं। हमारे विज्ञान "अनित्य और गौण प्रतिबिम्ब" (Temporal Ectypes) हैं। बिम्बविज्ञानों का ज्ञान ईश्वर को होता है, हमें नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बविज्ञान ईश्वर द्वारा सृष्ट होते हैं, किन्तु इनका ज्ञान हमें होता है। ईश्वर को प्रतिबिम्बविज्ञानों के ज्ञान की अपेक्षा नहीं क्योंकि उन्हें सदा ही इनके मूल बिम्बों का ज्ञान होता रहता है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता ईश्वर द्वारा अनुभूत होने में है (Esse Est Concipi); हमारी अनुभूति का विषय बनने में जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता है (Esse Est Percipi)।

विधि का यह विचित्र विधान है कि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में 'प्लेटो के इस मानस-पुत्र' को (Spiritual Child of Plato) इन्द्रियानभववादी लॉक और ह्यूम के बीच की शृंखलामात्र माना जाता है और एक ओर इन्हें "दोष-रहित लॉक" (Locke Purged) और दूसरी ओर "अपूर्ण ह्यूम" (Incomplete Hume) कहा जाता है! इस कथन में आंशिक सत्य तो है, किन्तु इसी को पूर्ण सत्य मान लेना बर्कले के साथ घोर अन्याय करना है। यह सत्य है कि बर्कले लॉक के दोषों की आलोचना से अपना दर्शन प्रारंभ करते हैं। यह भी सत्य है कि व्यावहारिक पक्ष में उनको लॉक के इन्द्रियानुभववाद के कुछ मौलिक सिद्धान्त मान्य हैं। यह भी सत्य है कि ह्यूम ने उन्हीं युक्तियों से जिनके द्वारा बर्कले ने लॉक के जड तत्व का खण्डन किया, बर्कले के आत्म-तत्व का खंडन

करने का प्रयास किया है। किन्तु बर्कले को विशुद्ध इन्द्रियानुभववादी मानना उतना ही असत्य है जितना अशोभनीय। मानवज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभव में है, किन्तु यह असली ज्ञान नहीं। यह व्यावहारिक प्रतीति मात्र है। विशुद्ध ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है जो इन्द्रियानुभवरूप न होकर निर्विकल्प अन्तर्बोधरूप है। बर्कले को जगत् की व्यावहारिक सत्यता, उसकी ईश्वर द्वारा सृष्टि, उसका अनुभव-बाह्य न होना, उसका आत्मा की प्रतीति का विषय बनना आदि सर्वथा मान्य हैं। बर्कले को, जडवाद, सन्देहवाद और अनीश्वरवाद के कट्टर शत्रु और ईश्वरीय विज्ञान के उपासक बर्कले को, दृष्टिसृष्टिवादी, क्षणिकविज्ञानवादी, मानसवादी और अहंवादी मानना न केवल बर्कले का अपमान करना है, किन्तु साथ ही अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना भी है। जडवाद के खण्डन में बर्कले के तर्क अकाट्य हैं।

बर्कले के दर्शन में दोष भी हैं। उनका दर्शन एकांगी रह गया है। इन्द्रियानुभव और अन्तर्बोधानुभव का सामंजस्य वे पूर्णरूप से नहीं कर पाये हैं। विविध जीवात्माओं के अनुभव का, जीवात्मा और जगत् का, जीवात्मा और परमात्मा का, परमात्मा और जगत् का समन्वय उनके दर्शन में नहीं हो सका है।

———

द्वादश अध्याय

अनुभववाद : ह्यूम

डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) :—ह्यूम (David Hume) का जन्म स्कॉटलैंड में हुआ। एडिनबरा विश्वविद्यालय में पढ़े। ग्रीक और लैटिन भाषायें जानते थे। ग्रीक और रोमन साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। साहित्य, दर्शन और इतिहास के प्रति विशेष अभिरुचि थी। ईसाई धर्म के क्रूर आलोचक थे। २५ वर्ष की आयु में ही फ्रांस में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक 'मानव स्वभाव पर निबन्ध' (Treatise on Human Nature) लिखी थी। उस समय दर्शन की इस युगान्तरकारी रचना की लोगों ने उपेक्षा ही की। ह्यूम ने स्वयं लिखा है 'प्रेस से मानों वह मृतक उत्पन्न हुई थी।' ह्यूम को जीवन में काफ़ी निराशा मिली थी। उनकी 'इंगलैंड के स्टुअर्ट राज्य का इतिहास' बहुत प्रसिद्ध और निष्पक्ष रचना है। विख्यात अर्थशास्त्री एडम स्मिथ और इतिहासज्ञ एडवर्ड गिबन पर उनका काफ़ी प्रभाव पड़ा है। रूसो से उनका अच्छा परिचय था। वे एडिनबरा के पुस्तकालयाध्यक्ष, इंगलैंड के पेरिसस्थित राजदूत के सेक्रेटरी और स्काटलैंड में सहायक राजमंत्री रहे थे। जीवन का अन्तिम समय एडिनबरा में बिताया। मृत्यु के समय भी वे सदा की भाँति प्रसन्न रहे।

ह्यूम में इन्द्रियानुभववाद अपनी चरमसीमा पर पहुँचा है। ह्यूम अपने लक्ष्य पर पहुँच गये—यह कहना तो कठिन है, हाँ, यह अवश्य सत्य है कि वे वहाँ तक पहुँच गये जिसके आगे जाने का कोई मार्ग नहीं है। इस दिशा में लॉक और बर्कले के अधूरे काम को उन्होंने पूरा कर दिया। लॉक के इन्द्रियानुभववाद के मूल सिद्धान्तों को मानकर ह्यूम चले और जहाँ लॉक और बर्कले आध रास्ते से ही लौट आये, ह्यूम ने मार्ग के अन्त तक पहुँच कर ही दम लिया। इन्द्रियानुभववाद को गले लगाकर भी लॉक ने देकार्त के तीनों तत्वों की ईश्वर, जीव और जगत् की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। बर्कले ने जडतत्व का खण्डन करके केवल आत्म-तत्व को—जीवात्मा और परमात्मा दोनों को—माना। ह्यूम ने आत्म-तत्व की सत्ता का भी निराकरण करके जीव और ईश्वर दोनों को ठुकरा दिया। ह्यूम ने निर्भीक होकर घोषणा की कि इन्द्रियानुभववाद को मानने पर किसी 'तत्व' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—न ईश्वर की, न जीव की और न जगत् की। ह्यूम का यह कथन सर्वथा सत्य है। लॉक के हाथों पड़ कर दर्शन तत्व-मीमांसा से अधिक ज्ञान-मीमांसा बन गया था। बर्कले ने ज्ञान-मीमांसा को महत्व देते हुये तत्व-मीमांसा को भी निभाया। ह्यूम ने ज्ञान-मीमांसा को ही

अपनाया और उसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं आलोचना बना दिया। इन्द्रियानुभववाद, ह्यूम में, सन्देहवाद और अज्ञेयवाद बन गया।

ह्यूम लॉक से इस बात में सहमत है कि हमारे ज्ञान का एक मात्र स्रोत इन्द्रियानुभव है जिसके संवेदन और स्वसंवेदन ये दो रूप हैं जिन पर हमारे विज्ञान निर्भर हैं। बर्कले से वे इस बात में सहमत हैं कि सत्ता इन्द्रियानुभव मूलक है और सारे विज्ञान विशेष तथा वास्तविक होते हैं एवं संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। लॉक के अनुसार विज्ञान या तो बाह्य पदार्थों के मूल गुणों के प्रतिबिम्ब हैं, या संवेदन रूप उपगुण और स्वसंवेदन द्वारा उत्थापित विचार हैं। बर्कले के अनुसार विज्ञान किसी के प्रतिबिम्ब नहीं हैं, अपितु संवेदन या स्वसंवेदन ही विज्ञान हैं। ह्यूम के अनुसार विज्ञान किसी बाह्य वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं हैं, अपितु संवेदन या स्वसंवेदन के ही प्रतिबिम्ब हैं। लॉक ने विज्ञानों को संवेदन और स्वसंवेदन से भिन्न माना। बर्कले ने इस भेद को मिटा दिया और संवेदन या स्वसंवेदन को ही विज्ञान माना। ह्यूम ने लॉक के इस भेद की पुनः स्थापना की, किन्तु इसको केवल स्पष्टता की न्यूनाधिक मात्रा का भेद ही माना।

ह्यूम के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल दो विषयों पर आश्रित है—इन्द्रियसंस्कारों पर और विज्ञानों पर। इन्द्रिय-संस्कार (Impression) शब्द का प्रयोग ह्यूम ने सर्वप्रथम किया। किन्तु इसका अर्थ नवीन नहीं है। संवेदन और स्वसंवेदन के लिये ही यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। विज्ञान इन संस्कारों के प्रतिबिम्ब हैं। संस्कार और विज्ञान का भेद गौण है अर्थात् अनुभव की स्पष्टता और तीव्रता की न्यूनाधिकता का भेद है। संस्कारों की प्रतीति सुस्पष्ट और तीव्र होती है; विज्ञानों की अस्पष्ट और क्षीण। संस्कार इन्द्रियज होते हैं। चूंकि इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं अर्थात् पंचज्ञानेन्द्रियाँ जिनसे बाह्य पदार्थों का अनुभव होता है और अन्तःकरण जिससे मनोभावों का, अतः संस्कार भी दो प्रकार के हैं—एक तो पंचज्ञानेन्द्रियों के संस्कार जिनको संवेदन कहते हैं और दूसरे अन्तःकरण के संस्कार जिनको स्वसंवेदन कहते हैं। ह्यूम ने संवेदन और स्वसंवेदन दोनों को मिलाकर इन्द्रिय-संस्कार का नाम दिया है। ये संस्कार हमारे मानस पर जो प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप छोड़ जाते हैं उनको विज्ञान कहते हैं। ह्यूम के ही शब्दों में—"इन दोनों का भेद उस तीव्रता और स्पष्टता की मात्रा में है जिसके साथ ये हमारे मानस से टकराते हैं और हमारी आत्मा में प्रवेश करते हैं। उन प्रत्यक्षों को जो बड़ी शक्ति और तेजी के साथ आते हैं, हम 'संस्कार' (Impressions) कहते हैं; और इस नाम के अन्तर्गत मैं अपने सभी इन्द्रियसंवेदनों (Sensations) को, मनोवेगों (Passions) को और भावनाओं (Emotions) को समझता हूँ जो आत्मा में सबसे पहले प्रवेश करती

हैं। 'विज्ञानों' (Ideas) से मेरा तात्पर्य, विचार या चिन्तन पर बनने वाले इनके (संस्कारों के) प्रतिरूपों (Images) से है।" रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द की साक्षात् प्रतीति संवेदन-संस्कार है और सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, क्रोध आदि की साक्षात् प्रतीति स्वसंवेदन-संस्कार है। इनकी साक्षात् प्रतीति तीव्र और स्पष्ट होती है। किन्तु जब इनकी साक्षात् प्रतीति हट जाती है और इनका वेग कम हो जाता है, तब चिन्तन या स्मृति में इनके क्षीण प्रतिबिम्ब रह जाते हैं जिनको हम विज्ञान कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इनके भेद का अनुभव स्वयं होता है। जिस प्रकार लॉक के 'सरल विज्ञान' सारे ज्ञान के आधार हैं, उसी प्रकार ह्यूम के 'संस्कार' भी सारे ज्ञान के आधार हैं। लॉक के समान ह्यूम ने भी विज्ञानों को सरल और मिश्र माना है, किन्तु दोनों के अर्थों में भेद है। लॉक के अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो संवेदन या स्वसंवेदन या दोनों से प्राप्त होते हैं और मिश्र विज्ञान वे हैं जिनको आत्मा सरल विज्ञानों के मिश्रण से बनाती है। ह्यूम के अनुसार सरल विज्ञान वे हैं जो अपने मूलसंस्कारों के प्रतिरूप होते हैं और मिश्र विज्ञान वे हैं जिनके मूलसंस्कारों का होना अनिवार्य नहीं। पहले ह्यूम ने यह कहा कि विज्ञान संस्कारों के प्रतिबिम्ब होते हैं। बाद में जब उन्होंने देखा कि यह नियम सार्वभौम नहीं, तो इसमें सुधार करने के लिये विज्ञानों के सरल और मिश्र, ये दो भेद कर दिये और कहा कि सरल विज्ञानों के मूल बिम्बों का होना आवश्यक है, किन्तु मिश्र विज्ञानों के लिये यह नियम नहीं है। बिना संस्कार के सरल विज्ञान नहीं हो सकता। जन्मान्ध को कभी प्रकाश या रूप का विज्ञान नहीं हो सकता और न बहरे को शब्द का। ह्यूम ने संस्कारों को भी सरल और मिश्र माना है। सरल संस्कार और उनके सरल विज्ञान प्रधान हैं। ये संस्कार ही ज्ञान के मूल स्रोत हैं। जहाँ संस्कार नहीं, वहाँ विज्ञान नहीं हो सकता। जिस वस्तु का संस्कार नहीं होता उसका ज्ञान केवल भ्रम है।

ह्यूम के अनुसार संस्कारों और विज्ञानों को छोड़ कर और कोई हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः हमारा ज्ञान संस्कारों और विज्ञानों तक ही सीमित है। हम यह नहीं जानते कि संस्कार कैसे उत्पन्न होते हैं। लॉक ने संस्कारों को बाह्य जड पदार्थों के कारण उत्पन्न और बर्कले ने ईश्वर की चित्-शक्ति के कारण उत्पन्न माना था। ह्यूम ने दोनों की ही जड़ काट दी और कहा कि जब हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष तक ही सीमित है और जब हमें प्रत्यक्ष केवल संस्कारों और उनके विज्ञानों का ही होता है, तो यदि संस्कारों का कोई कारण हो भी, तो वह हमारे लिये अज्ञात ही रहेगा।

हमारे मानस में विज्ञानों का प्रवाह नियमित रूप से चलता रहता है। एक के बाद दूसरा विज्ञान आता रहता है। यदि इनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो ये विज्ञान अर्थहीन हो जाते। ये आकस्मिक और असम्बद्ध नहीं हैं। इनमें निश्चित क्रम रहता है। इन नियमों को अनुषङ्ग-नियम (Laws of Association) कहते

हैं। ह्यूम स्पष्ट कहते हैं कि इन नियमों में कोई सार्वभौम सिद्धान्त या अनिवार्यता नहीं है। इनमें केवल स्वाभाविक अपेक्षा या आनन्तर्य है अर्थात् एक के बाद दूसरे का आना स्वभाव मात्र है। दूसरी बात जो इनमें है वह है आत्यंतिक विरोध का त्याग जिसके कारण प्रत्येक विज्ञान अपने अत्यंत विरोधी विज्ञान को साथ नहीं लेता। एक विज्ञान के अनन्तर जो दूसरा विज्ञान आता है वह पहले विज्ञान का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता।

ह्यूम ने इन विज्ञानों में तीन प्रकार का सम्बन्ध माना है। पहला है सादृश्य-सम्बन्ध (Association of Resemblance or Similarity)। दो वस्तुयें यदि समान हों तो एक का विज्ञान होने पर दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है। दूसरा है कालगत या देशगत साहचर्य सम्बन्ध (Association of Contiguity in Time or Space)। यदि दो घटनायें एक के बाद एक घटित हों अथवा एक ही स्थान में घटित होती हों, तो एक के विज्ञान से दूसरी का विज्ञान भी उपस्थित हो जायगा। तीसरा है कार्यकारण-सम्बन्ध (Association of Causality) जिसमें एक के विज्ञान से दूसरे का विज्ञान होता है। इन तीन नियमों से हमारे विज्ञानों में संयोग, वियोग आदि होते हैं और इनसे ही हमारा ज्ञान बनता है। जड जगत् के समान विज्ञान जगत् में भी आकर्षण का नियम है। इन तीन नियमों का वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान में आकर्षण-नियम (Law of Gravitation) का है।

इसके बाद ह्यूम कार्य-कारण-सम्बन्ध की आलोचना करने में अग्रसर होते हैं। ह्यम के दर्शन में 'द्रव्य' का स्थान 'कारण' ले लेता है। जड द्रव्य का अस्तित्व लॉक ने इसीलिये स्वीकार किया कि वह हमारे संवेदनों का कारण है। आत्म-द्रव्य का अस्तित्व बर्कले ने इसीलिये स्वीकार किया कि वह हमारे संवेदनों का कारण है। अतः ह्यूम ने द्रव्य का खण्डन करने के पूर्व उस कार्य-कारण-सम्बन्ध का ही खण्डन करना आवश्यक समझा, जिस सम्बन्ध के कारण द्रव्य की सत्ता में विश्वास किया जाता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध सार्वभौम नियम माना जाता है और विज्ञान, दर्शन और धर्म इन तीनों क्षेत्रों में इसका अखण्ड साम्राज्य है। इसी नियम के आधार पर विज्ञान अपने जड तत्व की, दर्शन अपने आत्म-तत्व की और धर्म अपने ईश्वर-तत्व की सिद्धि करता है। ह्यूम ने इन तीनों तत्वों का खण्डन करने के पूर्व इनके इस मूल नियम पर ही कुठाराघात किया। आत्मा और परमात्मा को न माननेवाले भौतिक तत्व के वैज्ञानिक भी इस नियम के आगे नतमस्तक होते हैं। यह कार्यकारणनियम भौतिक विज्ञान की एक मौलिक मान्यता है और इसी नींव पर विज्ञान का प्रासाद निर्मित हुआ है। भौतिक विज्ञान का लक्ष्य इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त विशेषों में सामान्य नियम की खोज करना है। इन व्यापक कारणों के अन्वेषण से प्रकृति के नियमों का निर्धारण किया जाता है। किन्तु इन्द्रियानुभव से तो केवल विशेषों का ही प्रत्यक्ष होता है, सामान्य

का ज्ञान नहीं। अतः जब तक कार्यकारणनियम का खण्डन न हो तब तक इन्द्रियानुभववाद की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

ह्यूम ने अपनी आलोचना इस प्रकार प्रारम्भ की :—क्या इन्द्रियानुभव से कार्यकारणभाव सिद्ध हो सकता है? यह तो स्पष्ट है कि हम कारण और कार्य कही जाने वाली घटनाओं को अलग-अलग जानते हैं, पर क्या हम अनुभव से यह भी जानते हैं कि कार्य और कारण नामक घटनाओं में कोई आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्ध है? अनुभव से तो हम इतना ही जानते हैं कि एक घटना के बाद दूसरी घटना घटती है। एक घटना के संवेदन के अनन्तर हमें दूसरी घटना का संवेदन होता है। किन्तु इन घटनाओं के आनन्तर्य सम्बन्ध (अर्थात् एक के अनन्तर दूसरी का होना) के अतिरिक्त कोई आन्तरिक और अनिवार्य सामान्य नियम हमारे अनुभव का विषय नहीं होता। अतः कार्यकारणभाव का तथाकथित सार्वभौम नियम इन्द्रियानुभूति द्वारा लभ्य नहीं है। यह हमारी कल्पनामात्र है। जब एक घटना का संवेदन या उससे सम्बद्ध विज्ञान हमारे प्रत्यक्ष का विषय बनता है और उसके बाद तुरन्त ही दूसरी घटना का संवेदन या उससे सम्बद्ध विज्ञान हमारे मानस पर आ जाता है और जब इस आनन्तर्य की पुनरावृत्ति हमारे अनुभव में कई बार होती रहती है, तो यह हमारा स्वभाव बन जाता है कि हम एक घटना के संवेदन या विज्ञान के बाद दूसरी घटना के संवेदन या विज्ञान की भी आशा करें। यह आशा ही कार्यकारणभाव की जननी है। हमारे इस स्वभाव में ही कार्यकारणभाव की कल्पना का बीज निहित है। किन्तु यह हमारी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता मात्र है, यह वस्तु-गत आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। दो घटनाओं का कई बार नियमित रूप से एक दूसरी के तुरन्त बाद अनुभव किया जाना इस कार्यकारणभावनियम की कल्पना का जनक है। मुझे कई बार पानी पीने का और उसके तुरन्त बाद प्यास बुझने का संवेदन हुआ तो मैंने यह कल्पना कर ली कि पानी पीना प्यास बुझाने का कारण है। मैंने कई बार धुंआ देखा और उसके बाद वहाँ आग भी देखी तो मैंने यह कल्पना कर ली कि जहाँ धुँआ है वहाँ आग भी अवश्य होनी चाहिये। कोई भी बालक पहली बार आग देखकर यह नहीं सोच सकता कि आग में दाहक शक्ति है। अनुभव के पहले यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आग में हाथ को जला देने की शक्ति है या भोजन में भूख बुझाने की शक्ति है। एक बार हाथ जल जाने पर ही इसका अनुभव होता है कि आग से हाथ जल सकता है। किन्तु इस शक्ति को तो हम नहीं देखते। अग्नि की दाहक शक्ति का हमें इन्द्रियानुभव नहीं होता। हमें अनुभव होता है केवल 'अग्नि' का और 'हाथ के जलने' का। इन दोनों में कोई आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध है—ऐसा अनुभव हमें नहीं होता। हाँ, बार-बार इन दोनों घटनाओं का अनुभव करने के कारण हम इन घटनाओं

के कार्यकारणभावसम्बन्ध की कल्पना कर लेते हैं। आन्तरिक घटनाओं का भी यही हाल है। मैं इच्छा करता हूँ और मेरा हाथ हिलता है। मुझे इन दोनों घटनाओं का अलग-अलग अनुभव होता है, किन्तु मेरी इच्छा में मेरे हाथ हिलाने की शक्ति का मुझे अनुभव नहीं होता। बार-बार ऐसा अनुभव साथ-साथ होन पर मैं कल्पना कर लेता हूँ कि मेरी इच्छा में मेरे हाथ हिलाने की शक्ति है। इन्द्रियानुभव हमें किसी 'अनिवार्य आन्तरिक सम्बन्ध' का, किसी 'कारण' का या किसी 'शक्ति' का परिचय नहीं देता। वस्तुयें किसी अनिवार्य सम्बन्ध से बँधी हुई नहीं हैं। हमारे संवेदनों या विज्ञानों की उसी रूप में बार-बार आवृत्ति होने के कारण हमारा अभ्यास हो जाता है कि एक संवेदन या विज्ञान के होने पर हम दूसरे संवेदन या विज्ञान के होने की भी आशा करें। हमें पृथक्-पृथक् संवेदनों या विज्ञानों के आनन्तर्य सम्बन्ध (Succession) का अनुभव होता है, उनके आन्तरिक अनिवार्य सम्बन्ध (Causation) का अनुभव नहीं होता। वस्तुओं में ऐसा कोई अनिवार्य सम्बन्ध हमें प्रतीत नहीं होता। हमारे विज्ञानों के आनन्तर्य भाव को, उनकी इस 'अपेक्षा' को कि एक के बाद तुरन्त दूसरा आता है, हम अपने अभ्यास के कारण भ्रमवश एक आन्तरिक और अनिवार्य कार्यकारणभाव नामक सम्बन्ध मान बठते हैं।[1] विश्व की एकरूपता के नियम (Uniformity of Nature) का हमें अनुभव नहीं हो सकता। इन्द्रियों के द्वारा हम किसी प्रकार की सार्वभौमता या अनिवार्यता के सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकते।

ह्यूम की दुविधा यह है कि आनन्तर्य सम्बन्ध को मानते हुये भी वे कार्यकारण सम्बन्ध को नहीं मानते। वे इस समस्या को स्वीकार करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि हमें इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिल सकता। कार्यकारणभाव के अनिवार्य नियम को न तो बुद्धि सिद्ध कर सकती है और न इन्द्रियाँ। अनिवार्य नियम सामान्य या सार्वभौम होना चाहिये। किन्तु विशेषों में कोई ऐसी सार्वभौमता नहीं मिलती। और जब हमारा सारा अनुभव विशेषों तक ही सीमित है, तो हमें विशेषों की सीमा को अतिक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं। इन्द्रियानुभव से हमें विशेष और पृथक्-पृथक् संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान नहीं होता। बुद्धि से भी हम इस अनिवार्यता की सिद्धि नहीं कर सकते क्योंकि बुद्धि का कार्य केवल संवेदनों या विज्ञानों का संयोग या वियोग, पृथक्-करण या एकी-करण करना है और जहाँ संवेदन की गति नहीं वहाँ बुद्धि की भी पहुँच नहीं। विशेषों से सामान्य का अनुमान करना हमारी बुद्धि की भ्रान्त कल्पना हो सकती है, वास्तविक ज्ञान नहीं। हमारे अनुभव से केवल संभावना (Probability) प्राप्त

---

१. ह्यूम का यह मत क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धों के मत से बहुत मिलता है—'य आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाऽभिधीयते'—शान्तरक्षित।

हो सकती है, अनिवार्यता (Necessity) नहीं। ह्यूम ने स्वयं कहा है, "मैं इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई भी कार्य अकारण हो सकता है। मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कार्यकारणभाव के अनिवार्य और आवश्यक सम्बन्ध का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से।" यह सम्बन्ध हमारी मनोवैज्ञानिक कल्पना है, वस्तु-जगत् का नियम नहीं।

ह्यूम के अनुसार मानव-ज्ञान के दो प्रकार हैं—एक तो विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Knowledge of the Relations of Ideas) और दूसरा वस्तु-जगत् का ज्ञान (Knowledge of the Matter of Fact)। गणितशास्त्र और तर्कशास्त्र में प्रथम प्रकार का ज्ञान होता है। अतः गणित और तर्क में निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ दो और दो चार ही होते हैं। यहाँ सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धांतों की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि यह कोरी कल्पना (Formal Knowledge) है और इसका वस्तु-जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु वस्तु-जगत् इन्द्रियानुभव (Empirical Knowledge) पर प्रतिष्ठित है। अतः यहाँ निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तु-जगत् में सार्वभौम और अनिवार्य सम्बन्ध संभव नहीं। यहाँ केवल विशेष घटनाओं का पृथक्-पृथक् संवेदन या विज्ञान होता है और विशेषों के आधार पर उनकी सीमा का अतिक्रमण करके सामान्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ केवल आनन्तर्य संभव है, अनिवार्यता संभव नहीं। वस्तु-जगत् के संबन्ध में हमारे अनुभव के लिये सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की सिद्धि असंभव है और इसलिये वस्तु-जगत् का ज्ञान सदा संभावित होता है, निश्चित नहीं। अतः भौतिक-विज्ञान वास्तविक अर्थ में असंभव है। अनिवार्यता की कल्पना मनोवैज्ञानिक आवश्यकता हो सकती है, किन्तु वास्तविक तथ्य नहीं।

ह्यूम बर्कले से इस बात में सहमत हैं कि हमें जडतत्व का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि जड तत्व हमारी इन्द्रियानुभूति का विषय नहीं। हमारे ज्ञान के विषय केवल संवेदन या विज्ञान हैं और इनके आधार पर जड तत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु बर्कले ने आत्म तत्व को स्वीकार किया था क्योंकि अनुभव के लिये अनुभविता की सत्ता मानना आवश्यक है। आत्म तत्व को उन्होंने विज्ञानों का अधिष्ठान माना था। ईश्वर की कल्पना भी बर्कले ने हमारे संवेदनों को उत्पन्न करनेवाले कारण के रूप में की थी। ह्यूम का मत है कि जब कार्यकारणसम्बन्ध ही वस्तुतः सत्य नहीं तो संवेदनों या विज्ञानों के कारण के रूप में किसी तत्व की प्रतिष्ठा शक्य नहीं—चाहे वह लॉक का जडतत्व हो, चाहे बर्कले का आत्मतत्व। विज्ञानों के लिये भी उनके किसी अधिष्ठान को मानना उचित नहीं क्योंकि हमें किसी ऐसे अधिष्ठान का अनुभव नहीं होता। ह्यूम ने कहा कि उन्हीं तर्कों से, जिनसे बर्कले ने लॉक के जड तत्व का खण्डन किया, स्वयं बर्कले के आत्म-तत्व का भी खण्डन किया जा सकता है। "सत्ता

अनुभवमूलक है", इस सिद्धान्त को मानने पर आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि हमें आत्मा का इन्द्रियानुभव नहीं होता। बर्कले के अनुसार हमें अपनी आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति होती है और अन्य जीवात्माओं का और परमात्मा का अन्तर्बोध होता है। ह्यूम का उत्तर है कि संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अन्तर्बोध की कल्पना व्यर्थ है। वस्तु-जगत् में हम विशेष संवेदनों और विशेष विज्ञानों के आगे नहीं जा सकते और इनके द्वारा न अन्य जीवों का बोध होता है और न ईश्वर का। अतः जीवों की और ईश्वर की कल्पना कोरी कल्पना है, वास्तविक तथ्य नहीं। हमें अपनी आत्मा की भी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती। जिनकी हमें अनुभूति होती है वे हैं--पृथक् पृथक् विशेष और क्षणिक संवेदन या विज्ञान। इन विज्ञानों के किसी नित्य और एक अधिष्ठान की प्रतीति हमें नहीं होती। इन क्षणिक विज्ञानों की धारा निरन्तर बह रही है। इनमें सादृश्य और आनन्तर्य है, किन्तु तादात्य और नित्यत्व नहीं। अनुभव कभी नित्य संवेदन या नित्य विज्ञान उपस्थित नहीं करता। अतः नित्य आत्मा का विज्ञान या संवेदन कभी नहीं हो सकता।

ह्यूम ने लिखा है--"मैं उन दार्शनिकों से, जो अपने विचारों का आधार द्रव्य और पर्याय के भेद को मानते हैं और कल्पना करते हैं कि उनको इनका स्पष्ट ज्ञान होता है, पूछना चाहूँगा कि द्रव्य का विज्ञान संवेदन-संस्कार से उत्पन्न होता है या स्वसंवेदन-संस्कार से? यदि द्रव्य का हमें संवेदन होता है, तो मैं पूछता हूँ कि किन इन्द्रियों से और किस प्रकार? यदि द्रव्य की प्रतीति आँख से होती हो तो उसका रूप होना चाहिये; यदि कान से तो शब्द होना चाहिये; यदि रसना से तो रस होना चाहिये; और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में प्रतीति होनी चाहिये। किन्तु मेरा विश्वास है कि कोई यह नहीं कहेगा कि द्रव्य रूप है या शब्द है या रस है। अब यदि द्रव्य सत्य है तो उसका विज्ञान स्वसंवेदन-संस्कार से आना चाहिये। किन्तु स्वसंवेदन-संस्कार या तो हमारी भावनायें हैं या हमारे मनोवेग और इन दोनों में से कोई भी द्रव्य नहीं हो सकता। अतः द्रव्य का विज्ञान वस्तुतः कल्पना द्वारा संयुक्त सरल विज्ञानों के उस समूह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है जिस समूह को द्रव्य का नाम दे दिया जाता है।" यह लॉक के विचारों की व्याख्या है। लॉक ने इन विचारों को मानते हुये भी जडतत्व की सत्ता स्वीकार की और बर्कले ने उसका निराकरण किया। किन्तु बर्कले ने स्वयं इन विचारों को भुलाकर आत्म-तत्व का प्रतिपादन किया। ह्यूम ने उसका भी खण्डन किया। वे लिखते हैं--"मैं चाहता हूँ कि वे दार्शनिक जो यह बहाना बनाते हैं कि उन्हें आत्म-तत्व के विज्ञान की प्रतीति होती है, यह बतायें कि यह विज्ञान किस संस्कार से उत्पन्न होता है? क्या यह संवेदन का विज्ञान है अथवा स्वसंवेदन का? क्या यह सुखरूप है अथवा दुःखरूप अथवा तटस्थ? क्या यह सदा बना रहता है अथवा रुक-रुककर उत्पन्न होता है?...कुछ

दार्शनिक ऐसे हैं जो यह कल्पना करते हैं कि हमें अपने आत्म-तत्व की प्रतिक्षण ज्वलन्त अनुभूति होती रहती है, कि हमें सत्ता का और इस सत्ता की अविच्छिन्नता का साक्षात् अनुभव होता है, और जो इस आत्मा की प्रमाणातीत पूर्ण एकता और कूटस्थता में विश्वास रखते हैं।......जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो जब जब अपनी इस 'आत्मा' को देखने के लिये इसके भीतर खूब गहरा घुसता हूँ तब तब किसी-न-किसी विशेष संवेदन या विज्ञान से ही टकराकर रह जाता हूँ, जो संवेदन या विज्ञान, गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, दुःख या सुख आदि के होते हैं। बिना किसी संवेदन या विज्ञान के मैं तो अपनी 'आत्मा' को कभी नहीं पकड़ पाता और न मुझे संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी की अनुभूति होती है। जब भी ये अनुभव मुझसे अलग हो जाते हैं, जैसे गाढ़ निद्रा में, तब मुझे अपनी 'आत्मा' का अनुभव नहीं होता और उस समय सचमुच मेरा अस्तित्व नहीं रहता। यदि मृत्यु द्वारा मेरे ये सब अनुभव मिटा दिये जावेंगे तो मुझे पूर्ण असत् बना देने के लिये और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि किसी अन्य व्यक्ति को, गम्भीर और निष्पक्ष विचार के बाद भी, अपनी 'आत्मा' का इससे भिन्न अनुभव होता हो, तो मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं उससे तर्क नहीं कर सकता। अपने विषय में मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मुझमें कोई 'आत्म-तत्व' नहीं है। आत्मा का अस्तित्व मानने वाले कुछ दार्शनिक महानुभावों को छोड़कर, अन्य सब लोगों के लिये तो मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वे लोग उन विभिन्न संवेदनों के पुञ्ज या समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, जो संवेदन अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण धारा निरन्तर बह रही है।"[१]

ह्यूम के विचारों का निष्कर्ष यह है : संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त हमें किसी का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभव से किसी नित्य और अपरिणामी द्रव्य की, चाहे वह जड हो चाहे चेतन, सिद्धि नहीं हो सकती। तथाकथित 'आत्म-तत्व' वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विज्ञानों के अनुभविता के रूप में आत्मा की कल्पना करना असंगत है क्योंकि क्षणिक विज्ञान ही स्वयं अपना अनुभविता है। विज्ञानों के अधिष्ठान के रूप में भी आत्मा की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि न तो इस अधिष्ठान की आवश्यकता है और न इसकी प्रतीति होती है। नित्य, एक, समरस और कूटस्थ आत्मा का हमें कभी अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि हमारे विज्ञान, जिनका ही हमें अनुभव हो सकता है, अनित्य, अनेक, विशेष और क्षणिक हैं। इन क्षणिक संवेदनों या

---

१. **ह्यूम का यह मत क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धों के मत से बिलकुल मिलता है। बौद्धों ने इसके लिये 'जल-प्रवाह' और 'दीपशिखा' की उपमायें दी हैं।**

विज्ञानों में सादृश्य और आनन्तर्य है, एकता और नित्यता नहीं। जल-प्रवाह और दीप-शिखा के समान, इन क्षणिक विज्ञानों की धारा बड़े वेग से निरन्तर बह रही है। तीव्र वेग और अनवच्छिन्नता के कारण 'समानता' (Similarity) 'एकता' (Identity) की भ्रान्ति का रूप ले लेती है और 'अजस्र प्रवाह' 'नित्यता' की भ्रान्ति का। तथाकथित 'आत्मा' वस्तुतः क्षणिक संवेदनों या विज्ञानों का निरन्तर प्रवाह मात्र है। सुषुप्ति में यह धारा टूट जाती है, अतः हमें 'आत्मा' का अनुभव नहीं होता। इस संवेदन-पुंज को हम 'आत्मा' का रूप दे देते हैं। यह हमारी कल्पना है, वास्तविक तथ्य नहीं।

इस प्रकार ह्यूम के खण्डन-प्रहारों के आगे कोई 'तत्व' नहीं टिक पाता—न ईश्वर, न आत्मा और न जड जगत्। हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है और इस ज्ञान से किसी एक या नित्य तत्व की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यह ज्ञान विशेषों का ही है, सामान्य का नहीं। संवेदन से कभी निश्चितता, सार्वभौमता या अनिवार्यता नहीं मिल सकती। अतः हमारा सारा ज्ञान संभावित मात्र है, निश्चित नहीं। जड तत्व पर प्रतिष्ठित भौतिक-विज्ञान, आत्म-तत्व पर प्रतिष्ठित मनोविज्ञान या दर्शन और ईश्वर-तत्व पर प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र—तीनों का अस्तित्व वास्तविक अर्थ में असंभव है। तीनों कल्पना पर प्रतिष्ठित हैं, सत्य पर नहीं। हम अपने संवेदनों या विज्ञानों को ही जानते हैं। हम उनके सम्बन्धों को, सादृश्य, साहचर्य और आनन्तर्य के सम्बन्धों को भी जानते हैं। किन्तु इन सम्बन्धों में हमें वस्तुओं के आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्धों का ज्ञान नहीं होता। हम विज्ञानों के आनन्तर्य सम्बन्ध को, भ्रमवश, वस्तुओं का अनिवार्य कार्यकारण सम्बन्ध मान बैठते हैं और फिर इन पर भौतिक-विज्ञान, दर्शन तथा धर्म के प्रासाद बनाने लगते हैं। ये सब कल्पना की भित्ति पर बने हुये प्रासाद हैं। हमारी बुद्धि में कोई ऐसा तत्व नहीं जो इन्द्रियों से नहीं आया हो। कल्पना में हम अपने विज्ञानों को उनके यथार्थ मूल संवेदनों से न मिला कर गलत तरीके से मिला देते हैं। यही हमारा भ्रम है। संवेदनों या विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध को वस्तु-जगत् के संबन्ध समझ लेना सबसे बड़ा भ्रम है। हमारे संवेदन में किसी सामान्य का, किसी निश्चित और सार्वभौम सत्य का प्रवेश नहीं हो सकता, अतः हमारा इन्द्रियानुभव, जो हमारा एक मात्र सत्य ज्ञान है, सदा अनिश्चित और संभावित ही रहता है। यही ह्यूम का प्रसिद्ध सन्देहवाद या संशयवाद है। इसी सन्देहवाद ने जर्मनी के सुप्रसिद्ध महान् दार्शनिक कान्ट को "मोह-निद्रा से जगाया था।"

ह्यूम एक युग-प्रवर्तक दार्शनिक हैं। बुद्धिवाद की रूढ़ियों का खण्डन उनकी मुख्य सफलता है। जिस अनुभववाद को मानकर वे चले हैं उसके अन्त तक निर्भय होकर, पूर्ण निष्पक्ष रीति से विचार करते हुये, वे पहुँचे हैं। उनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक और आलोचनात्मक रही है। उनको 'अज्ञेयवादी' (Agnostic)

कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार तत्व हमारे लिये अज्ञेय है। उनको 'सन्देहवादी' (Sceptic) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हमारा ज्ञान कभी निश्चयात्मक और अनिवार्य नहीं हो सकता। उनको 'व्यवहारवादी' (Phenomenalist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हमारा सारा ज्ञान, विज्ञानों का ज्ञान होने के कारण, व्यवहार मात्र है। उनको 'प्रत्यक्षवादी' (Positivist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार केवल संवेदन या उनके प्रतिरूप विज्ञान ही हमारे ज्ञान के विषय बन सकते हैं। उनको 'इन्द्रियानुभववादी' (Empiricist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार सत्य ज्ञान इन्द्रियानुभूति में ही सीमित है। उनको 'सम्वेदनवादी' (Sensationist) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार हमारे ज्ञान में कोई ऐसा तत्व नहीं आ सकता जो संवेदन में न रहा हो।

ह्यूम की आलोचना भी बहुत अधिक हुई है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा है कि "ह्यूम का खण्डन करना दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है।" वस्तुतः यदि इन्द्रियानुभववाद को स्वीकार कर लिया जाय तो ह्यूम के विचारों से सहमत होने के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। ह्यूम ने जो कुछ कहा है प्रायः सत्य कहा है। यह सत्य है कि इन्द्रियानुभव के द्वारा कभी निश्चयात्मक, सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान नहीं हो सकता। यह सत्य है कि यदि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय संवेदन या विज्ञान ही हों, तो न ईश्वर की प्रतिष्ठा हो सकती है, न आत्मा की और न जड जगत् की। ह्यूम की इन तत्वों की आलोचना और इन तत्वों के मल कारण कार्यकारणभावसम्बन्ध की आलोचना, इन्द्रियानुभव को ही एकमात्र ज्ञान मान लेने पर, सर्वथा सत्य है। किन्तु सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इन्द्रियानुभव को ही एकमात्र ज्ञान क्यों माना जाय? ह्यूम ने सबकी आलोचना की, किन्तु इन्द्रियानुभव की आलोचना नहीं की। उसको उन्होंने चुपचाप नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया। यही उनका सबसे बड़ा दोष है। यदि वे इन्द्रियानुभव की आलोचना से अपना दर्शन प्रारंभ करते, तो उनके दर्शन का रूप ही और होता। इन्द्रियानुभववाद का सन्देहवाद में परिणत होना स्वाभाविक है। किन्तु सत्य यह है कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण सन्देहवादी हो ही नहीं सकता। ह्यूम भी नहीं हो सके हैं। पूर्ण सन्देहवादी का कोई दर्शन, कोई विचार, कोई मान्यता, कोई निश्चय नहीं हो सकता। सन्देहवाद की प्रवृत्ति आत्मघाती है, क्योंकि सन्देहवाद के अनुसार स्वयं सन्देहवाद ही सन्देह का विषय बन जाता है। सन्देहवादी का एकमात्र दर्शन है—मौन। सन्देहवाद उस औषध के समान है जो रोग के साथ साथ रोगी को भी और स्वयं अपने आपको भी समाप्त कर देती है। पूर्ण सन्देहवादी पर तर्क-प्रहार करना मृतक को मारना है। ह्यूम भी अपने सन्देहवाद को अक्षुण्ण नहीं रख सके हैं। वे विज्ञानों के आनन्तर्य सम्बन्ध को मानते हैं। तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र के क्षेत्रों में उनको निश्चित और अनिवार्य सिद्धान्त मानने के लिये बाध्य होना पड़ा है।

सत्य यह है कि इन्द्रियानुभव के आधार पर तो ह्यूम का इन्द्रियानुभववाद भी स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि हमारा ज्ञान केवल संवेदन या विज्ञान तक ही सीमित है, तो हम केवल मौन रह कर पशुओं के समान ही इन्द्रियानुभव कर सकते हैं। बुद्धि के विकल्पों की सहायता के बिना इन्द्रियानुभव में वाणी नहीं आ सकती। यह सत्य है कि इन्द्रियानुभव से हमें केवल विशेष, पृथक्-पृथक्, भिन्न और क्षणिक संवेदनों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है और इस आधार पर कार्य-कारण सम्बन्ध की सार्वभौमता, निश्चितता और अनिवार्यता की सिद्धि नहीं की जा सकती। यह भी सत्य है कि इस मूल सत्य की सिद्धि अनुमान या बुद्धि के विकल्पों से भी नहीं हो सकती क्योंकि वे स्वयं इस पर निर्भर हैं। फिर प्रश्न यह है कि हमें इस नियम की कल्पना ही क्यों हुई? ह्यूम का उत्तर है हमारी कल्पना के कारण। किन्तु यदि कल्पना बुद्धि का खेल है और बुद्धि में ऐसा कोई तत्व नहीं आ सकता जो संवेदन में न रहा हो, तो बुद्धि में इस नियम की कल्पना भी कैसे आई? ह्यूम का इसके लिये कोई उत्तर नहीं। इससे सिद्ध है कि इस कल्पना का मूल अन्यत्र खोजना होगा। यह कल्पना नहीं है, यह मौलिक सत्य है। यह बुद्धि की, सविकल्प बुद्धि की, धारणाओं का मूलाधार है। यह निर्विकल्प स्वतःसिद्ध स्वानुभूति का नियम है। इस नियम के आधार पर बुद्धि कार्य करती है और बुद्धि के आधार पर इन्द्रियानुभूति। विशुद्ध ज्ञान यह निर्विकल्प और स्वतःसिद्ध स्वानुभूति ही है। यह बुद्धि को उसके विकल्प देती है जिनसे वह इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित करके सम्वेदनमात्र के स्तर से ज्ञान के स्तर पर लाती है। इन्द्रियानुभव ज्ञान के इन बीजों को पल्लवित, पुष्पित और फलित करता है, उनको उत्पन्न नहीं करता। ज्ञान का उद्गम स्वतःसिद्ध स्वानुभूति में न खोज कर इन्द्रियानुभूति में खोजना भयंकर भूल है और इसका आत्मघाती परिणाम वही होगा जो ह्यूम के दर्शन में हुआ। यह स्वतःसिद्ध स्वानुभव ही असली आत्म-स्वरूप है। इसका निराकरण नहीं हो सकता—ह्यूम भी नहीं कर सके। वे देकार्त को भूल गये। क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह इसी अधिष्ठान पर होता है। विज्ञान स्वयं अपना अनुभविता नहीं हो सकता। क्षणिक विज्ञानों को मानने पर सम्पूर्ण व्यवहार का अपलाप हो जाता है जो ह्यूम के दर्शन में हुआ। यह 'आत्मा' द्रव्य नहीं है। इन्द्रियाँ और सविकल्प बुद्धि इसको ग्रहण नहीं कर सकतीं। यह विशुद्ध और स्वतःसिद्ध ज्ञाता है। यह सिद्धि और असिद्धि की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ये धर्म इसी पर आश्रित हैं। क्षणिक विज्ञानों की सहायता लेकर इसको ढूँढ़ना, जलती हुई मोमबत्तियाँ लेकर दिन में सूर्य को खोजने के समान है। ह्यूम ने यही हास्यास्पद कार्य किया। आगे चलकर कान्ट ने ह्यूम के दोषों को दूर करके बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के दीर्घ संघर्ष को समाप्त कर दिया।

त्रयोदश अध्याय

आलोचनात्मक विज्ञानवाद : कान्ट

इमान्युएल कान्ट (Immanuel Kant) (१७२४-१८०४) :—जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट की गणना विश्व के महत्तम दार्शनिकों में है। कान्ट का जन्म कोनिग्ज़बर्ग (Konigsberg) नगर के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ। कोनिग्ज़बर्ग विश्वविद्यालय में वे गणित, विज्ञान और दर्शन के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे। शिक्षा समाप्त करके वे कुछ दिनों तक, जीविका-निर्वाह के लिये, इधर-उधर के सम्पन्न परिवारों में शिक्षक का कार्य करते रहे। बाद में विश्वविद्यालय में शिक्षक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई। कुछ वर्षों बाद वे वहीं प्रधानाध्यापक और फिर अध्यक्ष हो गये। उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी और वे गम्भीर अध्ययन में तल्लीन रहते थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनका प्रत्येक कार्य यथासमय और यथानियम हुआ करता था। जब वे घूमने निकलते थे तो लोग उनको देखकर अपनी घड़ियाँ मिलाया करते थे। वे कर्तव्य-परायण और उदार-हृदय थे। उनका बाह्य जीवन घटना-शून्य था। वे अपने प्रान्त के बाहर कभी नहीं निकले। कान्ट का जीवन साधारण, सरल और घटनाशून्य होने पर भी उनके विचार अत्यन्त असाधारण, जटिल और क्रान्तिकारी थे।

कान्ट पर लाइबनित्ज़ और वोल्फ़ के बुद्धिवाद का, लॉक और बर्कले के अनुभववाद का, ह्यूम के सन्देहवाद का, वोल्तेयर के ज्ञानवाद का, रूसो के भावुकतावाद का, न्यूटन के भौतिक विज्ञान का और पाइटिस्ट सम्प्रदाय के धार्मिक आचार का बड़ा प्रभाव पड़ा। और सभी परवर्ती दार्शनिकों पर कान्ट का भारी प्रभाव पड़ा है।

कान्ट के विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ हैं:—(१) 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Pure Reason), (२) 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Practical Reason), और (३) 'कला और सौन्दर्यमूलक ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Judgment)।

बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के दीर्घकालीन संघर्ष को समाप्त कर देने का श्रेय कान्ट को है। बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद इन दोनों में अपने अपने गुण दोष हैं। दोनों एकाङ्गी हैं। दोनों में आंशिक सत्य है। दोनों में एक भी पूर्णतः सत्य नहीं है। इस संघर्ष में दोनों ही हार कर थक गये; विजय किसी की

नहीं हुई। कान्ट इन दोनों की असफलता को ध्यान में रखकर अपने दर्शन का प्रारम्भ करते हैं।

कान्ट अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक' (Critical) और 'अतीन्द्रिय' (Transcendental) 'विज्ञानवाद' (Idealism) कहते हैं। इन तीनों शब्दों का अर्थ जान लेना चाहिये। पहले 'आलोचनात्मक' शब्द को लें। बुद्धिवादियों ने आँख मूँदकर बुद्धि का विश्वास किया है। उनके अनुसार बुद्धि अपने स्वतः-सिद्ध और सार्वभौम नियमों द्वारा तत्व-ज्ञान कर सकती है। गणित का ज्ञान उनका आदर्श रहा है। इसके विपरीत अनुभववादियों ने हमारे सारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियानुभव में ही माना है। बुद्धि के कोई नियम अनुभव-निरपेक्ष और सहज नहीं हो सकते। कान्ट के अनुसार बुद्धिवाद का पर्यवसान अन्धविश्वास में और अनुभववाद का पर्यवसान सन्देहवाद में हुआ है। कान्ट के अनुसार तत्व-समीक्षा के पूर्व ज्ञान-समीक्षा अत्यावश्यक है। ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा जान लेना दर्शन का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिये। यद्यपि लॉक ने तत्व-मीमांसा के पहले ज्ञान-मीमांसा आवश्यक और महत्वपूर्ण समझी, तथापि उनकी प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गई और वे ज्ञान की सही आलोचना नहीं कर पाये। यही कारण था कि लॉक का इन्द्रियानुभववाद ह्यूम में जाकर सन्देहवाद बन गया। अतः कान्ट ने सर्वप्रथम ज्ञान की आलोचना को ही अपना लक्ष्य बनाया। ज्ञान की आलोचना किये बिना, ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा को जाने बिना, तत्व-समीक्षा करना व्यर्थ है। न तो बुद्धिवादियों के समान ज्ञान में अन्ध-विश्वास करना चाहिये और न इन्द्रियानुभववादियों के समान ज्ञान में आत्मघाती और अनावश्यक सन्देह। बुद्धिवाद के अन्ध-विश्वास (Dogmatism) और इन्द्रियानुभववाद के आत्मघाती सन्देह (Scepticism), इन दोनों दोषों से बचकर ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा की सही आलोचना को दर्शन का सर्वप्रथम और अत्यावश्यक कार्य मानने के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक' (Critical) कहा है। द्वितीय, 'अतीन्द्रिय' शब्द पर विचार करें। कान्ट के अनुसार ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय-सम्वेदन ज्ञान की सामग्री है। बुद्धि-विकल्प इस अस्त-व्यस्त सामग्री को ज्ञान का रूप देते हैं। इन्द्रिय-सम्वेदन वेदनामात्र है, ज्ञान कहलाने का पात्र नहीं। ज्ञान बनने के लिये सम्वेदनों को बुद्धि-विकल्पों द्वारा संगृहीत और निर्धारित होना पड़ता है। अनुभववादियों ने ज्ञान को इन्द्रिय-सम्वेदनों से ही बाँध दिया और फलतः अनुभववाद का पर्यवसान ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद में हुआ। वस्तुतः इन्द्रियानुभव के ही आधार पर किसी भी दर्शन की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं हो सकती, इन्द्रियानुभववाद की भी नहीं। अतः ज्ञान, अपनी सामग्री के लिये इन्द्रिय-सम्वेदन पर निर्भर रहता हुआ

भी, अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये अर्थात् ज्ञान बनने के लिये, इन्द्रियातीत बुद्धि-विकल्पों की शरण लेता है। ज्ञान के इस अतीन्द्रिय स्वरूप के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को 'अतीन्द्रिय' (Transcendental) कहा है। तृतीय, 'विज्ञान-वाद' शब्द पर विचार करें। कान्ट अपने आपको एक विशिष्ट अर्थ में विज्ञानवादी कहते हैं। उनके अनुसार ज्ञान, अतीन्द्रिय होते हुये भी, अपनी सामग्री के लिये इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है। अतः वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों के बिना नहीं हो सकता। ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है; परमार्थ तक उसकी गति नहीं। कान्ट दृष्टिसृष्टिवाद या जीवसृष्टविज्ञानवाद (Subjective Idealism) के प्रबल विरोधी हैं। यह सत्य है कि हमें अपने विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, किन्तु ये विज्ञान हमारी कल्पना की सृष्टि नहीं हैं। ये विज्ञान पारमार्थिक स्वलक्षणों (Things-in-themselves) द्वारा उत्थापित होते हैं, जिन स्वलक्षणों या परमार्थों का हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। हमारा व्यवहार (Phenomena) का ज्ञान सत्य, असंदिग्ध, निश्चित और सार्वभौम है—सत्य इसलिये कि इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदन या स्वसम्वेदन द्वारा प्रसूत होने से इस ज्ञान के संवादी परमार्थ वस्तुतः विद्यमान हैं, और निश्चित एवं सार्वभौम इसलिये कि इस सामग्री को हमारे बुद्धि-विकल्पों ने निरूपित किया है। किन्तु अतीन्द्रिय परमार्थों (Noumena) के विषय में हमारा ज्ञान केवल हमारे काल्पनिक विज्ञानों का ही ज्ञान है क्योंकि इन विज्ञानों के सम्वादी परमार्थ, सम्वेदन या स्वसम्वेदन के अभाव के कारण, वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं। अतः कान्ट व्यवहार के ज्ञान में वस्तुवादी (Empirically Realist) और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी (Transcendentally Idealist) हैं।

उपर्युक्त तीनों विशेषणों से, जिनसे कान्ट ने अपने दर्शन को विशिष्ट किया है, अर्थात् आलोचनात्मक, अतीन्द्रिय और विज्ञानवादी इन तीन विशेषणों से कान्ट के, ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा विषयक विचार भी स्पष्ट हो जाते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के मिलन से होती है। ये दोनों हमारे ज्ञान के माता-पिता हैं। दोनों में से एक का भी यदि अभाव हुआ तो, या तो ज्ञान 'ज्ञान' ही नहीं बनेगा (बुद्धि-विकल्प के अभाव में) या अयथार्थ होगा (इन्द्रिय-सम्वेदन के अभाव में)। प्रामाण्य के विषय में कान्ट का विचार है कि व्यवहार का ज्ञान तो निश्चित एवं प्रामाणिक है, किन्तु परमार्थ के ज्ञान के प्रामाण्य को जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं। सीमा के विषय में कान्ट का मत स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ तक उसकी गति नहीं।

इस पृष्ठभूमि के बाद हम अब इस विषय पर विचार करें कि कान्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के लम्बे संघर्ष को किस प्रकार समाप्त किया। पाश्चात्य

दर्शन के आधुनिक युग का श्रीगणेश बुद्धिवाद के उदय से हुआ। मध्ययुग की धार्मिक परम्परा के विरुद्ध, शास्त्र के अयुक्त अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा तर्क को दबाने के प्रयत्नों के विरुद्ध आधुनिक भौतिक-विज्ञान एवं दर्शन बुद्धि का प्रबल शस्त्र लेकर उठ खड़े हुये और विरोधियों को कुचल कर ही दम लिया। विरोधियों की पराजय के बाद भौतिक विज्ञान और दर्शन अपने अलग-अलग मार्ग पर चलने लगे। भौतिक विज्ञान, इन्द्रियानुभूति का आलिङ्गन करके प्रकृति-निरीक्षण और वैज्ञानिक प्रयोगों की सहायता लेता हुआ आगमन तर्कपद्धति द्वारा, बाह्य पदार्थों के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को बताने वाले निश्चित और सार्वभौम नियमों के अन्वेषण में लगा, और दर्शन, बुद्धि के सहज, स्वतःसिद्ध और सार्वभौम ज्ञान का आलिङ्गन करके इन्द्रियानुभूति को हेय और प्रकृति-निरीक्षण को व्यर्थ समझता हुआ निगमन तर्क पद्धति द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् के विवेचन में लगा। देकार्त, स्पिनोज़ा, लाइबनित्ज़ और वोल्फ़ जैसे बुद्धिवादियों ने गणित के ज्ञान को आदर्श मानकर दर्शन में भी उसी पद्धति को अपनाया। वे यह भूल गये कि गणित और दर्शन एक नहीं हैं। वे यह भूल गये कि गणित केवल बुद्धि-विकल्पों पर ही निर्भर है और वस्तु-सत् का विचार उसका लक्ष्य नहीं है, किन्तु दर्शन बुद्धि-विकल्पों का आश्रय लेकर वस्तु-जगत् के तथ्यों को खोजना चाहता है। गणित को केवल इसी से प्रयोजन है कि दो और दो मिल कर चार होते हैं; गणित को इससे प्रयोजन नहीं कि 'दो' और 'दो' पदार्थों में किन पदार्थों की गणना की जायगी। दो और दो ईंटे मिल कर चार ईंटे होंगी और दो और दो जीव मिल कर चार जीव। किन्तु दर्शन का लक्ष्य तो यह जानना है कि ईंटे और जीव हैं भी या नहीं। इसके लिये इन्द्रियानुभव का सहारा लेना आवश्यक है, किन्तु बुद्धिवाद इन्द्रियानुभव को क्षीण और मन्द ज्ञान कह कर ठुकराता ही रहा। धार्मिक अन्धविश्वासों पर प्रहार करने वाली बुद्धि, अपनी शक्ति का निर्णय किये बिना ही, अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान का दम्भ भरने लगी और अपने ही अन्धविश्वासों की दासी बन गई। इन्द्रियानुभूति की उपेक्षा करके बुद्धि के सहज, स्वयंसिद्ध, सार्वभौम और अनुभव-निरपेक्ष (A priori) नियमों को ही ज्ञान का एकमात्र उद्गम-स्थान मान लिया गया और दर्शन का लक्ष्य इन नियमों में तिरोहित ज्ञान को प्रकट करना समझा गया। इन नियमों की नींव पर ईश्वर, जीव और जगत् की सिद्धि के लिये क्रमशः ईश्वर-विज्ञान, मनोविज्ञान और प्रकृति-विज्ञान के तीन बौद्धिक प्रासाद निर्मित किये गये। और आश्चर्य की बात तो यह कि नींव एक होते हुये और निर्माण-प्रक्रिया एक होते हुये भी विभिन्न बुद्धिवादियों ने अपने दर्शन-प्रासादों को विभिन्न रूप दिया। आधार और पद्धति समान होने पर भी निष्कर्ष भिन्न-भिन्न निकले।

बुद्धिवाद की नींव को सर्वप्रथम हिलाया लॉक के अनुभववाद ने। लॉक ने

कहा कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभूति पर निर्भर है। बुद्धि की कोई सहज, स्वतःसिद्ध और अनुभव-निरपेक्ष धारणायें नहीं हैं। सारा ज्ञान अनुभव-सापेक्ष (A posteriori) है। आत्मा कोरे कागज़ या अँधेरे कमरे के समान है जिस पर अनुभव संवेदन और स्वसंवेदन रूपी उँगलियों से ज्ञानरूपी अक्षर लिखता है या जिसमें संवेदन और स्वसंवेदन की खिड़कियों से ही ज्ञानरूपी प्रकाश भीतर जाता है। लॉक ने तत्व-मीमांसा के पूर्व ज्ञान-मीमांसा को आवश्यक माना। ईश्वर, जीव और जगत् के विषय में विचार प्रकट करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा कैसे, क्यों और कहाँ तक है। बर्कले ने इसी के आधार पर बाह्य जगत् का खण्डन किया, प्रतीति को ही सत्ता माना और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय विज्ञान ही हैं। ह्यूम में यह अनुभववाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा और आत्मघाती सन्देहवाद बन गया। इसके आधार पर न ईश्वर का, न जीव का और न जगत् का प्रतिपादन हो सकता है क्योंकि इनमें से कोई भी इन्द्रियानुभूति का विषय नहीं। संवेदन और विज्ञान ही हमारे ज्ञान के विषय हैं और इनके आधार पर ज्ञान में कार्यकारणभाव जैसे निश्चित, सार्वभौम और असंदिग्ध नियम के लिये कोई स्थान नहीं—समस्त ज्ञान संभावना मात्र है।

प्रारम्भ में कान्ट पर लाइबनित्ज़ और वोल्फ़ का भारी प्रभाव था। केवल बुद्धि ही निश्चित और सार्वभौम ज्ञान उत्पन्न कर सकती है, इन्द्रियानुभव नहीं। किन्तु ह्यूम के प्रहारों ने बुद्धिवाद का प्रासाद ढहा दिया था। कान्ट इस सन्देहवाद से अत्यन्त प्रभावित हुये और उन्होंने यहाँ तक लिख दिया कि "ह्यूम ने मुझे अन्धविश्वास की मोह-निद्रा से जगा दिया।" कान्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद की निष्पक्ष आलोचना प्रारम्भ की और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि दोनों एकाङ्गी हैं, कि दोनों में आंशिक सत्य है और आंशिक असत्य और इसीलिये दोनों असफल हुये हैं। दोनों में से किसी ने भी ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा को नहीं समझा। यद्यपि लॉक ने इसका प्रयत्न किया, किन्तु उनका प्रयत्न मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गया, वास्तविक अन्वेषण नहीं। यदि बुद्धिवाद सत्य है तो फिर आधार और पद्धति एक होने पर भी विभिन्न निष्कर्ष क्यों निकाले जाते हैं? गणित के सिद्धान्त भी, विशेषतः रेखागणित के, जिन पर बुद्धिवादियों की अगाध-आस्था है, अपनी उपपत्ति के लिये अनुभव की अपेक्षा रखते हैं। और फिर, गणित तो अपने आपको वस्तु-विज्ञान कहने का दावा नहीं करता। किन्तु दर्शन करता है। फिर दर्शन को गणित का दास बनाने की क्या आवश्यकता? बुद्धिवाद की यह मान्यता, कि जो भी विचार बुद्धि को स्पष्ट प्रतीत होता हो वह सत्य है, अनिश्चित और अनुचित है। बुद्धिवाद, दर्शन और धर्म दोनों क्षेत्रों में, असफल हुआ है। इसका मूल कारण है इन्द्रियानुभव की उपेक्षा करके बौद्धिक

कल्पनाओं को ही मान्य समझना। बुद्धिवाद का पर्यवसान अन्धविश्वास में हुआ है। उधर, अनुभववाद भी सत्य नहीं है। यदि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव से ही उत्पन्न हो और उस तक ही सीमित हो, तो ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। इन्द्रियानुभव के आधार पर कोई निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभव से केवल अस्त-व्यस्त और क्षणिक सम्वेदन ही उपलब्ध हो सकते हैं जो ज्ञान कहलाने के अधिकारी ही नहीं हैं। सम्वेदनों के आधार पर किसी निश्चित सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। ईश्वर और आत्मा जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों की तो बात ही क्या, इन्द्रियानुभव से तो बाह्य जगत् की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। कार्यकारणभाव आदि सार्वभौम नियम भी नहीं बन सकते। और स्वयं सन्देहवाद की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। किन्तु हमें निश्चित और सार्वभौम नियमों का ज्ञान होता है। स्वयं ह्यूम ने भी गणित के ज्ञान को निश्चित माना है। उनका कथन यही है कि यह वस्तु-जगत् का ज्ञान नहीं, केवल विज्ञानों का सम्बन्ध मात्र है। किन्तु यह सत्य नहीं क्योंकि गणित भी अनुभव की अपेक्षा रखता है। और फिर प्रश्न यह है कि इन्द्रियानुभव के आधार पर तो विज्ञानों के सम्बन्ध में भी निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। फिर तो निश्चित और सार्वभौम ज्ञान की कल्पना तक नहीं होनी चाहिये। किन्तु ऐसा ज्ञान वस्तुतः सत्य है। केवल गणित के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी। यह ज्ञान इन्द्रियानुभव से आ नहीं सकता। यह बुद्धि-विकल्पों से ही आता है। अतः यह कथन कि समस्त ज्ञान इन्द्रियानुभव-प्रसूत है, मिथ्या है। इस प्रकार कान्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के दोष दिखाये। अब उनके गुणों को बताते हैं। बुद्धिवाद का यह कथन, कि हमें निश्चित और सार्वभौम ज्ञान होता है और यह ज्ञान इन्द्रियानुभव से न आकर हमारी बुद्धि के स्वतःसिद्ध और सहज नियमों से आता है, सत्य है। ज्ञान की सार्वभौमता, असंदिग्धता, निश्चितता और अनिवार्यता बुद्धि से ही आ सकती है, इन्द्रियानुभव से नहीं। साथ ही साथ, अनुभववादियों का यह कथन, कि इन्द्रियानुभूति के बिना सत्य ज्ञान नहीं हो सकता, सत्य है। हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे संवेदन या विज्ञान ही हैं। जिस ज्ञान की सामग्री संवेदन से न आई हो वह ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। अतः हमें व्यवहार का ही ज्ञान हो सकता है, परमार्थ का नहीं।

इस प्रकार बुद्धिवाद और अनुभववाद के गुण-दोष दिखाकर कान्ट अपना समन्वयात्मक मत प्रस्तुत करते हैं। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से बनता है। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिये द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) की आवश्यकता होती है जिनको उपादानकारण और स्वरूपकारण कहा जाता है। घट का द्रव्य या उपादान है मिट्टी और स्वरूप है उसकी विशिष्ट आकृति। केवल मृत्तिका से घट का काम नहीं चल सकता और

यदि मृत्तिका न हो तो भले ही कुम्हार के पास घड़े का साँचा हो, घड़ा नहीं बन सकता। सोने की अँगूठी के लिये सोना और अँगूठी का साँचा जिसमें ढलकर सोना अँगूठी का रूप लेता है, दोनों आवश्यक हैं। केवल सोने के डले को उँगली में नहीं पहना जा सकता, और यदि सोना न हो, तो भले ही सुनार के पास अँगूठी का साँचा हो, अँगूठी नहीं बन सकती। इसी प्रकार ज्ञान के लिये इन्द्रिय-सम्वेदन रूपी उपादान या द्रव्य की और बुद्धि-विकल्प रूपी स्वरूप देने-वाले साँचे की आवश्यकता है। बुद्धि-विकल्प के अभाव में हमें केवल अस्त-व्यस्त, विशृंखल और असम्बद्ध इन्द्रिय-सम्वेदनों की वेदना (Feeling) मात्र होगी और इस वेदना को, जो पशुओं को भी होती है, ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह निर्विकल्प इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मात्र है और प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाने का अधिकार इसे नहीं है। इस इन्द्रिय-सम्वेदन को, ज्ञान बनने के लिये, बुद्धि-विकल्प के साँचे में ढलना पड़ता है। बुद्धि-विकल्प इन अस्त-व्यस्त, विशृंखल और असम्बद्ध इन्द्रिय-सम्वेदनों को संगृहीत करके इन्हें नियमित और सम्बद्ध ज्ञान का रूप देते हैं। इसीलिये ज्ञान सदा सविकल्प होता है। अनुमान तो सविकल्प है ही, प्रत्यक्ष-ज्ञान भी सदा सविकल्प होता है।[१] यदि इन्द्रिय-सम्वेदन न हों, तो ज्ञान की सामग्री या उपादान के अभाव में, बुद्धि-विकल्प निष्क्रिय रहेंगे; और यदि बुद्धि-विकल्प न हों, तो इन्द्रिय-सम्वेदन असम्बद्ध रहेंगे और ज्ञान नहीं बन सकेंगे। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है: **'इन्द्रिय-सम्वेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य हैं और बुद्धि-विकल्पों के बिना इन्द्रिय-सम्वेदन अन्ध हैं।'**[२] हमारे ज्ञान में सत्यता या यथार्थता इन्द्रिय-सम्वेदनों के कारण आती है क्योंकि इन्द्रिय-सम्वेदन, हमारी कल्पना न होकर, वास्तविक पदार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। इसीलिये इन्द्रिय-सम्वेदनों के अभाव में वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। हम परमार्थों को नहीं जान सकते। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों और विज्ञानों तक ही सीमित है। अतः हमें व्यवहार का ही सत्य ज्ञान हो सकता है, परमार्थ का नहीं। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता, निश्चय और अनिवार्यता होती है, वह बुद्धि-विकल्पों से आती है; वह इन्द्रिय-सम्वेदनों से नहीं आ सकती। अतः हमारा व्यवहार का ज्ञान सदा सत्य और निश्चित होता है। हमारी आत्मा निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-सम्वेदनों को ग्रहण नहीं करती; वह सक्रिय होकर अपने बुद्धि-विकल्पों द्वारा इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान का रूप देती है। इन्द्रिय-सम्वेदनों के अभाव में आत्मा को अपने बुद्धि-

---

१. न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, जैन आदि भारतीय दर्शनों ने भी प्रत्यक्ष-ज्ञान को सविकल्प ही माना है और निर्विकल्प प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-सम्वेदन मात्र कहा है।

२. सांख्य ने भी प्रकृति के बिना पुरुष को पंगु और पुरुष के बिना प्रकृति को अन्ध माना है।

विकल्पों द्वारा ज्ञान का रूप देने के लिये कोई सामग्री या द्रव्य उपलब्ध नहीं होता है। अतः ज्ञान के लिये इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों अनिवार्य हैं। ज्ञान सत्य और निश्चित होता है। सत्यत्व इन्द्रिय-सम्वेदनों से और निश्चय बुद्धि-विकल्पों से आता है। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों तक ही सीमित नहीं है; उसे ज्ञान बनने के लिये अतीन्द्रिय बनना पड़ता है। स्वरूपतः अतीन्द्रिय होने पर भी ज्ञान को, अपनी सामग्री, द्रव्य या उपादान के लिये, इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहना पड़ता है। ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है जो उसके बुद्धि-विकल्पों में अन्तर्निहित रहता है। ज्ञान का स्वरूप बाहर से नहीं आता। ज्ञान का स्वरूप सार्वभौम, निश्चित और अनिवार्य है और इसीलिये इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष है। गणित शास्त्र और भौतिकविज्ञानशास्त्र के सार्वभौम और अनिवार्य नियम इसके प्रमाण हैं। किन्तु इन अनुभव-निरपेक्ष सार्वभौम नियमों को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये अनुभव-सापेक्ष होना पड़ता है। ये अनिवार्य नियम बीजवत् हैं जो बुद्धि-रूपी क्षेत्र में विद्यमान हैं। इनको पल्लवित, पुष्पित और फलित होने के लिये इन्द्रियानुभव रूपी खाद, जल और प्रकाश की आवश्यकता है। इन्द्रियानुभव के अभाव में ये बीज वैसे ही पड़े रह जाते हैं, विकसित नहीं हो पाते। इन्द्रियानुभव इनको **उत्पन्न** नहीं करता, केवल **विकसित** करता है। यही कारण है कि बालकों और मूर्खों को इन नियमों का ज्ञान नहीं होता। बुद्धि के सहज और अनुभवनिरपेक्ष नियमों को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये अनुभव की आवश्यकता होती है। अतः बुद्धि के सार्वभौम, सहज और अनिवार्य नियम अपनी **उत्पत्ति** की दृष्टि से इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष और **अभिव्यक्ति** की दृष्टि से इन्द्रियानुभव-सापेक्ष हैं। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है: '**समस्त ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती।**'

बुद्धिवाद की तर्क-पद्धति निगमनात्मक थी और अनुभववाद की आगमनात्मक। बुद्धिवाद के अनुसार दर्शन का मुख्य कार्य बुद्धि के स्वतःसिद्ध, सहज और सार्वभौम नियमों के आधार पर ईश्वर, जीव और जगत् के विषय में निष्कर्ष निकालना मात्र है। अनुभववाद के अनुसार बुद्धि के कोई सहज और सार्वभौम नियम नहीं हैं क्योंकि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों से उत्पन्न होता है और सम्वेदनों के आधार पर कोई निश्चित तथा सार्वभौम ज्ञान नहीं हो सकता। अतः दर्शन का लक्ष्य इन्द्रियानुभूति के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना है। निगमन तर्क के वाक्य (प्रतिज्ञा) इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष (A priori) और वियोजक या विश्लेषक (Analytic) होते हैं। आगमन तर्क के वाक्य अनुभव-सापेक्ष (A posteriori) और संयोजक या संश्लेषक (Synthetic) होते हैं। वियोजक वाक्यों में सार्वभौमता और अनिवार्यता होती है, किन्तु नवीनता नहीं। संयोजक वाक्यों में नवीनता होती है, किन्तु सार्वभौमता और अनिवार्यता नहीं। नवीनता से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है और सार्वभौमता या अनिवार्यता से ज्ञान असं-

दिग्ध या निश्चित होता है। वियोजक वाक्य में विधेय (Predicate) उद्देश्य (Subject) में अन्तर्निहित रहता है और वाक्य का कार्य उसे उद्देश्य के बाहर प्रकट कर देना ही है। विधेय के उद्देश्य की धारणा का विश्लेषण मात्र करने के कारण यह वाक्य विश्लेषक या वियोजक कहलाता है। उदाहरण के लिये, 'त्रिभुज तीन भुजाओंवाली आकृति है'; 'मनुष्य बुद्धियुक्त प्राणी है'; 'जड पदार्थ आकाश में विस्तृत होता है', आदि। इनमें विधेय उद्देश्य के लिये कोई नई बात नहीं बताता। तीन भुजाओंवाली आकृति होना त्रिभुज का स्वभाव है; बुद्धियुक्त होना मनुष्य का स्वभाव है और विस्तृत होना जड पदार्थ का स्वभाव है। इन वियोजक वाक्यों में निश्चित सत्य तो है, किन्तु इनसे नवीनता या ज्ञान-वृद्धि नहीं प्राप्त होती। संयोजक वाक्य इन्द्रियानुभव के आधार पर बनते हैं और उनमें नवीनता होती है अर्थात् उनसे कुछ नया ज्ञान मिलता है, किन्तु वे सार्वभौम और निश्चित नहीं होते। उदाहरणार्थ, 'सोमवार को लू चली थी', 'मंगलवार को पानी बरसा था', 'राम लम्बा है', आदि। इन वाक्यों में विधेय उद्देश्य के अन्तर्गत नहीं रहता, अपितु उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ नई बात बताता है। लू चलना सोमवार का धर्म नहीं है और न पानी बरसना मंगलवार का धर्म है। न हर सोमवार को लू चलती है और न हर मंगलवार को पानी बरसता है। इसी प्रकार लम्बा होना मनुष्य का धर्म नहीं। हर मनुष्य लम्बा नहीं होता। किन्तु एक विशिष्ट सोमवार को लू चली, एक विशिष्ट मंगलवार को पानी बरसा और एक विशिष्ट मनुष्य राम लम्बा है। इन संयोजक वाक्यों से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। किन्तु ये निश्चित नहीं है अर्थात् इनमें सार्वभौमता नहीं है। कान्ट के समक्ष मुख्य समस्या यह थी कि क्या ऐसे भी वाक्य हैं जो संयोजक होते हुये भी अनुभव-निरपेक्ष हों, जो नवीन होते हुये भी सार्वभौम और निश्चित हों? 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' नामक ग्रन्थ इस समस्या को लेकर ही प्रारम्भ होता है। कान्ट का उत्तर है कि ऐसे वाक्य होते हैं जो हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हैं, किन्तु सम्भावनामात्र नहीं होते, और जो अनिवार्य और सार्वभौम रूप से सत्य होते हैं, किन्तु वियोजक नहीं होते। ऐसे वाक्य संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष (Synthetic Apriori Judgments) होते हैं। गणित, विशेषतः रेखागणित और भौतिकविज्ञान के सभी वाक्य स्वरूपतः संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष होते हैं। गणित के वाक्यों को लोग वियोजक तथा सार्वभौम और भौतिकविज्ञान के वाक्यों को संयोजक तथा सम्भावित मानते हैं। कान्ट के अनुसार यह अनुचित है। गणित के वाक्य भी संयोजक होते हैं और भौतिक-विज्ञान के वाक्य भी सार्वभौम होते हैं। गणित की उपपत्तियाँ देश (Space) के अनुभव की अपेक्षा रखती हैं और गणित के सिद्धान्त वस्तु-जगत् में भी लागू होते हैं। भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त अनुभव-सापेक्ष होने पर भी सार्वभौम और निश्चित होते हैं।

अतः गणित और भौतिकविज्ञान के सिद्धान्त, अपने स्वरूप की दृष्टि से अनुभव-निरपेक्ष एवं सार्वभौम होते हैं और इस स्वरूप की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुभव-सापेक्ष एवं संयोजक होते हैं। यही कारण है कि इनमें, संयोजक होने पर भी, सार्वभौम और असंदिग्ध सत्य रहता है। ये सिद्धान्त स्वतःसिद्ध और अनिवार्य कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध पर आश्रित होते हैं। अतः इनमें भी अनिवार्य सत्य का होना अनिवार्य है। 'मनुष्य मरणशील है', 'जड पदार्थ का परिमाण होता है', 'पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है', 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है', इत्यादि वाक्य संयोजक और सार्वभौम हैं। ये हमें नई बात बताते हैं और उस बात में सार्वभौमता और अनिवार्यता है। इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रियानुभव उपस्थित करता है और बुद्धि-विकल्प इस सामग्री को सार्वभौम नियम के रूप में परिणत करता है। प्रत्येक वैज्ञानिक प्रतिज्ञा में एक अंश इन्द्रिय-सम्वेदन द्वारा प्रस्तुत होता है और दूसरा अंश बुद्धि-विकल्प द्वारा। बुद्धिवाद इसे भूल जाता है कि जन्मान्ध व्यक्ति को रूप का बोध नहीं हो सकता। अनुभववाद इसे भूल जाता है कि मूर्ख व्यक्ति की सर्वोत्तम इन्द्रियाँ भी उसे सार्वभौम ज्ञान का बोध नहीं करा सकतीं। आलोचनावाद सम्वेदन की सामग्री को और बुद्धि-विकल्प की सार्वभौमता को स्वीकार करता है और इन दोनों को संयोजक तथा अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों के लिये आवश्यक मानता है। इस ज्ञान की सामग्री अनुभव-प्रसूत है, किन्तु इस ज्ञान का स्वरूप अनुभव-जन्य नहीं है। इसका स्वरूप बुद्धि के सहज, सार्वभौम और अनिवार्य नियमों से बनता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब बुद्धि और बाह्य जगत् में सामंजस्य हो। बुद्धि अपने सहज विकल्पों द्वारा बाह्य जगत् का सफल और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त कर लेती है। भौतिक विज्ञानों की सफलता इस बात को बताती है कि बाह्य जगत् को सुव्यवस्थित तथा नियमित करने में बुद्धि का हाथ है। 'मनुष्य मरणशील है'—यह वाक्य इन्द्रियानुभव तक सीमित नहीं। इन्द्रियानुभव से हम दो, चार, दस, बीस, सौ, दो सौ मनुष्यों को मरणशील देख सकते हैं, किन्तु भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त मनुष्यों को मरणशील कहते ही इन्द्रियानुभव की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। यह सार्वभौम सत्य अनुभव पर प्रतिष्ठित नहीं है। यह कार्य-कारण-भाव-रूपी बुद्धि के सहज नियम पर आधारित है। साथ ही, यदि इन्द्रियानुभव द्वारा कुछ मनुष्यों की मरणशीलता का ज्ञान न हो, तो यह सजह नियम अभिव्यक्त नहीं हो सकता। अनुभववादियों का यह कथन कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों से उत्पन्न होता है सर्वथा असत्य है। हमारी बुद्धि इन्द्रिय-सम्वेदनों को निष्क्रिय होकर ग्रहण नहीं करती। बुद्धि 'कोरा कागज़' या 'अँधेरा कमरा' नहीं है। बुद्धि अपने सहज़ नियमों से इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित और नियमित करके उसे सार्वभौम ज्ञान का रूप देती है। कान्ट का यह मत दर्शन-शास्त्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति माना जाता है।

कॉपरनिकस के पहले पश्चिम में यह मत प्रचलित था कि पृथ्वी स्थिर और सृष्टि का केन्द्र है और सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि सृष्टि का केन्द्र सूर्य है, कि पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इस मत को पाश्चात्य ज्योतिर्विद्या में कॉपरनिकस की क्रान्ति कहते हैं। कान्ट ने भी दर्शन के क्षेत्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति उपस्थित की। कान्ट के पहले अनुवादियों की यह मान्यता जम चुकी थी कि मानवी बुद्धि निष्क्रिय होकर इन्द्रिय-सम्वेदनों को ग्रहण करती है, कि हमारे ज्ञान को प्रकृति निर्मित करती है, कि हमारा ज्ञान अनुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कान्ट ने बताया कि मानवी बुद्धि सक्रिय होकर इन्द्रिय-सम्वेदनों को व्यवस्थित और नियमित बनाती है, कि हमारी बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, कि हमारा ज्ञान अपने स्वरूप में सदा अतीन्द्रिय होता है। प्रकृति के अस्त व्यस्त, विशृंखल और क्षणिक सम्वेदनों को संगृहीत करके उनको व्यवस्थित, नियमित और नित्य ज्ञान के रूप में परिणत करना मानवी बुद्धि का ही कार्य है। प्राकृतिक नियमों की सार्वभौमता और अनिवार्यता बुद्धि से ही आती है। यह सत्य है कि हमें पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं होता और हमारा ज्ञान अपने इन्द्रियसम्वेदनों की सामग्री तक ही सीमित रहता है, किन्तु इस सामग्री को व्यवस्थित एवं नियमित करना हमारी बुद्धि का ही कार्य है। बुद्धि प्रकृति के पास शिष्य बन कर नहीं जाती; वह न्यायाधीश के समान प्रकृति से प्रश्न पूछती है और उनका उत्तर देने के लिये प्रकृति को बाध्य करती है। भौतिकविज्ञानों के सार्वभौम नियम इस बात की साक्षी हैं। कान्ट की प्रसिद्ध उक्ति है: **'बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है।'** प्रकृति के असम्बद्ध और क्षणिक सम्वेदनों को सम्बद्ध, व्यवस्थित और नियमित ज्ञान का रूप देकर प्राकृतिक नियमों में सार्वभौमता तथा अनिवार्यता लाना बुद्धि का ही कार्य है। इसीलिये गणित में और भौतिकविज्ञानों में संयोजक और अनुभवनिरपेक्ष वाक्यों द्वारा सार्वभौम सत्य प्रतिष्ठापित किया जाता है। गणित के नियम स्वतःसिद्ध हैं। भौतिकविज्ञानों के नियम अनुभव से सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः गणित और भौतिकविज्ञान को बुद्धि-जन्य सार्वभौमता अनिवार्य है।

अब प्रश्न यह है कि जिस प्रकार गणित में और भौतिक विज्ञानों में संयोजक तथा अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों द्वारा सार्वभौम और सत्य ज्ञान प्राप्त किया जाता है, क्या उसी प्रकार दर्शन में भी सार्वभौम और सत्य ज्ञान मिल सकता है? क्या दर्शन के वाक्य भी संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कान्ट दर्शन को दो क्षेत्रों में विभाजित करते हैं—एक तो व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक। व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों द्वारा आती है। पारमार्थिक क्षेत्र में इन्द्रिय-सम्वेदनों की गति नहीं है; यहाँ ज्ञान अपने ही विकल्पों को नियमित करता है। अतः व्यवहार में संयोजक

और अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों द्वारा सत्य और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु परमार्थ में, विषय अतीन्द्रिय होने के कारण, सत्य और निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं। ईश्वर, जीव और जडतत्व आदि अतीन्द्रिय हैं। इनके विषय में जो ज्ञान हमें होता है उसकी सामग्री अनुभव-जन्य नहीं होती। इस ज्ञान को अनुभव से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-सम्वेदन के अभाव में हम यह नहीं जान सकते कि इस ज्ञान के विषय वस्तु-जगत् में भी हैं या नहीं। अतः ईश्वर, जीव और जगत् का प्रतिपादन करनेवाला दर्शन-शास्त्र, गणित और भौतिक विज्ञानों के समान कभी सत्य और निश्चित ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। परमार्थ-क्षेत्र में हमारा ज्ञान सम्भावना मात्र है।

कान्ट ने तत्व-मीमांसा के पूर्व ज्ञान-मीमांसा आवश्यक समझी। आलोचनात्मक दर्शन के लिये, बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के दोषों से बचने के लिये, पहले हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा जान लेना अत्यावश्यक है। कान्ट के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से होती है। इन्द्रिय-सम्वेदनों से ज्ञान में सत्यत्व और बुद्धि-विकल्पों से सार्वभौमता तथा अनिवार्यता आती है। प्रामाण्य के विषय में, वही ज्ञान प्रामाणिक है जो पारमार्थिक स्वलक्षणों द्वारा उत्थापित किया जाय अर्थात् जिसकी सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों के रूप में पारमार्थिक स्वलक्षण प्रस्तुत करें और जिस सामग्री को बुद्धि-विकल्प सार्वभौम निश्चय प्रदान करें। संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान ही प्रामाणिक है। सीमा के विषय में, ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित रहता है, परमार्थ तक उसकी पहुँच नहीं। गणित और भौतिक-विज्ञानों में संयोजक तथा अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान सम्भव है। अतः यह ज्ञान सत्य और सार्वभौम है। दर्शन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी यह ज्ञान सम्भव है। किन्तु दर्शन के पारमार्थिक क्षेत्र में यह ज्ञान सम्भव नहीं। इन सिद्धान्तों के कारण 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' नामक ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का नाम 'इन्द्रिय-सम्वेदन-परीक्षा' (Transcendental Aesthetic) है। द्वितीय भाग का नाम 'बुद्धि-विकल्प-परीक्षा' (Transcendental Analytic) है। तृतीय भाग का नाम 'प्रज्ञा-परीक्षा' (Transcendental Dialectic) है। अब हम इन तीनों भागों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

पहले इन्द्रिय-सम्वेदन-परीक्षा को लें। हमारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प के मिश्रण से बनता है। इन्द्रियाँ सम्वेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत करती हैं और बुद्धि अपने सहज विकल्पों से इन असम्बद्ध सम्वेदनों को सम्बद्ध बनाकर इन्हें ज्ञान का रूप देती है। ज्ञान बनने के लिये सम्वेदनों को बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलना पड़ता है। कान्ट के अनुसार इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प के बीच में दो द्वार हैं जिनका नाम है देश और काल। इन्द्रिय-

सम्वेदन इन दोनों द्वारों में होते हुए बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। सम्वेदन सीधे विकल्पों तक नहीं पहुँच सकते। वहाँ जाने के लिये सम्वेदनों को देश और काल के द्वारों में होकर निकलना पड़ता है। तब वे विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान का रूप लेते हैं। देश और काल का आवरण लेकर ही इन्द्रियसम्वेदन बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं हैं; ये हमारे ही मानसिक चश्मे हैं जिनको लगाकर हम बाह्य जगत् को देख सकते हैं। हमारा बाह्य जगत् का ज्ञान अनिवार्यतया दिक्कालपरिच्छिन्न है। अतः हम परमार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकते। हम तो 'हमारी दुनिया' को ही देख सकते हैं जिस पर देश और काल का आवरण पड़ा हुआ है। बाह्य जगत् के साथ हमारा परिचय इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्द्रियों के उपादान गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। अतः बाह्य जगत् हमारे लिये इन पाँच प्रकार के सम्वेदनों से ही बनता है। लॉक के अनुसार इन सम्वेदनों में बाह्य पदार्थों के वास्तविक गुणों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ये प्रतिबिम्ब विज्ञान कहलाते हैं और हम इन्हीं को जानते हैं। बाह्य पदार्थों से हमारा साक्षात् नहीं होता। बर्कले के अनुसार भी हम अपने विज्ञानों को ही जान सकते हैं। सम्वेदन बाह्य पदार्थों द्वारा उत्थापित न होकर ईश्वर के दिव्य विज्ञानों द्वारा उत्थापित होते हैं और हमारी आत्मा इनको ग्रहण करती है। ह्यूम के अनुसार हम केवल सम्वेदनों और विज्ञानों को ही जानते हैं। ये सम्वेदन किस प्रकार और किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह प्रश्न हमारे लिये अज्ञेय है। कान्ट के अनुसार भी हमारे ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों के रूप में प्रस्तुत होती है और जिन वास्तविक अर्थों द्वारा ये सम्वेदन उत्थापित किये जाते हैं उनको हम नहीं जान सकते। किन्तु जहाँ लॉक, बर्कले और ह्यूम के अनुसार ये सम्वेदन-समूह ही वस्तुओं के रूप में परिणत होते हैं, वहाँ कान्ट के अनुसार ये सम्वेदन-समूह अस्त-व्यस्त, अशक्त, अर्थहीन, असम्बद्ध और क्षणिक हैं एवं इनमें वह सामर्थ्य नहीं कि ये स्वयं ज्ञान के रूप में परिणत हो सकें। हमारी आत्मा निष्क्रिय होकर इनका ग्रहण नहीं करती; वह सक्रिय होकर इनको व्यवस्थित और नियमित बनाती है। बुद्धि का कार्य चींटियों के समान सामान जुटाना ही नहीं है और न मकड़ियों के समान अपने भीतर से ही तन्तु उत्पन्न करके जाला बुनना है। बुद्धि का कार्य मधु-मक्खियों के समान सामान को संगृहीत करके उसका समन्वय करना और उसको दूसरा नया रूप देना है। जैसे मधुमक्खियाँ फूलों के रसों को मधु में परिणत करती हैं, वैसे ही बुद्धि इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करती है। शक्ति बुद्धि में है, सम्वेदनों में नहीं। और इसके पहले कि ये सम्वेदन बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान के रूप में निकलें, यह आवश्यक है कि ये सम्वेदन देश और काल के द्वारों में से निकलकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुचें। देश और काल अनुभव-

जन्य नहीं हैं और न ये बाह्य पदार्थ हैं। ये प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार हैं और इनके अन्दर से निकलकर ही सम्वेदन अनुभव का रूप ले सकते हैं। अनुभूत होने के लिये बाह्य जगत् को देश और काल दोनों द्वारों में से निकलना पड़ता है और आन्तर जगत् को केवल काल के द्वार से।

कान्ट ने देश और काल की व्याख्या इस प्रकार की है :—देश और काल न तो इन्द्रिय-सम्वेदन रूप हैं और न बुद्धि-विकल्प रूप। ये प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार हैं जिनमें से निकलकर सम्वेदन बुद्धि तक पहुँचते हैं और विकल्पों के साँचों में ढलकर ज्ञान का रूप लेते हैं। देश और काल अनुभव-निरपेक्ष हैं, किन्तु बुद्धि-जन्य इन्द्रिय-सम्वेदन नहीं हैं और न उनके समान बाह्य पदार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। यदि हम अपने ज्ञान में से इन्द्रिय-सम्वेदन का अंश और बुद्धि-विकल्प का अंश निकाल दें, तो केवल देश और काल बच रहते हैं। अनुभव के आधार पर हम देश-काल की कल्पना नहीं करते; हम देश-काल के कारण ही अनुभव कर सकते हैं। वस्तुओं के देश-गत होने का अनुभव है उनके आगे-पीछे, यहाँ-वहाँ, पास-दूर आदि होने का अनुभव। यह अनुभव देशत्व के अनुभव के बिना नहीं हो सकता। पहले देशत्व का अनुभव होता है, फिर वस्तुओं के यहाँ या वहाँ होने का अनुभव। बाह्य पदार्थ की प्रतीति देशत्व की प्रतीति के बिना हो ही नहीं सकती। प्रत्येक बाह्य पदार्थ के अनुभव के लिये उसका यहाँ-वहाँ, पास-दूर, आगे-पीछे आदि होना अनिवार्य है। इसी प्रकार वस्तुओं या घटनाओं की सह-स्थिति या पूर्वापर क्रम अथवा आनन्तर्य का अनुभव कालत्व के अनुभव के बिना नहीं हो सकता। पहले काल का अनुभव होगा और फिर सह-स्थिति या आनन्तर्य का। काल के अनुभव के बिना किसी भी पदार्थ या घटना का, चाहे वह बाह्य हो चाहे मानसिक, अनुभव नहीं हो सकता। यदि देश और काल का अनुभव न हो तो हमें देश-गत और काल-गत सम्बन्धों का अनुभव भी नहीं हो सकता। हम किसी विशेष देश या विशेष काल के अनुभव को अपनी कल्पना से पृथक् कर सकते हैं, किन्तु देशत्व या कालत्व की भावना को हम अपने अनुभव से कभी पृथक् नहीं कर सकते। देश और काल की कल्पना इन्द्रियानुभव के आधार पर नहीं की जाती, अपितु स्वयं इन्द्रियानुभव देश और काल द्वारा आवृत होकर ही अनुभव बन सकता है। अतः देश और काल अनुभव-जन्य न होकर अनुभव-निरपेक्ष हैं और अनुभव इन्हीं के कारण सम्भव होता है। अनुभव-निरपेक्ष होने पर भी देश और काल बुद्धि-विकल्प नहीं हैं। ये शुद्ध सम्वेदनमात्र हैं, किन्तु अनुभव-जन्य इन्द्रिय-सम्वेदन नहीं है। देश और काल दोनों अखण्ड, असीम और अनन्त हैं। इनके खण्ड या विभाजन नहीं हो सकते। विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की कल्पना हमारी कल्पना मात्र है। प्रत्यक्ष अनुभवरूप होने के कारण इनको विशुद्ध सम्वेदन कहा जाता है। ये निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप हैं,

सविकल्प बुद्धिरूप नहीं। फिर भी ये अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम हैं। बद्धि के विकल्प सामान्य विज्ञान रूप होते हैं, किन्तु देश-काल की प्रतीति सामान्य विकल्प के रूप में न होकर विशेष निर्विकल्प प्रत्यक्ष के रूप में होती है। देश में और विशिष्ट देश-खण्डों में अनन्त और सान्त का सम्बन्ध है, सामान्य और विशेष का सम्बन्ध नहीं। जो सम्बन्ध गोत्व जाति में और एक विशेष गौ में है, वह सम्बन्ध देशत्व में और एक देश-खण्ड में नहीं है। यदि ऐसा हो तो देश बुद्धि-विकल्प हो जायगा। इसी प्रकार काल और काल-खण्डों का सम्बन्ध समझना चाहिये। देश और काल की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है; इनको सविकल्प बुद्धि से नहीं समझाया जा सकता। इधर-उधर, यहाँ-वहाँ, पास-दूर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाँयें, अब-तब, नया-पुराना, बालक-वृद्ध आदि की प्रत्यक्ष प्रतीति ही होती है। यदि किसी व्यक्ति को यह प्रतीति न हो तो उसे किसी प्रकार के तर्क से यह प्रतीति नहीं कराई जा सकती।

देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं हैं। ये हमारे मानसिक धर्म हैं। ये प्रत्यक्षानुभूति के द्वार हैं जिनमें होकर सम्वेदन ज्ञान बनने के लिये बुद्धि-विकल्पों तक जाता है। किन्तु मानसिक धर्म होने पर भी ये किसी व्यक्ति विशेष की कल्पना नहीं हैं। इनकी सत्ता सार्वभौम और अनुभव के लिये अनिवार्य है।

देश और काल के कारण ही हमारा अनुभव सम्भव होता है। सारा अनुभव काल के द्वार में से और बाह्य जगत् का अनुभव काल और देश दोनों द्वारों में से निकलकर ज्ञान बन सकता है। प्रत्येक अनुभव, चाहे वह बाह्य-जगत् का हो चाहे मानसिक अवस्थाओं का, काल से आवृत होकर ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त बाह्य-जगत् के अनुभव को देश से भी आवृत होना पड़ता है। ये वे चश्मे हैं जिनको लगा कर ही हम वस्तुओं या घटनाओं को देख सकते हैं। हमारे व्यावहारिक विश्व का दिक्कालावच्छिन्न होना अनिवार्य है।

परमार्थ तक देश और काल की गति नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि जो कुछ भी सत् हो, वह दिक्कालावच्छिन्न है। हम केवल यही कह सकते हैं कि जिसका ज्ञान हमें हो सकता है, वह दिक्कालावच्छिन्न है। अतः परमार्थ हमारे लिये अज्ञेय है।

देश-काल की सत्ता व्यवहार के लिये वास्तविक और परमार्थ के लिये काल्पनिक है। हमें सत्य ज्ञान व्यवहार का ही हो सकता है क्योंकि इसकी सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों से आती है और उन सम्वेदनों के सम्वादी परमार्थ विद्यमान होते हैं। सम्वेदन देश-काल के द्वारों में से निकल कर और बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढल कर ज्ञान का रूप लेते हैं। अतः जहाँ सम्वेदन हैं, वहीं देश-काल की सत्ता वास्तविक है। जो पदार्थ अतीन्द्रिय हैं, जिनका सम्वेदन नहीं होता, उन परमार्थों के लिये देश-काल की कोई सत्ता नहीं। कुछ लोग देश-काल को

बाह्य पदार्थ मानते हैं और कुछ लोग केवल सम्बन्ध। दोनों ही मत गलत हैं। देश-काल हमारे मानसिक धर्म हैं, किन्तु सार्वभौम हैं और अनुभव-निरपेक्ष हैं।

देश-काल के कारण ही गणित शास्त्र की प्रतिज्ञायें संयोजक और अनुभव निरपेक्ष होती हैं। देश-काल के कारण ही उनमें सार्वभौमता और निश्चयात्मकता आती है। रेखागणित देश पर निर्भर है। अंकगणित काल पर निर्भर है। यन्त्र-गति का विज्ञान (Mechanics) देश और काल दोनों पर निर्भर है।

यह हुई देश और काल की व्याख्या। किन्तु ज्ञान बनने के लिये इन्द्रिय-सम्वेदनों का देश और काल द्वारा व्याकृत होना ही पर्याप्त नहीं है; देश और काल के द्वारों में से निकलकर सम्वेदनों का बुद्धि तक पहुँचना और बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढल कर ज्ञान के रूप में परिणत होना आवश्यक है।

अब कान्ट की बुद्धि-विकल्प-परीक्षा का विवेचन करें। यह कहा जा चुका है कि जब इन्द्रिय-सम्वेदन देश और काल के द्वारों में से होते हुये बुद्धि तक पहुँचते हैं तब बुद्धि, अपने विकल्पों द्वारा, उनको संगृहीत और सम्बद्ध करके ज्ञान का रूप देती है। हमारे ज्ञान की सार्वभौमता, असंदिग्धता, निश्चयात्मकता और अनिवार्यता बुद्धि-विकल्पों से आती है। गणित में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य क्यों होते हैं?—इस प्रश्न का उत्तर है, देश और काल के कारण। भौतिक विज्ञान और व्यावहारिक दर्शन में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य क्यों होते हैं?—इस प्रश्न का उत्तर है, बुद्धि-विकल्पों के कारण। बुद्धि-विकल्पों का कार्य अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, असम्बद्ध और निरर्थक इन्द्रिय-सम्वेदनों को संगृहीत, व्यवस्थित, सम्बद्ध और सार्थक ज्ञान के रूप में परिणत करना है। प्रकृति के सार्वभौम नियम प्रकृति में नहीं होते; ये बुद्धि की देन हैं। बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है—यह कान्ट की कॉपरनिकस-जैसी क्रान्ति है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। बुद्धि का कार्य समन्वय करना है। यह समन्वय जिनके द्वारा किया जाता है उन साधनों का नाम विकल्प या धारणा (Categories) हैं। ये वे साँचें हैं जिनमें ढल कर इन्द्रिय-सम्वेदन ज्ञान के रूप में परिणत होते हैं। जितने न्याय-वाक्य हैं उतने ही विकल्प हैं। न्याय-वाक्य बारह प्रकार के होते हैं, अतः विकल्प या धारणायें भी बारह हैं। बारह न्याय-वाक्यों को चार भागों में विभाजित करके प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन-तीन न्याय वाक्य रक्खे जाते हैं। इसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों को भी चार भागों में विभाजित करके प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन-तीन विकल्प रक्खे जाते हैं।

न्याय-वाक्यों के चार विभाग ये हैं—परिमाण-वाचक, गुणवाचक, सम्बन्ध-वाचक और प्रकार-वाचक। इन चारों विभागों के बारह भेद सोदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

(क) परिमाण-वाचक (Quantitative) :—

(१) पूर्ण व्याप्ति बोधक (Universal)—सब मनुष्य मरणशील हैं।

(२) अपूर्ण व्याप्ति बोधक (Particular)—कुछ मनुष्य विद्वान् हैं।

(३) एकात्मक (Singular)—राम बुद्धिमान् है।

(ख) गुण-वाचक (Qualitative) :—

(४) भावात्मक (Affirmative)—मनुष्य चेतन है।

(५) अभावात्मक (Negative)—पत्थर चेतन नहीं है।

(६) सीमित (Limited)—आत्मा अमर है।

(ग) सम्बन्ध-वाचक (Relational)—

(७) निरपेक्ष (Categorical)—अग्नि उष्ण है।

(८) सापेक्ष (Hypothetical)—यदि अग्नि के पास बैठोगे तो गर्मी लगेगी।

(९) वैकल्पिक (Disjunctive)—या तो विद्रोह करो, या सहन करो।

(घ) प्रकार-वाचक (Modal):—

(१०) सम्भावित (Problematic)—सम्भव है कि ईश्वर हो।

(११) प्रतिपन्न (Assertoric)—वह चतुर है।

(१२) आवश्यक (Apodictic)—प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है।

इन बारह न्याय-वाक्यों के अनुसार बारह बुद्धि-विकल्प ये हैं :—

(क) परिमाणात्मक—
(१) पूर्णता (Unity)
(२) अनेकता (Plurality)
(३) एकता (Totality)

(ख) गुणात्मक—
(४) सत्ता (Reality)
(५) अभाव (Negation)
(६) सीमा (Limitation)

(ग) सम्बन्धात्मक—
(७) द्रव्य-गुण-सम्बन्ध (Substance and Accident)
(८) कार्य-कारण-सम्बन्ध (Cause and Effect)
(९) अन्योन्य-सम्बन्ध (Reciprocity between the Active and the Passive)

(घ) प्रकारात्मक—
(१०) सम्भावना-असम्भावना (Possibility and Impossibility)
(११) भाव-अभाव (Existence and Non-existence)
(१२) अनिवार्यता-आगन्तुकता (Necessity and Contingency)

इस प्रकार बारह न्याय-वाक्यों के आधार पर बुद्धि के बारह विकल्पों की प्रतिष्ठा करने को कान्ट ने 'न्याय-वाक्यों के आधार पर बुद्धि-विकल्पों की स्थापना'

(Metaphysical Deduction of the Categories) कहा है। इस स्थापना में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, इन बारह विकल्पों में पहले के छह विकल्प 'अचल' (Mathematical) हैं और वस्तुओं के स्वभाव को बतलाते हैं; बाद के छह विकल्प 'चल' (Dynamic) हैं, द्वन्द्वात्मक हैं, और वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों को या वस्तुओं और बुद्धि के सम्बन्धों को बतलाते हैं। द्वितीय, ये बारह विकल्प चार विभागों में विभाजित हैं और प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत तीन विकल्प आते हैं। इन तीन विकल्पों में तीसरा विकल्प दूसरे और पहले विकल्प के सम्मिश्रण से बनता है। किन्तु यह (तीसरा विकल्प) दूसरे और पहले विकल्प का योगमात्र नहीं है; यह नवीन विकल्प है जो उनके समन्वय से निकलता है और इसीलिये इसकी अलग गणना की गई है। इस तृतीय विकल्प का निर्माण बुद्धि का एक स्वतन्त्र कार्य है। एकता, अनेकता और पूर्णता के समन्वय से बनती है; सीमा, अभाव और सत्ता के समन्वय से बनती है; अन्योन्यसम्बन्ध, कार्यकारणभाव और द्रव्यगुणभाव के समन्वय से उत्पन्न होता है; और अनिवार्यता, भाव और संभावना के समन्वय से निर्मित होती है। तृतीय, इन चारों विभागों में सम्बन्धात्मक विभाग सबसे प्रधान है क्योंकि बुद्धि का मुख्य कार्य सम्बन्ध उत्पन्न करना ही है। चतुर्थ, इन चार विभागों से कान्ट ने चार बातों का खण्डन किया है: परिमाण से अणुवाद का, गुण से शून्य का, कार्य-कारण-सम्बन्ध से संयोग या भाग्य का, और प्रकार से चमत्कार का खण्डन होता है। पंचम, ये बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को व्यवस्थित और नियमित करके उनको ज्ञान का रूप देते हैं। ज्ञान की सार्वभौमता और अनिवार्यता इन विकल्पों से ही आती है। सम्वेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्पों के पास नियमित करने के लिये कोई सामग्री नहीं रहती, अतः सम्वेदनों के अभाव में सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्पों का कार्य व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ तक इनकी गति नहीं है। षष्ठ, हमारे ज्ञान के सारे सम्बन्ध इन बारह विकल्पों के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिस प्रकार वर्णमाला से समस्त वाङ्मय का निर्माण होता है, उसी प्रकार इन बारह बुद्धि-विकल्पों से हमारा सारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है। ये सार्वभौम और अनुभव-निरपेक्ष हैं। ये अनुभव के जनक हैं।

अब एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि अनुभव-जन्य इन्द्रिय-सम्वेदन और अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि-विकल्प परस्पर नितान्त विलक्षण हैं, फिर इनका योग कैसे होता है? इन्द्रिय-सम्वेदन तो वेदना रूप हैं और बुद्धि-विकल्प ज्ञान रूप, फिर बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को कैसे नियमित कर सकते हैं? ये दोनों तो एक दूसरे की भाषा नहीं समझते, अतः इनके लिये किसी मध्यस्थ या दुभाषिये की आवश्यकता है। कान्ट ने इस समस्या को स्वीकार करके 'काल' को इन दोनों का मध्यस्थ माना है। काल इन दोनों के बीच की शृंखला है। काल शुद्ध सम्वे-

दन रूप भी है और सार्वभौम एवं अनुभव-निरपेक्ष भी। देश तो केवल बाह्य-जगत् के अनुभव पर लागू है, किन्तु काल बाह्य-जगत् और मानसिक-जगत् दोनों के अनुभव पर लागू है। बुद्धि-विकल्प काल के माध्यम से इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान का रूप देते हैं। हमारे अनुभव के सारे विषय काल के सार्वभौम प्रत्यक्ष (Schemata) द्वारा ही अनुभूत हो सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक बुद्धि-विकल्प की अपनी काल-प्रतीति (Schema) होती है। पूर्णता की कालप्रतीति 'सब क्षण', अनेकता की 'कुछ क्षण', एकता की 'एक क्षण', सत्ता की 'पूर्ण काल', अभाव की 'शून्य काल', सीमा की 'अपूर्ण काल'; द्रव्य की 'नित्य काल', कार्य-कारण-सम्बन्ध की 'आनन्तर्य', अन्योन्यभाव की 'सह-स्थिति'; सम्भावना की 'किसी काल में सत्ता', भाव की 'एक निश्चित काल में सत्ता', और अनिवार्यता की 'सब कालों में सत्ता' है।

इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि बुद्धि-विकल्प अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम होते हैं और इनका कार्य अव्यवस्थित, असम्बद्ध तथा निरर्थक इन्द्रिय-सम्वेदनों को व्यवस्थित, सम्बद्ध और सार्थक बना कर ज्ञान के रूप में परिणत करना है। भौतिकविज्ञान और व्यावहारिक दर्शन में संयोजक और अनुभव-निरपेक्ष वाक्य इन बुद्धि-विकल्पों के ही कारण सम्भव होते हैं। बुद्धि-विकल्प प्रकृति को नियमित करते हैं। हमारे ज्ञान में जो निश्चयात्मकता और अनिवार्यता है, वह सम्वेदनों से नहीं आ सकती; वह अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि-विकल्पों से ही आती है। भौतिकविज्ञान के सार्वभौम सत्य सिद्धान्त इस बात को सिद्ध करते हैं कि बुद्धि-विकल्प बाह्य-जगत् को नियमित करते हैं। ह्यूम ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को वस्तु-जगत् का सम्बन्ध न बता कर केवल हमारे विज्ञानों का सम्बन्ध ही बताया था। कान्ट का मत है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध वस्तु-जगत् का सम्बन्ध है। ह्यूम का यह कथन तो ठीक है कि यह सम्बन्ध इन्द्रिय-सम्वेदनों से प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु इसीलिये इस सम्बन्ध को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। परन्तु अभी तक ह्यूम का समुचित खण्डन नहीं हो पाया है। भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्तों की सत्यता के आधार पर ही कार्य-कारणभाव को वस्तु-जगत् का सिद्धान्त मानना कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। बुद्धि के विकल्प बाह्य-जगत् के नियमों की सृष्टि करते हैं, यह हम किस आधार पर और किस अधिकार से कह सकते हैं? ह्यूम के अनुसार कार्यकारण-सम्बन्ध को हमारे विज्ञानों का ही सम्बन्ध क्यों न माना जाय? इस अत्यन्त महत्वपूर्ण आक्षेप का उत्तर कान्ट ने इस प्रकार दिया है—यदि बुद्धि-विकल्प बाह्य जगत् को निर्धारित न करें, तो हमें बाह्य जगत् का कोई अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना, सार्वभौम और अनिवार्य सत्य की तो बात ही दूर है, यह बाह्य जगत् भी हमारे अनुभव का विषय तक नहीं बन सकता। केवल निश्चित और सार्वभौम

सत्यों की उपलब्धि के लिये ही बुद्धि-विकल्पों को मानना आवश्यक नहीं है, अपितु विषयता की प्रतीति के लिये भी बुद्धि-विकल्पों को मानना अत्यावश्यक है। इस बात की सिद्धि को, कि अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि-विकल्पों के बिना हमें किसी प्रकार का अनुभव नहीं हो सकता, कान्ट ने 'विषयता के आधार पर अतीन्द्रिय बुद्धि-विकल्पों की स्थापना' (Transcendental Deduction of the Categories) कहा है। इससे ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवादी पर मर्मान्तिक प्रहार हुआ है और उसे सदा के लिये समाप्त कर दिया गया है। ह्यूम का कथन था कि हमें इन्द्रिय-सम्वेदनों का ही ज्ञान होता है और ये सम्वेदन क्षणिक और पृथक्-पृथक् होते हैं तथा इनके आधार पर सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता। कान्ट का मुँहतोड़ उत्तर है कि अनुभवनिरपेक्ष और सार्वभौम बुद्धि-विकल्पों के बिना क्षणिक तथा पृथक्-पृथक् इन्द्रिय-सम्वेदन भी हमारे अनुभव के विषय नहीं बन सकते। बुद्धि-विकल्पों के बिना इस सन्देहवाद का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-सम्वेदन क्षणिक, पृथक्-पृथक्, अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, असम्बद्ध और निरर्थक हैं। स्वयं इनमें हमारे ज्ञान के विषय बनने की शक्ति नहीं है। इनको विषय बनाया जाता है। इनको संगृहीत, व्यवस्थित, सम्बद्ध और नियमित करके सार्थक ज्ञान के रूप में परिणत करने की शक्ति केवल हमारे बुद्धि-विकल्पों में है। बुद्धि-विकल्प स्वयं अनुभव-निरपेक्ष और सार्वभौम हैं। उनकी शक्ति के कारण ये सम्वेदन हमारे ज्ञान के विषय बनते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या यह शक्ति बुद्धि-विकल्पों की अपनी है या किसी और वस्तु से आती है? कान्ट का उत्तर है कि बुद्धि-विकल्प तो सम्वेदनों को ज्ञान का रूप देने के साँचे हैं, उनमें स्वयं शक्ति नहीं है। यह शक्ति विशुद्ध आत्मा से आती है। आत्मा के प्रकाश से ही बुद्धि-विकल्प जगमगाते हैं और इसी की शक्ति से वे सम्वेदनों को ज्ञान का रूप देते हैं। इस विशुद्ध आत्मा का निराकरण शक्य नहीं, क्योंकि यह स्वतःसिद्ध है और समस्त अनुभव का आधार है। स्वीकरण और निराकरण, मण्डन और खण्डन, विधि और निषेध आदि सब ज्ञान के धर्म हैं और स्वयं ज्ञान बिना आत्मा के उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः ये धर्म आत्मा पर लागू नहीं होते। यह विशुद्ध आत्मा समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। इसका निराकरण सम्भव नहीं, क्योंकि जो निराकर्ता है वही आत्म-स्वरूप है। यह विशुद्ध आत्मा व्यावहारिक 'जीवात्मा' नहीं है। व्यावहारिक जीव तो हमारे स्वसम्वेदन का विषय बनता है, किन्तु विशुद्ध आत्मा सदा ज्ञाता ही रहता है, कभी विषय नहीं बनता। ह्यूम इस विशुद्ध आत्मा को नहीं खोज सके तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि वे इस आत्मा को 'विषय' के रूप में पकड़ना चाहते थे और यह कभी विषय बन नहीं सकता। यह स्वतःसिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान में इसकी सत्ता झलकती है। इसको 'विषय' के रूप में खोजना

वैसा ही है जैसा ज्वलन्त सूर्य को दीपक के प्रकाश द्वारा देखना। इस विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं। इसी की ज्योति से और शक्ति से बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान का विषय बनाते हैं। यह विशुद्ध ज्ञाता नित्य और अनुभव-निरपेक्ष है। संग्रहण, समन्वय, सम्बन्ध, नियम, सार्वभौमता और अनिवार्यता—सब इस ज्ञाता के कारण सम्भव हैं। इस विशुद्ध ज्ञाता को कान्ट ने 'अतीन्द्रिय-समन्वयात्मक-अद्वय-विशुद्ध-अपरोक्षानुभूति' (Transcendental Synthetic Unity of Pure Apperception) का नाम दिया है। यह विशुद्ध ज्ञाता विशुद्धज्ञानस्वरूप है। यह अद्वय, पूर्ण, नित्य और अनिर्वचनीय है। यह स्वतःसिद्ध, सार्वभौम और अनिवार्य है। यह अतीन्द्रिय और अनुभव-निरपेक्ष है। यह शरीर-परिच्छिन्न जीव नहीं है। समस्त जीवों में इसी की ज्योति है। सारे जीवों के बुद्धि-विकल्प इसी की शक्ति से अनुप्राणित होते हैं। यह विशुद्ध और नित्य ज्ञाता हमारे सारे सम्वेदनों और विज्ञानों को एक सूत्र में बाँधता है। इसी के कारण हमारे अनुभवों में एकरूपता होती है। इसी के कारण प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता। इसी के कारण ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता आती है। यह हमारे सारे ज्ञान और अनुभव का एकमात्र स्रोत है। यह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की व्यावहारिक त्रिपुटी के पार है और उसका निर्विकल्प अधिष्ठान है। इसी की ज्योति और शक्ति के कारण जीव ज्ञाता और जगत् ज्ञेय बनता है। व्यावहारिक ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष हैं। 'अहं' के साथ 'अनहं' भी जुड़ा हुआ है। विषयी के साथ ही विषय की सत्ता भी है क्योंकि यदि विषय न हो तो विषयी व्यर्थ हो जाता है। ज्ञाता का ज्ञातृत्व ज्ञेय के ज्ञान के कारण ही सम्भव होता है। यदि ज्ञेय नहीं तो ज्ञाता भी नहीं। और यदि ज्ञाता नहीं तो ज्ञेय भी नहीं। इसीलिये सुषुप्ति में इस ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी का लय हो जाता है। व्यावहारिक जीव ज्ञाता है और उसके ज्ञातृत्व के लिये यह आवश्यक है कि उससे भिन्न जगत् की सत्ता हो जो उसका ज्ञेय बन सके। जीव के बुद्धि-विकल्प वस्तु-जगत् को ज्ञेय और अनुभूत बनाते हैं। बिना बुद्धि-विकल्पों के किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं। और जिस चित्-शक्ति के कारण जीव ज्ञाता तथा जगत् ज्ञेय बनता है वह विशुद्ध आत्म-रूप अपरोक्षानुभूति ही है। यह नित्य और अद्वय है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में इसी की ज्योति है। सुषुप्ति में इस ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि जीव उस समय, विषयों के अभाव में, स्वयं भी नहीं रहता। किन्तु यह ज्योति बनी रहती है, अन्यथा सुषुप्ति के पश्चात् का अनुभव सुषुप्ति के पूर्व के अनुभव से सम्बद्ध नहीं हो सकता। यह 'विशुद्ध ज्ञाता' ('I think') सारे अनुभव का आधार है और अनुभव के सामंजस्य, एकरूपता, सार्वभौमता और अनिवार्यता का कारण है। यह व्यावहारिक जीव नहीं है क्योंकि जीव स्वसम्वेदनों का 'विषय'

बनता है और, जैसा ह्यू म ने कहा है, जीव केवल क्षणिक सम्वेदनों और विज्ञानों का पुन्जमात्र है। जीव में 'विषयत्व' और 'अनित्यत्व' है। विशुद्ध ज्ञाता केवल 'विषयी' और 'नित्य' है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त देश और काल के खण्डों में पृथक्-पृथक् प्राप्त होने वाले क्षणिक, असम्बद्ध और निरर्थक सम्वेदनों को सम्बद्ध, नियमित और सार्थक ज्ञान का रूप देकर उनको एक सूत्र में पिरोने और उनको जीव के "**मेरे अनुभव**" बनाने की शक्ति विशुद्ध ज्ञाता में ही है। यह विशुद्ध ज्ञाता अनिर्वचनीय है क्योंकि जीव इसको अपने बुद्धि-विकल्पों द्वारा नहीं पकड़ सकता। बुद्धि-विकल्पों का कार्य वस्तु को 'ज्ञान का विषय' अर्थात् ज्ञेय या अनुभूत बनाना है और विशुद्ध ज्ञाता कभी 'ज्ञान का विषय' या 'ज्ञेय' नहीं बन सकता। बुद्धि-विकल्प विशुद्ध ज्ञाता की ज्योति और शक्ति से कार्य करते हैं और इसलिये इस ज्ञाता पर लागू नहीं होते। जो समस्त अनुभव का आधार है, वह स्वयं अनुभव में नहीं फँस सकता। अतः यह विशेषतः स्मरणीय है कि इस विशुद्ध ज्ञाता की 'एकता' या 'पूर्णता', बुद्धि-विकल्पों की एकता या पूर्णता नहीं है। एकता और पूर्णता नामक बुद्धि-विकल्प भी हैं, किन्तु जब इस विशुद्ध ज्ञाता के लिये 'एकता' या' पूर्णता' का प्रयोग किया जाता है तो तात्पर्य इन बुद्धि-विकल्पों से नहीं है। **'एकता' और 'पूर्णता' के बुद्धि-विकल्प, अन्य बुद्धि-विकल्पों के समान, इस विशुद्ध ज्ञाता पर निर्भर है और इसलिये इस पर लागू नहीं हो सकते।** अनिर्वचनीय का निर्वचन करने में, जो बुद्धि-गोचर नहीं है उसको जानने का प्रयत्न करने में, ऐसी शाब्दिक कठिनाइयों का आना अनिवार्य है। किन्तु वाणी और बुद्धि के पार होने पर भी यह विशुद्ध ज्ञाता शून्यवत् नहीं है क्योंकि इसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान या अनुभव में इसकी ज्योति प्रकाशित होती है और **इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव सम्भव नहीं**। विज्ञाता का बुद्धि द्वारा विज्ञान न होने पर भी, द्रष्टा का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन न होने पर भी, इस स्वतःसिद्ध विज्ञाता के विज्ञान का, इस द्रष्टा के दर्शन का लोप कदापि नहीं हो सकता।[1] दूसरी बात जो विशेषतः स्मरणीय है वह यह है कि इस विशुद्ध ज्ञाता की 'एकता' और 'पूर्णता' या 'सार्वभौम अनिवार्यता' **वस्तु-जगत् की एकता और अनिवार्यता है**, जीव की काल्पनिक एकता नहीं। जीव अपने विज्ञानों में जो एकता लाता है, वह उसकी अपनी एकता है जो जीव के मानसिक जगत् में ही रहती है। किन्तु विशुद्ध ज्ञाता की एकता और अनिवार्यता वस्तु-जगत् की एकता और अनिवार्यता है क्योंकि यह एकता और अनिवार्यता वस्तु-जगत् से प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय-सम्वेदनों में बुद्धि-

---

१. कान्ट के ये विचार वेदान्त के आत्मतत्व के विचारों से बहुत मिलते हैं। 'विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्' और 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।' 'य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।'

विकल्पों द्वारा स्थापित की जाती है। विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति लेकर बुद्धि-विकल्प प्रकृति को सम्बद्ध और नियमित करते हैं। भिन्न-भिन्न जीवों का जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता क्योंकि समस्त जीवों के बुद्धि-विकल्पों में एक ही विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति संचरित होती है। व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् दोनों की सत्ता इस विशुद्ध आत्म-तत्व पर निर्भर है।

उपर्युक्त विवेचन से कान्ट ने यह सिद्ध किया कि बुद्धि-विकल्प, विशुद्ध-ज्ञाता की शक्ति के आधार पर, इन्द्रिय-सम्वेदनों को सम्बद्ध और नियमित ज्ञान का रूप देते हैं और इसलिये यदि बुद्धि-विकल्प न हों तो कोई वस्तु हमारे ज्ञान या अनुभव का विषय नहीं बन सकती। किन्तु इस विवेचन से एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात निकलती है। वह यह कि हमारे सत्य ज्ञान के लिये इन्द्रिय-सम्वेदन नितान्त आवश्यक हैं। बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को ही ज्ञान का रूप दे सकते हैं। यदि सम्वेदन न हों, तो ज्ञान का रूप किसे दिया जायगा? सम्वेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्प शून्य और निष्क्रिय रहेंगे। जब तक इन साँचों में ढलने के लिये कोई सामग्री नहीं आयगी, ये साँचे बेकार रहेंगे। अतः कान्ट के अनुसार हमारा सारा ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों के व्यवहार तक ही सीमित है। अतीन्द्रिय परमार्थ हमारे लिये अज्ञेय है। यह हमारे ज्ञान की सीमा है। इसे कान्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism) कहते हैं।

अब कान्ट के व्यवहार और परमार्थ के भेद पर भी कुछ अधिक विचार कर लेना चाहिये। ज्ञान बनने के लिये इन्द्रिय-सम्वेदनों को देश-काल के द्वारों में से निकलकर बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलना पड़ता है। अतः ज्ञान की सामग्री के लिये सम्वेदनों का होना अनिवार्य है। ज्ञान का सत्यत्व सम्वेदनों से आता है क्योंकि सम्वेदन परमार्थों द्वारा उत्थापित होते हैं। सम्वेदन-जन्य ज्ञान के वास्तविक मूलरूप परमार्थ वस्तु-जगत् में विद्यमान होते हैं। किन्तु सम्वेदनों में सार्वभौमता और अनिवार्य निश्चय नहीं हो सकता है। यह बुद्धि-विकल्पों से आता है। अतः हमारा ज्ञान सत्य और सार्वभौम होता है––इन्द्रिय-सम्वेदनों के कारण सत्य और बुद्धि-विकल्पों के कारण सार्वभौम। गणित में सत्यता और सार्वभौमता देश-काल के कारण आती है। भौतिक विज्ञानों में सत्यता और सार्वभौमता बुद्धि-विकल्पों के कारण आती है। ज्ञान या अनुभव बिना बुद्धि-विकल्पों के नहीं हो सकता। बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-सम्वेदनों को सम्बद्ध करके उन्हें ज्ञान का विषय बनाते हैं। अतः हमारा ज्ञान देश और काल की सीमा से परिच्छिन्न और हमारे बुद्धि-विकल्पों से निर्मित होता है। हम वास्तविक पदार्थों को, परमार्थों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देख सकते क्योंकि ये पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। हम इनके द्वारा उत्थापित सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करके उन्हें ही देख सकते हैं। हमारा जगत् हमारे देश-काल की सीमा से परिच्छिन्न और हमारे बुद्धि-विकल्पों से निर्मित

जगत् है। यह वस्तु-जगत् नहीं है। अतः कान्ट व्यवहार और परमार्थ में स्पष्ट भेद करते हैं। हम व्यवहार को ही जान सकते हैं, परमार्थ को नहीं। व्यवहार का ज्ञान सत्य और निश्चित होता है क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रिय-सम्वेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करके बनाया गया है और इस ज्ञान के सम्वादी पारमार्थिक पदार्थ वस्तु-जगत् में विद्यमान हैं। परमार्थ अतीन्द्रिय है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उसका कोई सम्वेदन नहीं होता। सम्वेदन के अभाव में ज्ञान के लिये कोई सामग्री नहीं प्रस्तुत होती। सम्वेदन के अभाव में बुद्धि-विकल्प भी परमार्थों पर लागू नहीं होते। सम्वेदन के अभाव में देश-काल भी परमार्थों को परिच्छिन्न नहीं कर सकते। बुद्धि-विकल्प अपनी शक्ति विशुद्ध ज्ञाता से लेते हैं। किन्तु ज्ञान की सामग्री के अभाव में बुद्धि-विकल्प सक्रिय नहीं हो सकते और विशुद्ध ज्ञाता से शक्ति लेने का प्रश्न भी नहीं उठता। अतः यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय-सम्वेदनों के अभाव के कारण अतीन्द्रिय परमार्थों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता।

यहाँ एक समस्या है। यदि परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय है, तो हम यह भी नहीं जान सकते कि वह अज्ञेय है। अज्ञेयवाद भी, सन्देहवाद के समान, आत्मघाती है। यदि परमार्थ तक बुद्धि-विकल्पों की गति नहीं, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ **वस्तुतः है** और **अज्ञेय है**? इस प्रकार के कथन से हम परमार्थ को कम-से-कम 'सत्ता' और 'ज्ञान' के विकल्पों में तो जकड़ रहे हैं। परमार्थ के विषय में हमारा कम-से-कम इतना तो **निश्चित ज्ञान** है कि परमार्थ की सत्ता है और वह अज्ञेय है। फिर वह अज्ञेय कैसे हुआ? क्या यह वदतोव्याघात नहीं है? कान्ट इस विकट प्रश्न का उत्तर निर्भीक होकर इस प्रकार देते हैं:—हम किसी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं, एक तो विधि रूप से और दूसरे निषेधरूप से। हमारा सत्य ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष सदा विधायक होता है, निषेधक नहीं। अतः सत्य ज्ञान भी सदा विधिरूप ही होता है, निषेधरूप नहीं। यह सत्य है कि निषेध सदा विधान की अपेक्षा रखता है और उसी पर निर्भर रहता है; किन्तु निषेध स्वयं ज्ञानरूप या सर्वथा अज्ञानरूप नहीं होता। निषेध वस्तुतः ज्ञान की सीमा है। निषेध सर्वथा अज्ञानरूप नहीं होता, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस वस्तु के ज्ञान का निषेध किया जाता है वह सर्वथा अज्ञेय नहीं है। यदि वह सर्वथा अज्ञेय हो, तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता। निषेध का अर्थ इतना ही है कि हमारे ज्ञान की सीमा उस वस्तु तक जाकर समाप्त हो जाती है। ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान होता है और इसमें कोई विरोध नहीं। जिस प्रकार निषेध सर्वथा अज्ञानरूप नहीं है, उसी प्रकार निषेध वस्तुतः ज्ञानरूप भी नहीं है। है तो वह अज्ञान ही क्योंकि ज्ञान सदा विधिरूप होता है। यदि कोई कहे—"मैं अमुक वस्तु को निषेधरूप से जानता हूँ", तो इस वाक्य का अर्थ केवल यही है—"मैं

अमुक वस्तु को नहीं जानता।" निषेधरूपज्ञान और अज्ञान दोनों एक हैं क्योंकि दोनों में विधान का अभाव है। फिर भी, निषेधरूपज्ञान सर्वथा अज्ञान नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इस प्रकार विधि और निषेध का प्रतिपादन करके कान्ट यह बताते हैं कि परमार्थ को भी हम इन दो रूपों में देख सकते हैं। **परमार्थ का विधिरूप ज्ञान असम्भव है** क्योंकि विधिरूप ज्ञान सदा इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प इन दोनों पर निर्भर रहता है और इन दोनों की गति परमार्थ तक नहीं है। **किन्तु परमार्थ का निषेधरूपज्ञान सम्भव ही नहीं, अपरिहार्य भी है** क्योंकि यह निषेधरूपज्ञान हमारे ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान की गति परमार्थ तक नहीं। यह 'नेति नेति' वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ की सीमा है। यह 'नेति नेति' न तो परमार्थ का निषेध करती है और न व्यवहार का अतिक्रमण। अनिर्वचनीय परमार्थ का सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति नेति' है। इससे परमार्थ के विषय में किये जानेवाले निर्वचनों का निषेध होता है, स्वयं परमार्थ का निषेध नहीं होता। परमार्थ का निषेधरूपज्ञान केवल ज्ञान की सीमा का ज्ञान है, यह वस्तुतः परमार्थ का ज्ञान नहीं है। अतः परमार्थ को अनिर्वचनीय और बुद्धि द्वारा अगम्य कहने में किसी प्रकार का विरोध या वदतोव्याघात नहीं हो सकता क्योंकि कोई शक्ति ज्ञान को अपनी सीमा का ज्ञान करने से नहीं रोक सकती।

परमार्थ को अनिर्वचनीय और अज्ञेय मान लेने पर भी कान्ट के सम्मुख एक जटिल समस्या और रह जाती है। वह यह है—यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो क्या व्यवहार निरा भ्रम या कोरी कल्पना नहीं है? यदि हमारे ज्ञान के एकमात्र विषय हमारे इन्द्रिय-सम्वेदन ही हैं तो दृष्टिसृष्टिवाद से और सर्वाहंवाद से रक्षा किस प्रकार हो सकती है? हम देख चुके हैं कि बर्कले के सामने भी यही समस्या थी और उन्होंने अपनी रक्षा ईश्वर की शरण लेकर की। बर्कले के अनुसार हमारे सम्वेदन ईश्वर के विज्ञान हैं। हम जगत् का निर्माण नहीं करते। इसीलिये भिन्न-भिन्न जीव एक ही जगत् का अनुभव करते हैं। इस प्रकार बर्कले ने अपनी रक्षा दृष्टिसृष्टिवाद और सर्वाहंवाद से कर ली। किन्तु कान्ट के सम्मुख तो अभी तक ईश्वर का प्रश्न नहीं उठा है। फिर कान्ट अपनी रक्षा इन दो ग्रहों से किस प्रकार करते हैं? ह्यूम के अज्ञेयवाद को अंशतः अपनाकर भी कान्ट इन ग्रहों से किस प्रकार बच सकते हैं? कान्ट ने इनसे बचने के लिये विशुद्ध ज्ञाता की शरण ली। बुद्धि-विकल्पों में ज्योति और शक्ति विशुद्ध ज्ञाता से आती है। विशुद्ध ज्ञाता हमारे समस्त ज्ञान और अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान है। विभिन्न जीवों में इसी का प्रकाश और इसी की शक्ति है। अतः विभिन्न जीवों का व्यावहारिक जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता और न विभिन्न जीव अपने व्यावहारिक जगत् की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार कान्ट दृष्टि-सृष्टिवाद और सर्वाहंवाद से अपनी रक्षा

कर लेते हैं। किन्तु अभी एक प्रश्न और रह जाता है। यह हम कैसे जान सकते हैं कि हमारे इन्द्रिय-सम्वेदन वास्तविक और अज्ञेय बाह्य पदार्थों से उत्थापित होते हैं? क्या कान्ट का यह 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' लॉक के 'अज्ञेय बाह्य पदार्थ' का, जिसे बर्कले ने 'बुद्धि-शून्य जड' कहकर उपहासास्पद और असंभव सिद्ध किया था, परिवर्धित और संशोधित संस्करण नहीं है? जब परमार्थों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारे सम्वेदनों के मूल-रूप परमार्थ वस्तु-जगत् में विद्यमान हैं? बिम्ब के ज्ञान के अभाव में प्रतिबिम्ब को भी प्रतिबिम्ब कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न का कान्ट ने कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दिया। इन्द्रियों का सम्वेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उप-स्थित करना, देश-काल के द्वार से इस सामग्री का निकलना और बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर सार्वभौम और निश्चित ज्ञान का रूप लेना, बुद्धि-विकल्पों की शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता का स्वतःसिद्ध, अनिर्वचनीय, अद्वय अपरोक्षानुभूति रूप होना और समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधि-ष्ठान बनना, जीवों और बाह्यजगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता होना, इन्द्रिय-सम्वेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय तथा अवाङमनोगोचर परमार्थ तक गति न होना आदि सिद्धान्त तो सत्य हैं, किन्तु सम्वेदनों को प्रसूत करने वाले अनेक अज्ञेय जड बाह्य परमार्थों की कल्पना करना, विशुद्ध ज्ञान को भी सम्वेदन-सापेक्ष मानना, सम्वेदनों के अभाव में विशुद्ध ज्ञाता को भी बेकार कर देना, विशुद्ध ज्ञाता का अज्ञेय बाह्य परमार्थों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न करना, व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को पारमार्थिक बना देना आदि दोष कान्ट के मत में रह गये हैं, जिनका कान्ट कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाये। इस विषय में कान्ट का एक मात्र उत्तर यही है कि सम्वेदनों को प्रसूत करने वाले पारमार्थिक अर्थों की सत्ता तो अवश्य है, किन्तु वे अज्ञेय हैं और उनके विषय में कुछ भी अधिक कहना व्यर्थ है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि कान्ट उपर्युक्त दोषों का समु-चित निराकरण नहीं कर सके, तथापि दृष्टिसृष्टिवाद और सर्वाहंवाद के दोषों से तो वे पूर्णतया बच गये हैं। यद्यपि हमारे बुद्धि-विकल्प प्रकृति का निर्माण करते हैं, तथापि इस कार्य के लिये वे इन्द्रिय-सम्वेदनों पर निर्भर रहते हैं और ये सम्वेदन अज्ञेय परमार्थों द्वारा उत्थापित किये जाते हैं। अतः जगत् न तो हमारी कल्पना है और न विभिन्न जीवों के जगत् भिन्न-भिन्न हैं। व्यावहारिक ज्ञान में सत्यत्व, सार्वभौम निश्चय एवं अनिवार्यता होती है। बुद्धि-विकल्पों के नियम वस्तु-जगत् में लागू होते हैं। व्यवहार हमारी भ्रान्ति नहीं है। यह सत्य है कि व्यव-हार परमार्थों का ज्ञान नहीं है और वह देश-काल तथा बुद्धि-विकल्पों द्वारा निरू-पित होता है, तथापि इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-सम्वेदनों द्वारा प्रस्तुत की जाती

है और ये इन्द्रिय-सम्वेदन, परमार्थों द्वारा उत्थापित होने के कारण, सत्य हैं। यदि यह स्वप्न भी हो तो समष्टि का स्वप्न है और इसलिये यथार्थ है। जिस स्वप्न को सब लोग उसी रूप में देखते हैं, वह स्वप्न नहीं है। कान्ट ने व्यवहार के भी दो भेद कर दिये हैं—एक तो समष्टिव्यवहार या प्रकृति, और दूसरा, व्यष्टिव्यवहार। समष्टि-व्यवहार (Phenomena) प्रकृति है जिसमें हमारे ज्ञान का विषय बनने की योग्यता है। यह बुद्धि-विकल्पों द्वारा नियमित और सम्बद्ध सामूहिक सम्वेदन-पुंज है। इसकी स्थिति देश-काल में है और इसके सार्वभौम तथा अनिवार्य नियम हैं। व्यक्ति विशेष द्वारा अनभूत न होने पर भी प्रकृति की सत्ता वैसी ही बनी रहती है। व्यक्ति के अनुभव के पूर्व और पश्चात् भी यह प्रकृति अपने नित्य रूप में बनी रहती है। व्यष्टि-व्यवहार (Our Representations of Phenomena) वह है जो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अनुभूत होता है। इस प्रकार कान्ट ने परमार्थ, समष्टिव्यवहार और व्यष्टि-व्यवहार—ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। उदाहरणार्थ, परमार्थों में कोई गति नहीं है, केवल गति उत्पन्न करने की शक्ति है; समष्टि-व्यवहार में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है; व्यष्टि-व्यवहार में सूर्य पूर्व में उदित होता है और पश्चिम दिशा में जाकर अस्त होता है। कभी-कभी कान्ट परमार्थ और व्यवहार ये दो ही भेद मानते प्रतीत होते हैं। तब समष्टि-व्यवहार व्यष्टि-व्यवहार के अन्तर्गत मान लिया जाता है।

अब हम कान्ट की 'सम्वेदन-परीक्षा' और 'बुद्धि-विकल्प-परीक्षा' के बाद उनकी 'प्र ा-परीक्षा' का निरूपण करते हैं। इसका विवेचन किया जा चुका है कि कान्ट के अनुसार हमें केवल व्यवहार का ही सत्य और निश्चित ज्ञान होता है, परमार्थ का नहीं। ज्ञान के लिये इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों आवश्यक हैं। गणितशास्त्र में देश-काल के कारण और भौतिक-विज्ञानों तथा व्यावहारिक दर्शन-शास्त्र में बुद्धि-विकल्पों के कारण सत्य एवं निश्चित ज्ञान सम्भव है क्योंकि यहाँ तक इन्द्रिय-संवेदनों की पहुँच है। व्यावहारिक दर्शनशास्त्र से कान्ट का तात्पर्य ज्ञान-मीमांसा से है। दर्शन का मुख्य कार्य ज्ञान-मीमांसा अर्थात् हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा का निर्धारण करना है। इस कार्य में दर्शन सफल होता है। दर्शनशास्त्र का पारमार्थिक पक्ष है तत्व-मीमांसा अर्थात् ईश्वर, जीव और जगत् का विवेचन। अब प्रश्न यह है कि क्या तत्व-मीमांसा में भी सत्य और निश्चित ज्ञान संभव है? कान्ट का स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। दर्शनशास्त्र के ये तत्व अतीन्द्रिय हैं। अतीन्द्रिय होने के कारण इन्द्रिय-संवेदनों की पहुँच इन तत्वों तक नहीं है। इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में बुद्धि-विकल्पों को एकीकरण और समन्वय के लिये कोई सामग्री नहीं मिलती। अतः बुद्धि-विकल्पों की गति भी इन तत्वों तक नहीं है। जब इन्द्रिय-संवेदन ही प्रस्तुत नहीं होते तो बुद्धि-विकल्प ज्ञान

का रूप किस वस्तु को दें? अतः इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प के अभाव में इन तत्वों का हमें कोई सत्य और निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। फलतः तत्व-मीमांसा के अर्थ में दर्शनशास्त्र अप्रामाणिक है। अब प्रश्न यह है कि यदि ऐसा है तो फिर तत्व-मीमांसा की ओर हमारी प्रवृत्ति ही क्यों होती है और इसका प्रयोजन ही क्या है?

कान्ट का उत्तर है कि यह एक रहस्य है। मानव के भीतर एक अनन्त जिज्ञासा है; इन्द्रियानुभूति और बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करने की एक प्रबल व्याकुलता है; सीमित से असीम की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, अनित्य से नित्य की ओर, परिचित से अपरिचित की ओर जाने की एक उत्कट इच्छा है। इन्द्रियानुभव और बुद्धि-विकल्पों के बन्धनों को तोड़ फेंकने की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति या जिज्ञासा के कारण ही तत्व-मीमांसा की ओर मानव अग्रसर होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। किन्तु फिर भी सत्य यही है कि इन अतीन्द्रिय तत्वों का हमें कोई सत्य और निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तत्व-मीमांसा, इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्पों के अभाव के कारण, सत्य एवं निश्चित ज्ञान नहीं दे सकती; तत्व-मीमांसा का सारा ज्ञान सम्भावना मात्र है।

कान्ट ने 'बुद्धि' (Understanding) और 'प्रज्ञा' (Reason) में महत्वपूर्ण भेद किया है। बुद्धि अपने विकल्पों के द्वारा संवेदनों का एकीकरण करके उनको ज्ञान का रूप देती है। हमारे व्यावहारिक ज्ञान में सार्वभौम निश्चय और अनिवार्यता बुद्धि के कारण ही आती है। बुद्धि प्रकृति को नियमित करके उसे हमारे ज्ञान का विषय बनाती है। बुद्धि का कार्य इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत संवेदन-सामग्री को ज्ञान के रूप में परिणत करना है। बुद्धि के अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं। बुद्धि जिन वस्तुओं का ज्ञान करती है, उनके मूल रूप वस्तु-जगत् में विद्यमान होते हैं। बुद्धि के नियम वस्तु-जगत् पर लागू होते हैं, वे प्रकृति का निर्माण करते हैं, अतः वे 'उपादानरूप नियम' (Constitutive Principles) हैं। 'प्रज्ञा' का कार्य भी एकीकरण और समन्वय है। प्रज्ञा बुद्धि के ऊपर है। बुद्धि इन्द्रिय-संवेदनों को नियमित करके उन्हें अनुभव का रूप देती है; प्रज्ञा बुद्धि के विभिन्न अनुभवों का एकीकरण करके उनको नियमित करती है। प्रज्ञा का इन्द्रिय-संवेदनों से कोई सम्पर्क नहीं। प्रज्ञा का क्षेत्र बुद्धि है। अतः प्रज्ञा के अनुमान परोक्ष होते हैं अर्थात् बुद्धि के अनुमानों के समान प्रज्ञा के अनुमान प्रत्यक्ष-मूलक नहीं होते। बुद्धि जिन नियमों के आधार पर संवेदनों का समन्वय करती है, प्रज्ञा उन नियमों का समन्वय करती है। प्रज्ञा के सिद्धान्त वस्तु-जगत् पर लागू नहीं होते, क्योंकि प्रज्ञा का इन्द्रिय-संवेदनों से कोई सम्पर्क नहीं। प्रज्ञा से जिनका ज्ञान होता है उनके सम्वादी मूलरूप वस्तु-जगत् में नहीं होते, अतः यह ज्ञान

'यथार्थ' नहीं होता। प्रज्ञा के नियम केवल 'नियामक' (Regulative Principles) हैं, बुद्धि-नियमों के समान 'उपादानरूप' नहीं। तत्व-मीमांसा के अतीन्द्रिय तत्वों का ज्ञान हमें प्रज्ञा के द्वारा होता है, बुद्धि के द्वारा नहीं। प्रज्ञा से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञान 'यथार्थ' या सत्य नहीं हो सकता। प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व, प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकते। इन तत्वों का कोई इन्द्रिय-संवेदन नहीं होता, अतः इनके मूलरूप परमार्थ वस्तु-जगत् में हैं या नहीं––यह नहीं कहा जा सकता। इन्द्रिय-संवेदन के अभाव में और बुद्धि-विकल्पों के अभाव में, प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्वों को सत्य और निश्चित नहीं कह सकते। ये सम्भावना मात्र हैं। ये हमारी प्रज्ञा की कल्पना मात्र हैं। इनका हमें कभी प्रत्यक्ष-निष्ठ ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रिय-गोचर और बुद्धि-गम्य नहीं होने से इन तत्वों के सत्यत्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता और न इनको बुद्धि से सिद्ध किया जा सकता। बुद्धि के विकल्प इन पर लागू नहीं होते; और जब प्रज्ञा बलात् बुद्धि को अपने विकल्पों को इन तत्वों पर फेंकने के लिए बाध्य करती है, तो बुद्धि-विकल्प इन तत्वों से टकराकर वापस चले आते हैं। फलतः द्वन्द्वों की सृष्टि होती है अर्थात् प्रज्ञा द्वारा इनके विषय में परस्पर-विरोधी पक्ष और विपक्ष की कल्पना की जाती है और दोनों में तुल्य बल होने से किसी की भी स्थापना नहीं हो सकती। इस प्रकार कान्ट के अनुसार हमारा ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों में उदय होकर देश-काल के द्वारों से बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचता है और अन्त में प्रज्ञा में जाकर समाप्त हो जाता है। प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व हमारी कल्पना मात्र हैं और इनके आधार पर तत्व-मीमांसा की, सत्य एवं निश्चित ज्ञान के रूप में, कभी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

प्रज्ञा के जगत्, जीव और ईश्वररूपी तत्व-त्रय के आधार पर तीन शास्त्रों की स्थापना की गई है। जगत् की विराट् प्रकृति के रूप में सत्ता सिद्ध करने के लिये 'सृष्टि विज्ञान' (Rational Cosmology) की स्थापना; जीवात्मा को अमर चेतन तत्व सिद्ध करने के लिये 'आत्म-निष्ठ मनोविज्ञान' (Rational Psychology) की स्थापना; और ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये 'धर्मशास्त्र' (Rational Theology) की स्थापना मानव-मस्तिष्क ने की है। किन्तु जगत्, जीव और ईश्वर, ये तीनों प्रज्ञा के काल्पनिक विज्ञान मात्र हैं; इनको वस्तु-सत् के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ये इन्द्रिय-गोचर और बुद्धि-गम्य नहीं हैं। अतः इनके सम्बन्ध में द्वन्द्वात्मक तर्क (Dialectic) की सृष्टि होती है, जो वस्तुतः भ्रान्तिमात्र (Logic of the False Show) है। ये तत्व वस्तुतः अव्याकृत (Unknowable) हैं और इनको व्याकृत करने की चेष्टा में परस्पर-विरुद्ध पक्ष-विपक्ष की सृष्टि होती है और दोनों के तुल्य-बल होने के कारण किसी प्रकार का निर्णय नहीं हो सकता। ये तीनों शास्त्र विरोधों के

दलदल में, बुरी तरह फँसे हैं। सृष्टि-विज्ञान के विरोधों को कान्ट ने (Antinomies) आत्म-निष्ठ-मनो-विज्ञान के विरोधों को (Paralogisms) और धर्मशास्त्र के विरोधों को (Contradictions) के नाम दिये हैं। तीनों का अर्थ एक ही है अर्थात् परस्पर-विरोधी तर्क।

पहले सृष्टि-विज्ञान के विरोधों पर विचार करें। सृष्टि की, प्रकृति या विराट् समष्टि के एक समन्वयात्मक रूप में कल्पना करना प्रज्ञा के लिये स्वाभाविक है, किन्तु है वह कल्पनामात्र। जब इस कल्पना को एक सत्य वस्तु मान लिया जाता है तब विरोधों का जन्म होने लगता है। यह समस्या प्रज्ञा के लिए एक स्वाभाविक समस्या है, किन्तु इसका समाधान करने में वह असमर्थ है। सृष्टि-विज्ञान में कान्ट ने चार विरोध बताये हैं। प्रत्येक विरोध के अन्तर्गत दो कल्पनायें आती हैं, जिनमें एक पक्ष है और दूसरा प्रतिपक्ष और ये दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। बुद्धि की गति इन कल्पनाओं तक नहीं है; वह इनको न तो सिद्ध कर सकती है और न असिद्ध। किन्तु प्रज्ञा इन दोनों कल्पनाओं को या तो सिद्ध कर सकती है या असिद्ध। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के तर्क तुल्य-बल हैं। इनमें से किसी को भी स्वीकार करना विरोध को आमन्त्रित करना है। सृष्टि-विज्ञान के चार विरोध निम्नलिखित हैं:—

(१) **प्रथम विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि, देश और काल में, सादि और सान्त है अर्थात् सृष्टि का आरम्भ काल में हुआ है और वह देश से परिच्छिन्न है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि, देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है, वह अनादि और अनन्त है।

(२) **द्वितीय विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि के परम तत्व अविभाज्य परमाणु हैं।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि अविभाज्य परमाणुओं से नहीं बनी है।

(३) **तृतीय विरोध :—**

(क) पक्षः सृष्टि का विकास स्वतन्त्र-संकल्प वाले जीवों के सोद्देश्य विकास के लिए है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि यान्त्रिक कार्यकारणभाव से बँधी है।

(४) **चतुर्थ विरोध :—**

(क) पक्ष : सृष्टि का कारण कोई निरपेक्ष तत्व है।

(ख) प्रतिपक्ष : सृष्टि का कोई ऐसा कारण नहीं है।[१]

---

१. इस प्रकार के चौदह अव्याकृत प्रश्न बौद्ध दर्शन में भी हैं।

इन चार विरोधों में प्रथम और द्वितीय विरोध के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों असिद्ध किये जा सकते हैं और तृतीय तथा चतुर्थ विरोध के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों सिद्ध किये जा सकते हैं। तृतीय और चतुर्थ विरोधों के पक्ष नैतिक और धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। सृष्टि स्वतन्त्र संकल्पवाले जीवों के सोद्देश्य विकास के लिये है और सृष्टि का मूल कारण परमात्मा है--ये सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक दृष्टिवाले दर्शनों को मान्य हैं। बिना संकल्प-स्वातन्त्र्य के कर्मवाद और नैतिकता, एवं बिना परमात्मा के धर्म सम्भव नहीं है। किन्तु भौतिक विज्ञानों का झुकाव इनके प्रतिपक्षों की ओर है। वे सृष्टि में यान्त्रिक कार्यकारणभाव मानते ह और किसी परमतत्व को स्रष्टा के रूप में स्वीकार नहीं करते। सम्भव है कि बाह्य प्रकृति में यान्त्रिक कार्यकारणभाव का साम्राज्य हो और इसका कोई स्रष्टा न हो; सम्भव है कि नैतिक जीवन में आत्मा की स्वतन्त्र संकल्पशक्ति हो और धर्म में परमात्मा की सत्ता हो। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से तो पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों ही हमारी प्रज्ञा की कल्पनामात्र हैं। इनके लिये लड़ना व्यर्थ है। कान्ट ने कहा है--"पक्ष और प्रतिपक्ष के इस युद्ध-क्षेत्र में विजय उसकी होती है जो आक्रमण करता है और उसको पीछे हटना पड़ता है जो रक्षार्थ लड़ता है।... इस युद्ध में एक दूसरे को घायल करने की अपेक्षा ये दल एक दूसरे को थकाते अधिक हैं। जब दोनों दल थककर चूर हो जावेंगे तो इनको पता चलेगा कि ये व्यर्थ लड़ रहे थे और तब ये आपस में मित्र बनकर अलग हो जावेंगे।"

अब आत्म-निष्ठ-मनोविज्ञान के विरोधों पर दृष्टिपात करना चाहिये। (प्राचीन) मनोविज्ञान आत्मा को एक अमर, नित्य और चेतन द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु इसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। जो स्वसंवेदन का विषय बनता है, वह शुद्ध आत्मा नहीं है। वह तो व्यावहारिक जीव है जो हमारे संवेदनों और विज्ञानों का पुञ्जमात्र है। यह सत्य है कि विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता। किन्तु इस ज्ञाता को 'द्रव्य' (Substance) के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। यह विशुद्ध ज्ञाता केवल विषयी (Subject) है; यह कदापि विषय नहीं बन सकता। यह अद्वय, अतीन्द्रिय, विशुद्ध अपरोक्षानुभूतिरूप है। इसका न तो इन्द्रिय-संवेदन से प्रत्यक्ष हो सकता है और न बुद्धि-विकल्पों से ज्ञान। बुद्धि-विकल्प स्वयं इस पर निर्भर हैं, अतः वे इस पर लागू नहीं होते। इस पर 'एकता', 'द्रव्य', आदि के विकल्प थोपना उचित नहीं। अतः मनोविज्ञान अपने कल्पित जीव को अमर और चेतन द्रव्य मानकर विरोधों में फँस रहा है।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र के भी विरोध हैं। विद्वानों ने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण दिये हैं, किन्तु ईश्वर भी हमारी प्रज्ञा की ही कल्पना है। वस्तुतः ईश्वर की सत्ता प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। कान्ट ने

ईश्वर की सिद्धि के प्रमाणों को तीन प्रकार का माना है। प्रथम है, प्रयोजन-मूलक तर्क, जिसके अनुसार सृष्टि एक निश्चित प्रयोजन या लक्ष्य को ध्यान में रखकर बनाई गई है और वह प्रयोजन चेतन सत्ता द्वारा ही संभव है, अतः ईश्वर है। सृष्टि में समन्वय और वैश्वरूप्य है। एक साधारण घड़ी बनाने के लिये भी चेतन घड़ीसाज़ की आवश्यकता होती है। ईंट, चूना, पत्थर, आदि स्वयं मकान के रूप में परिणत नहीं हो सकते; मकान बनाने के लिये भी कुशल चेतन कारीगरों की आवश्यकता होती है। तब इस विशाल सृष्टि के निर्माण के लिये, जिसमें आश्चर्य-जनक समन्वय और प्रयोजन निहित है, एक चेतन परमात्मा की सत्ता अनिवार्य है। कान्ट ने इस तर्क का खण्डन करते हुये कहा है कि यह तर्क अधिक-से-अधिक सृष्टि के एक निमित्तकारण को सिद्ध कर सकता है, स्रष्टा ईश्वर को नहीं। इससे अधिक-से-अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि सृष्टि में एक निश्चित उद्देश्य या प्रयोजन है जो किसी चेतन सत्ता से आया है। इससे जगत् के उपादान कारण की या सृष्टि-कर्ता ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। द्वितीय तर्क है कार्य-कारण-भाव-मूलक, जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि यह सृष्टि कार्य है, सीमित है, सान्त है, परिणामी है और इसलिए इसके असीम, अनन्त और अपरिणामी कारण की आवश्यकता है, जो ईश्वर हैं। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। यह सृष्टि भी कार्य है, अतः इसका भी कारण होना चाहिये। और अनवस्था दोष को दूर रखने के लिये इस कारण को स्वयंभू मानना चाहिए। हम सान्त से अनन्त की ओर, सीमित से असीम की ओर, और कार्य से कारण की ओर जाते ही हैं। यह स्वयंभू कारण अनादि और अनन्त ईश्वर के अतिरिक्त और नहीं हो सकता। कान्ट ने इस तर्क का खण्डन करते हुये कहा है कि कार्य-कारण-भाव तो हमारे व्यावहारिक जगत् का सम्बन्ध है, यह हमारी बुद्धि का एक विकल्प है; इस बुद्धि-विकल्प को परमार्थ पर लागू करना उचित नहीं। इस तर्क से अधिक-से-अधिक यही सिद्ध हो सकता है कि सृष्टि का कोई कारण है; यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वह कारण ईश्वर ही है। तृतीय तर्क है सत्तामूलक, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर की पूर्णता के विचारमात्र से ही उनकी सत्ता भी सिद्ध हो जाती है क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो वे अपूर्ण होते और 'अपूर्ण ईश्वर', यह विरोध है। इस तर्क का प्रयोग पहले सन्त एन्सेलम ने किया था और देकार्त ने भी इसे अपनाया था। एन्सेलम के समकालीन गौनिलो ने ही इसका खण्डन कर दिया था कि इससे ईश्वर की **सत्ता** सिद्ध नहीं होती, केवल ईश्वर की **सत्ता का विचार** सिद्ध होता है। हमें 'पूर्ण ईश्वर' का विचार होता है और इस विचार से यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसकी सत्ता भी होनी चाहिये; इससे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। कान्ट ने भी गौनिलो के खण्डन को स्वीकार किया है। ईश्वर की पूर्णता के विचार से केवल ईश्वर की सत्ता का विचार सिद्ध होता है,

उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि कोई विचार करे कि उसके पास सौ रुपये हैं, तो इस विचारमात्र से उसकी जेब में सौ रुपये नहीं आ जाते। यदि किसी के पास सौ रुपये हों और वह हिसाब में एक शून्य और बढ़ाकर सौ के स्थान पर हज़ार बना दे, तो उससे वास्तविक सम्पत्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार कान्ट ने यह सिद्ध किया कि तर्कों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

ईश्वर, जीव और जगत्—ये हमारी प्रज्ञा की कल्पनामात्र हैं, इनको वस्तु-सत् के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमारा सत्य और निश्चित ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है। ये अतीन्द्रिय हैं, अतः इन्द्रियगोचर और बुद्धि-गम्य नहीं। इस प्रकार कान्ट ने दार्शनिक रीति से यह सिद्ध किया तत्व-मीमांसा के अर्थ में दर्शन-शास्त्र असम्भव है। किन्तु साथ ही साथ कान्ट ने साग्रह यह भी कहा कि यदि प्रज्ञा इन तत्वों को **सिद्ध** नहीं कर सकती तो वह इन्हें **असिद्ध** भी नहीं कर सकती। ईश्वर, संकल्प-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता आदि सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक जीवन के आधार-स्तम्भ हैं। किन्तु ये श्रद्धा या विश्वास के विषय हैं, तर्क या बुद्धि के नहीं। प्रज्ञा इनको सिद्ध नहीं कर सकती। कान्ट का स्वयं इन पर विश्वास था और उनका जीवन पूर्ण नैतिक एवं धार्मिक था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' को समाप्त करते हुए कान्ट ने यह लिखा है—"श्रद्धा को अवकाश देने के लिये मुझे प्रज्ञा को समाप्त करना पड़ा।" जिसे बुद्धि सिद्ध नहीं कर सकती, उसे श्रद्धा सिद्ध करती है। जिसका प्रतिपादन 'शुद्ध ज्ञान' नहीं कर सका, उसकी प्रतिष्ठा 'आचार-मूलक ज्ञान' ने की है।

कान्ट ने अपने दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' में ईश्वर, जीव और जगत्, तीनों तत्वों को, श्रद्धा के कारण, स्थापित किया है। मनुष्य अपनी संकल्पशक्ति में स्वतन्त्र है और इसीलिये कर्म करने और शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। जैसा कर्म करेगा, वैसा ही फल भोगेगा। कान्ट का नैतिक नियम है 'कर्तव्य समझकर ही निष्काम भाव से कार्य करना'। यह नियम गीता के 'निष्काम-कर्मयोग' से बहुत कुछ मिलता है। नैतिक नियम का आदेश अनिवार्य आदेश (Categorical Imperative) है, प्रभु-सम्मत आदेश है, जिसका अतिक्रमण कोई मनुष्य, मनुष्य रहकर, नहीं कर सकता। आत्मा की अमरता और ईश्वर की आवश्यकता नैतिक जीवन के लिये अनिवार्य है। नैतिक जीवन का लक्ष्य 'परम कल्याण' (Highest Good) की भावना है, जो महत्तम पुण्य और महत्तम सुख का समन्वय है। ज्ञान के लिये तो कान्ट ने इन्द्रिय-संवेदनों को आवश्यक सामग्री माना है, किन्तु नैतिक जीवन के लिये इन्द्रिय-जित् होना आवश्यक समझा है। नैतिक जीवन में इन्द्रियाँ, सहायक होने की अपेक्षा, बाधक अधिक हैं। इन्द्रियों की इच्छाओं और वासनाओं से मुक्ति पाना चिरकालीन साधना द्वारा शक्य हो

सकता है। मनुष्य को वासनाओं से जितनी मुक्ति मिलती है, उतना ही वह परम कल्याण की ओर अग्रसर होता है।

यह कान्ट के दर्शन का संक्षिप्त परिचय है। कान्ट की गणना यूरोप के महत्तम दार्शनिकों में है। इन्द्रियों का संवेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उपस्थित करना, देश-काल के द्वारों से इस सामग्री का निकलना और फिर बुद्धि-विकल्पों के साँचों में ढलकर सार्वभौम एवं निश्चित ज्ञान के रूप में परिणत होना, बुद्धि की ज्योति और शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता को स्वतःसिद्ध, अनिर्वचनीय, अद्वय, अपरोक्षानुभूति रूप मानना और उसे समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान स्वीकार करना, जीवों और जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करना, इन्द्रिय-संवेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय और बुद्धि द्वारा अगम्य परमार्थ तक गति न मानना आदि सिद्धान्त कान्ट की महत्ता के सूचक हैं। किन्तु संवेदनों को अनेक अज्ञेय जड बाह्य परमार्थों द्वारा प्रसूत मानना, विशुद्ध ज्ञान को भी संवेदन-सापेक्ष मानना, संवेदनों के अभाव में विशुद्ध ज्ञाता तक को बेकार बना देना, विशुद्ध ज्ञाता का अज्ञेय बाह्य परमार्थों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न करना, व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को पारमार्थिक बना देना, बुद्धि-विकल्पों को केवल साँचों का रूप देना और संवेदनों के अभाव में उनको निष्क्रिय मानना आदि दोष कान्ट के दर्शन में रह गये हैं जिनका सन्तोषजनक समाधान नहीं हो पाया है। कान्ट की सबसे बड़ी भूल विशुद्ध ज्ञाता को भी इन्द्रिय-संवेदनों की शृंखला में बाँध देना है। इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में विशुद्ध ज्ञाता भी कुछ नहीं कर सकता। कान्ट ने प्रज्ञा के साथ अन्याय किया है। प्रज्ञा को विशुद्ध ज्ञाता का स्वरूप न मानकर उसे केवल 'नियामक' मानना अनुचित है। इसीलिये बुद्धि-विकल्प भी कोरे साँचे ही रह गये हैं। मानों ये बुद्धि-विकल्प, जगत् के विभिन्न गोदामों के, जिनमें अनुभव का संवेदनरूपी 'कच्चा माल' बन्द है, तालों को खोलने की कुञ्जियाँ मात्र हों! जगत् के जड पदार्थों को संवेदन उत्थापित करनेवाले परमार्थ मानना भूल है। कान्ट का यह 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' लॉक के 'अज्ञेय बाह्य पदार्थ' का, जिसे बर्कले ने 'बुद्धिशून्य जड' कहकर उपहासास्पद और असम्भव सिद्ध किया था, परिवर्धित और संशोधित संस्करण मात्र है। यदि बाह्य परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय हैं तो उनका ज्ञान संवेदन उत्पन्न करने वाले जड पदार्थों के रूप में किस प्रकार हो सकता है? यह कैसे कहा जा सकता है कि संवेदनों के मूलरूप ये बाह्य अज्ञेय परमार्थ हैं? बिम्ब के ज्ञान के अभाव में प्रतिबिम्ब का ज्ञान कैसे हो सकता है? कान्ट ने बर्कले के अकाटच तर्कों की पूर्ण उपेक्षा की है। केवल विशुद्ध ज्ञाता ही अद्वय परमार्थ हो सकता है। अन्य सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है। कान्ट ने विशुद्ध ज्ञाता के स्वरूप को तो समझा, किन्तु उसे इन्द्रिय-संवेदनों के साथ नत्थी करके भारी भूल की। संवेदन भी वस्तुतः प्रज्ञा के ही

क्षीण रूप हैं। इसे न मानने के कारण व्यवहार और परमार्थ का द्वैत भी पारमार्थिक हो गया है जो महा अनर्थकारी है। प्रज्ञा केवल नियामक ही नहीं, उपादानरूप भी है। प्रज्ञा विशुद्ध ज्ञाता का स्वरूप है और जीव तथा जगत् दोनों उसी की अभिव्यक्ति हैं। कान्ट ने इसे न मानकर भारी भूल की है। विशुद्ध ज्ञाता की शक्ति प्रज्ञा है, इन्द्रिय-संवेदना नहीं। प्रज्ञा के उपेक्षक कान्ट ने पुरोहित बनकर विशुद्ध ज्ञाता के साथ इन्द्रिय-संवेदना को वैवाहिक सूत्र में बाँध दिया! इस 'अनुचित सम्बन्ध' से 'द्वैतवाद' और 'अज्ञेयवाद' रूपी दो वर्ण-संकर उत्पन्न हुये हैं, जिन्होंने न केवल अपने पिता के विशुद्ध नाम को ही कलंकित किया है, किन्तु उस पुनीत पुरोहित पर भी कलंक के छींटे मारे हैं जिसने इनके माता-पिता को एक सूत्र में बाँधने का दुःसाहस किया। इन दोषों के होने पर भी कान्ट की कीर्ति महनीय और उनकी महत्ता व्यापक है। उनकी कोटि के दार्शनिक संसार में बिरले ही हुये हैं।

चतुर्दश अध्याय

निरपेक्ष विज्ञानवाद : हेगल

कान्ट के पश्चात् यूरोप के दूसरे महत्तम दार्शनिक हेगल हुये। कान्ट से हेगल तक के संक्रमण काल में फ़िश्टे और शेलिंग नामक दो और उल्लेखनीय दार्शनिक हुये हैं जिनका हेगल के दर्शन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। अतः हेगल के दर्शन का विवेचन करने के पूर्व फ़िश्टे और शेलिंग के दार्शनिक विचारों को जान लेना आवश्यक है।

फ़िश्टे (Fichte) (१७६२–१८१४) :—जर्मनी के एक साधारण गाँव के एक दरिद्र परिवार में फ़िश्टे का जन्म हुआ था। उनकी प्रतिभा को देखकर एक धनी सज्जन ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी थी। उक्त सज्जन की मृत्यु के बाद फ़िश्टे को फिर मुसीबतें उठानी पड़ीं। १८ वर्ष की आयु में वे जेना विश्वविद्यालय में भर्ती हुये। अर्थाभाव के कारण बीच-बीच में उनको अपना अध्ययन बन्द करना पड़ता था और गृह-शिक्षक के रूप में कुछ कमाकर फिर पढ़ाई चालू करते थे। प्रारम्भ में उन पर स्पिनोज़ा के दर्शन का काफ़ी प्रभाव पड़ा। बाद में लीपज़िक नगर में उन्होंने कान्ट का अध्ययन और अध्यापन प्रारम्भ किया। कान्ट के दर्शन से, विशेषतः कान्ट की 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' से, वे अत्यधिक प्रभावित हुये और कोनिग्ज़वर्ग जाकर उन्होंने कान्ट से साक्षात् सम्पर्क स्थापित किया। उनकी 'श्रुति-परीक्षा' (Critique of All Revelation) नामक रचना को देखकर कान्ट अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने फ़िश्टे की इस प्रथम रचना के प्रकाशन की व्यवस्था कर दी तथा फ़िश्टे को अध्यापक का पद भी दिला दिया। विवाह करने के दो वर्ष बाद फ़िश्टे जेना विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुये। विभिन्न विषयों पर उनके कई निबन्ध प्रकाशित होते रहे। उन्होंने एक दार्शनिक पत्र का सम्पादन भी किया। इस पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ जिस पर फ़िश्टे की टिप्पणी भी थी'। इस लेख और टिप्पणी को धर्मविरुद्ध घोषित किया गया और इस विषय को लेकर एक भारी आन्दोलन मचा जिसके कारण फ़िश्टे को जेना विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद छोड़ देना पड़ा। फ़िश्टे बर्लिन चले गये और वहाँ उन्होंने विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये भरसक प्रयत्न किया जिसमें वे सफल हुये। बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद वे दर्शन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुये। फ़िश्टे का गोइटे (Goethe) और दाँते (Dante) से भी अच्छा परिचय था। उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की

है जिनमें 'समस्त ज्ञान के मूलाधार' (Foundation of the Whole Science of Knowledge) और 'आचार-शास्त्र' (Science of Ethics) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। फ़िश्टे एक महान् चरित्रवान् दार्शनिक के साथ-साथ महान् वक्ता और महान् देशभक्त भी थे। जब नेपोलियन की सेना जर्मनी को रौंद रही थी तब फ़िश्टे ने अपनी शक्तिशालिनी लेखनी और वाणी द्वारा देश-प्रेम की उत्कट भावना का शंखनाद किया और जर्मनी के राष्ट्रत्व को जाग्रत् रक्खा जिसके कारण फ्रान्सीसी सेना को पीछे हटना पड़ा। फ़िश्टे की गृहिणी जब अस्पताल में घायल सैनिकों की शुश्रूषा कर रही थीं तब उन्हें संक्रामक ज्वर हो आया और उनसे यह संक्रामक ज्वर फ़िश्टे को लग गया जिसके कारण युद्धकाल में ही इस कर्तव्य-परायण देशप्रेमी दार्शनिक का देहावसान हो गया। फ़िश्टे के स्मारक पर यह वाक्य अंकित है—**"आचार्य उज्वल आकाश के समान चमकते रहेंगे और वे, जो अनेकों को कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करते हैं, ज्वलन्त नक्षत्रों के समान, सदा-सदा के लिये चमकते रहेंगे।"**

कान्ट के आलोचनात्मक विज्ञानवाद का, इन सिद्धान्तों का कि हमारी बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है और बुद्धि में ज्योति तथा शक्ति विशुद्ध आत्म-तत्व से आती है, कि विशुद्ध आत्म-तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति आचार-मूलक ज्ञान में होती है जिसमें संकल्प-शक्ति का स्वातन्त्र्य है और कर्तव्य का अनिवार्य आदेश है, फ़िश्टे पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। फ़िश्टे के अनुसार कान्ट का दर्शन अपूर्ण रह गया है और स्वयं कान्ट अपने लक्ष्य में पूर्णतया सफल नहीं हो पाये हैं। फ़िश्टे ने इस कमी को पूर्ण करने का प्रयास किया। कान्ट का सबसे बड़ा दोष व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को वास्तविक मान लेना था। इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि के बीच कान्ट ने एक अपूर्य खाई खोद दी। फलतः 'द्वैतवाद' और 'अज्ञेय-वाद' के अजगर कान्ट के दर्शन को लीलने के लिये मुँह बाये खड़े हैं। इन्द्रिय-संवेदनों का कारण अज्ञेय बाह्य परमार्थों को मानना भूल है। यदि ये परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय हैं, तो इन पर 'सत्ता', 'द्रव्य' और 'कार्य-कारण-भाव' के बुद्धि-विकल्प क्यों थोपे जा रहे हैं? यह कैसे कहा जा सकता है कि ये **परमार्थ हैं**, और **अज्ञेय हैं** और संवेदनों के **उत्पादक कारण हैं**? फ़िश्टे के अनुसार कान्ट के ये तथाकथित अज्ञेय बाह्य परमार्थ भी वस्तुतः हमारे ज्ञान द्वारा ही निर्मित हैं; ये भी हमारे ज्ञान के बाहर नहीं है। संवेदन भी ज्ञान का ही रूप है। बाह्य जगत् भी आत्म-तत्व की ही सृष्टि है। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं। इस प्रकार फ़िश्टे ने सर्वप्रथम कान्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद रूपी दोषों को दूर किया। द्वितीय, फ़िश्टे ने यह बताया कि कान्ट के आचार-मूलक ज्ञान का 'अनिवार्य आदेश नियम' (Categorical Imperative) भी मौलिक नहीं है। मौलिक नियम आत्मा का संकल्प-स्वातन्त्र्य है। स्वतन्त्रता का अर्थ न तो 'पर-तन्त्रता'

है और न 'अ-तन्त्रता'; स्वतन्त्रता का असली अर्थ है 'ज्ञान-तन्त्रता'। आत्मा का संकल्प ज्ञान-तन्त्र है और इसीलिये इसका आदेश अनिवार्य है। आत्मा के मौलिक 'संकल्प-स्वातन्त्र्य नियम' से ही 'अनिवार्य आदेश नियम' निकलता है। तृतीय, कान्ट ने 'शुद्ध ज्ञान' और 'आचार-मूलक ज्ञान' का जो भेद किया वह भी उचित नहीं है। दर्शन जीवन के लिये है और जीवन आचार-मूलक है। ज्ञान आत्मा के संकल्प का ही अंग है। चित्-शक्ति और संकल्प-शक्ति में कोई भेद नहीं।

फ़िश्टे ने विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की। बाह्यजगत्, जो जड और अनात्मरूप प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा का ही परिणाम है। आत्मा की चित्-शक्ति ही अचित् के रूप में भासित होती है। चित् और अचित् में कोई मौलिक भेद नहीं, क्योंकि दोनों एक ही आत्म-तत्व के दो रूप हैं। वस्तुतः चित् की ही सत्ता है। सत् से चित् नहीं निकलता; चित् से सत् निकलता है। चित् सदा सत् है और केवल सत् ही नहीं, 'चेतन सत्' है। अतः अचेतन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; वह चेतन का ही परिणाम है। 'विज्ञान' ही 'वस्तु' के रूप में परिणत होता है; 'वस्तु' 'विज्ञान' के रूप में परिणत नहीं हो सकती। अतः विज्ञानवाद (Idealism) वस्तुवाद (Realism) से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि विज्ञान के अन्तर्गत वस्तु आ जाती है, किन्तु वस्तु के अन्तर्गत विज्ञान का समावेश नहीं हो सकता।

विज्ञान आत्मा का स्वरूप है। विज्ञान का अर्थ है प्रकाश। अतः आत्म-तत्व स्वप्रकाश और स्वयंज्योति है। यह स्वतःसिद्ध है। इसकी सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। यह विशुद्ध ज्ञाता है। प्रत्येक विचार में, प्रत्येक संकल्प में, प्रत्येक इच्छा में, इस आत्म-तत्व की सत्ता प्रस्फुटित होती है। विज्ञान प्रकाशरूप है; प्रकाश चिद्रूप है; चित् शक्तिरूप है। आत्मा विज्ञान का आश्रयभूत द्रव्य नहीं है और न विज्ञान उसका आगन्तुक है। आत्मा विज्ञान स्वरूप है। वह विशुद्ध ज्ञाता है और ज्ञान ही उसका स्वरूप है। ज्ञान और ज्ञाता में, शक्ति और शक्तिमान् में, प्रकाश और प्रकाशक में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। आत्मा चित्-शक्ति-रूप है और चैतन्य संकल्परूप है। अपनी चित्-शक्ति के कारण आत्मा स्वसंवेदन रूप (Self-conscious) प्रतीत होता है। स्वसंवेदन में 'स्व' के साथ-साथ ही 'पर' की भी अपेक्षा रहती है; 'विषयी' के साथ ही 'विषय' की भी अपेक्षा रहती है, अन्यथा 'स्व' या 'विषयी', ये नाम सार्थक नहीं हो सकते। अतः स्वसंवेदन में आत्मा विषयी और विषय दोनों बनता है अर्थात् आत्मा ज्ञाता बनकर स्वयं को अपना ज्ञेय बनाता है और अपने द्वारा ही अपना ज्ञान करता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जो ज्ञाता है वह ज्ञेय कैसे बन सकता है, जो विषयी है वह विषय कैसे बन सकता है? साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी है कि ज्ञाता का अस्तित्व बिना ज्ञेय के कैसे हो सकता है, क्योंकि यदि कोई ज्ञेय न हो, तो ज्ञाता किसका होगा? फ़िश्टे के अनुसार दोनों प्रश्न सत्य हैं और इन दोनों का उत्तर

यही है कि आत्मा स्वयं अपने आपको, अपनी संकल्प-शक्ति से, अनात्मा के रूप में प्रकट करता है और अनात्मा को अपना ज्ञेय बनाकर अपना ज्ञातृत्व सार्थक करता है। ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, चित् और अचित्, जीव और जगत्, दोनों वस्तुतः एक ही आत्म-तत्व के दो रूप हैं। इनमें जो विरोध प्रतीत होता है, वह आत्यन्तिक विरोध नहीं है, वह केवल कल्पित भेद है। यह भेद परिच्छेद या सीमा के कारण होता है। आत्मा अपने आपको ज्ञाता जीव के रूप में सीमित करता है और साथ ही ज्ञेय जगत के रूप में भी सीमित करता है, दोनों कार्य आत्मा की संकल्प-शक्ति से एक साथ होते हैं। किन्तु यह विरोध वास्तविक न होने के कारण इस कल्पित भेद को मिटाने की प्रवृत्ति भी आत्मा में स्वतः होती है। अतः इस विरोध का समन्वय होना आवश्यक हो जाता है। और यह समन्वय होता है स्वसंवेदन में जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं। स्वप्रकाश आत्म-तत्व में ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और जगत्, चित् और अचित्, दोनों का समन्वय हो जाता है। यह स्वप्रकाश आत्म-तत्व परमात्मा है और इसी की स्वतन्त्र सत्ता है। जीव और जगत्, आत्मा और अनात्मा, दोनों इस चिद्रूप परम सत् के परिणाम हैं।

इस प्रकार फ़िश्टे के दर्शन में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। प्रथम, स्वप्रकाश परमात्म-तत्व (Absolute Ego) ही एकमात्र सत् है और इसके प्रकाश का अर्थ है इसकी चित्-शक्ति या संकल्प-शक्ति, जो इसी का स्वरूप है। द्वितीय, अपनी चित्-शक्ति के कारण यह परमात्म-तत्व स्वयं को परिच्छिन्न या सीमित करके, एक ओर ज्ञाता या विषयी जीवात्मा (Ego) के रूप में प्रकट करता है और दूसरी ओर स्वयं को ज्ञेय या विषय या अनात्म जगत् (Non-Ego) के रूप में प्रकट करता है। तृतीय, यह परमात्म-तत्व अपने स्वसंवेदन रूप में ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का अतिक्रमण करके जीव और जगत् के समन्वयात्मक रूप में प्रतीत होता है। परमात्मा की इस संकल्प-शक्ति से फ़िश्टे ने तीन नियम निकाले हैं—तादात्म्य (Identity), विरोध (Contradiction) और पर्याप्त कारण (Sufficient Reason)। इनको ही क्रमशः सत्ता (Reality), निषेध (Negation) और परिच्छेद या सीमा (Limitation or Determination) कहा जा सकता है। जीवात्मा को अपना बोध तादात्म्य के रूप में होता है—"मैं हूँ और मैं सदा मैं ही हूँ।" जीवात्मा ज्ञाता है और उसकी सत्ता प्रत्येक ज्ञान या संकल्प में स्फुटित होती है। किन्तु ज्ञाता के साथ ही ज्ञेय भी जुड़ा हुआ है; विषयी सदा विषय की अपेक्षा रखता है। अतः आत्मा में से ही, अपनी शक्ति के कारण, अनात्म जगत् की भी विषय के रूप में प्रतीति होती है। तादात्म्य से विरोध निकल पड़ता है। किन्तु इस विरोध का पर्याप्त कारण भी अवश्य होना चाहिए। आत्मा में से अनात्मा क्यों निकलता है? फ़िश्टे का उत्तर है—आत्मा

की अपनी संकल्प-शक्ति के कारण, जिससे आत्मा स्वयं को परिच्छिन्न या सीमित बना लेता है जीव तथा जगत् के रूप में प्रतीत होता है। किन्तु यह विरोध कोई आत्यन्तिक विरोध तो है नहीं, यह तो केवल परिच्छेद या भेद है, अतः इसका निवारण होना भी आवश्यक है। और यह निवारण होता है स्वप्रकाश परमात्म-तत्व के स्वसंवेदनरूप में, जिसमें जीव और जगत्, आत्मा और अनात्मा, दोनों की सीमा हट कर, दोनों का समन्वय हो जाता है। जीवात्मा शुद्ध अद्वैतरूप (Ego-in-itself) है; अनात्म जगत् द्वैतरूप (Ego-outside-itself) है; और परमात्मा विशिष्टाद्वैतरूप (Ego-in-and-for-itself) है। आत्मा, अपनी संकल्पशक्ति के कारण, पहले स्वयं को सीमित जीवात्मा के रूप में प्रकट करता है; यह 'पक्ष' (Thesis) है। फिर ज्ञाता जीव के साथ ही, आत्मा में से ही, अनात्मरूप ज्ञेय जगत् भी उत्थापित होता है; यह 'प्रतिपक्ष' (Anti-thesis) है। और अन्त में, ज्ञाता और ज्ञेय के इस भेद का सामञ्जस्य परमात्मा के स्वसंवेदनरूप में होता है; यह 'समन्वय' (Synthesis) है। वस्तुतः ये तीनों—पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय, परमात्मा की संकल्प-शक्ति के ही तीन रूप हैं। परमात्मा एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा दोनों है। चित्-शक्ति ही संकल्प-शक्ति है।

संकल्पशक्ति की सृष्टि छह रूपों में प्रतीत होती है। प्रथम, इन्द्रिय-संवेदन (Sensation); द्वितीय, प्रत्यक्ष (Perception); तृतीय, वस्तु-प्रतिबिम्ब (Image); चतुर्थ, बुद्धि (Understanding); पञ्चम, धारणा (Judgement); और षष्ठ, प्रज्ञा (Reason)। इनमें संवेदन और प्रत्यक्ष निर्विकल्प और अद्वैतरूप हैं; प्रतिबिम्ब में द्वैत का उदय होने लगता है जो बुद्धि और धारणा में जाकर पूर्णतया सविकल्प बन जाता है; प्रज्ञा में फिर द्वैत और अद्वैत का समन्वय हो जाता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आत्म-तत्व अपनी संकल्प-शक्ति से स्वयं को परिच्छिन्न क्यों करता है? फ़िश्टे का उत्तर है कि यह परिच्छेद इसलिये होता है कि आत्मा इस परिच्छेद के ऊपर उठकर अपने समन्वयात्मक स्वसंवेदनरूप का ज्ञान करे। नैतिक बोध या संकल्प-स्वातन्त्र्य तभी संभव हो सकता है जब बाधा की सृष्टि करके उस बाधा का अतिक्रमण किया जाय, जब द्वैत की सृष्टि करके उस पर विजय प्राप्त की जाय। मुक्ति के लिए ही बन्धन की सृष्टि होती है। नैतिक जीवन का अर्थ ही यही है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके स्वरूप-लाभ करें। यह परमात्मा की लीला है कि वे स्वयं को परिच्छिन्न जीवों और परिच्छिन्न जगत् के रूप में सृष्ट करके फिर जीव और जगत् का समन्वय करते हैं और जीवों द्वारा अपने स्वरूप-लाभ का आनन्द लेते हैं। जीवात्मा (Theoritical Ego) अपने आपको अपने प्रतिपक्षी अनात्म-जगत् के बन्धन में पाती है। जीवात्मा को वस्तुतः परिच्छिन्न न होकर परमात्म-रूप होना चाहिए, जो

उसका स्वरूप है। अतः जीव का कर्तव्य है कि अपने आपको जगत् के बन्धन से मुक्त करके अपने परमात्म-स्वरूप का लाभ करे। यह नैतिक जीवन (Practical Ego) द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः नैतिक जीवन द्वारा जीव के स्वरूप-लाभ करने के लिए ही सृष्टि प्रकट हुई है।

बर्लिन आने के बाद फ़िश्टे की विचारधारा में कुछ परिवर्तन हुआ। कई आलोचकों ने फ़िश्टे के इस परिवर्तन को उनके दर्शन की दूसरी भिन्न धारा के रूप में ग्रहण किया है और इसे उनकी दार्शनिक अवनति माना है। किन्तु वास्तव में यह दूसरी धारा नहीं है, उसी धारा का संशोधित रूप है। और न यह 'अवनति' है, किन्तु वस्तुतः 'उन्नति' है। इस परिवर्तन का स्वरूप यह है—पहले फ़िश्टे ने ईश्वर को विशिष्टाद्वैत परमात्म-रूप माना था और उनकी चित्-शक्ति को संकल्प-शक्ति मानकर मानव के नैतिक जीवन में कर्म को प्रधानता दी थी; किन्तु अब ईश्वर को विशिष्टाद्वैत से भी ऊपर विशुद्ध अद्वैतरूप, उनके संकल्प को विशुद्ध चित्-रूप, और इस चित् को विशुद्ध सत्-रूप स्वीकार किया गया तथा ईश्वर की भक्तिरूप निर्विकल्प अनुभूति को नैतिक कर्म से भी ऊपर माना गया और नैतिक कर्म को इस अनुभूति की प्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकार किया गया।

फ्रेडरिक विल्हेल्म जोजेफ़ शेलिंग (Fredrick Wilhelm Joseph Schelling) (१७७५–१८५४) :—

शेलिंग का जन्म जर्मनी के लियोनवर्ग नगर में हुआ था। वे अत्यन्त बुद्धिमान् छात्र थे और स्वल्पावस्था में ही विविध दर्शनों का अध्ययन उहोंने कर लिया था एवं बहुत से निबन्ध भी लिखने लग गये थे। वे हेगल के सहपाठी और मित्र थे और ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय से उन्होंने एम० ए० किया था। जेना में वे फ़िश्टे के छात्र तथा सहायक भी रहे थे। फ़िश्टे जब जेना छोड़कर बर्लिन चले गये तो शेलिंग जेना में दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। हेगल के साथ उन्होंने एक दार्शनिक पत्र का सम्पादन भी किया। म्यूनिक विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर शेलिंग वहाँ दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए। बाद में वे बर्लिन चले गये। उस समय यूरोप में रोमान्टिक भावना की बाढ़ आ रही थी और शेलिंग ने भी उसमें बहुत योग दिया था। शेलिंग बड़े उदार-हृदय, भावक और लोकप्रिय थे। वे विज्ञान-परिषद् (Academy of Sciences) और शिल्प-परिषद् (Academy of Plastic Arts) के अध्यक्ष भी रहे थे। उनकी कृतियों का संग्रह चौदह भागों में प्रकाशित हुआ है।

शेलिंग के दर्शन में शुष्क तर्कों की अपेक्षा जीवित भावुकता अधिक प्रबल है। उन पर प्लोटाइनस, ब्रूनो, स्पिनोज़ा, बोहमे, लाइबनित्ज़, कान्ट और फ़िश्टे का प्रभाव पड़ा है। परिणामतः उनकी विचारधारा भी नया-नया रूप लेती रही है। शेलिंग के दर्शन को तीन कालों में रक्खा जा सकता है। प्रथम काल में, उनके

दर्शन में प्रकृति (Nature) और आत्मा (Spirit) का विश्लेषण हुआ है; द्वितीय काल में, ब्रूनो, स्पिनोज़ा और फ़िश्टे के प्रभाव के कारण अद्वैतवाद (Identity) का विकास हुआ है; और तृतीय काल में, रहस्यवाद (Positive Mysticism) का। इन तीनों का अलग-अलग वर्णन आवश्यक है।

पहले, शेलिंग के प्रकृति और आत्मा के दर्शन पर विचार करें। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि फ़िश्टे के अनुसार आत्मा अनात्मा को उत्पन्न करता है और शेलिंग के अनुसार अनात्मा आत्मा को उत्पन्न करता है, कि फ़िश्टे का अध्यात्मवाद आत्म-निष्ठ (Subjective) है और शेलिंग का प्रकृति-निष्ठ (Objective)। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। न तो फ़िश्टे का झुकाव दृष्टिसृष्टि-वाद की ओर है और न शेलिंग का वस्तुवाद की ओर। दोनों में जो अन्तर है उसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त भ्रान्तियाँ हो सकती हैं। फ़िश्टे और शेलिंग दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि आत्मा और अनात्मा का, जीव और जगत् का, ज्ञाता और ज्ञेय का, चित् और अचित् का आत्यन्तिक विरोध नहीं है और ये दोनों ही एक तृतीय परम तत्व की अभिव्यक्तिमात्र हैं। फ़िश्टे और शेलिंग दोनों के अनुसार यह परम तत्व निरपेक्ष है और चित्-शक्ति रूप है। दोनों के अनुसार चित्-शक्ति संकल्प-शक्ति रूप है। दोनों के अनुसार इस संकल्प-शक्ति का रूप स्वसंवेदन (Self-Conciousness) है जिसमें आत्मा और अनात्मा के भेद का समन्वय हो जाता है। दोनों के अनुसार इस समन्वय के लिए अनात्म-तत्व की अभिव्यक्ति आवश्यक है। अब फ़िश्टे और शेलिंग दोनों में जो भेद है उसे भी जान लेना चाहिए। फ़िश्टे ने इस परम तत्व को 'आत्मा' का नाम दिया है और शेलिंग ने इसे 'प्रकृति' कहा है। न तो फ़िश्टे का यह परम 'आत्मा' जीवात्मारूप है और न शेलिंग की यह 'प्रकृति' जड है। फ़िश्टे का यह 'आत्मा' और शेलिंग की यह 'प्रकृति' वस्तुतः परम तत्व है जो जीव और जगत् दोनों का अधिष्ठान है। फ़िश्टे ने नैतिक जीवन को महत्व देने के कारण, इस परम तत्व को परम 'आत्मा' (Absolute Ego), जीव को 'आत्मा' (Ego) और जगत् को 'अनात्मा' (Non-Ego) कहा है। शेलिंग ने, कलात्मक भावुकता को महत्व देने के कारण, इस परम तत्व को 'समन्वयात्मक प्रकृति' (Organized Nature), जीव को 'चेतन प्रकृति' (Organic Nature) और जगत् को 'अचेतन प्रकृति' (Inorganic Nature) कहा है। द्वितीय, फ़िश्टे के अनुसार जगत् एक बन्धन या बाधा है जिसकी सृष्टि, नैतिक जीवन द्वारा जीव के इस बन्धन से मुक्ति पाने के लिए या इस बाधा का अतिक्रमण करने के लिये की गई है; किन्तु शेलिंग के अनुसार जगत् बन्धन रूप या बाधा रूप नहीं है, यह जीव के विकास के लिए आवश्यक और सहायक है। तृतीय, फ़िश्टे के अनुसार परम तत्व की अभिव्यक्ति पहले जीवात्मा के रूप में होती है और फिर अनात्मा के रूप में, किन्तु शेलिंग

के अनुसार यह अभिव्यक्ति पहले जगत् के रूप में होती है और फिर जीव के रूप में। चतुर्थ, फ़िश्टे के अनुसार जगत् जीव का 'प्रतिपक्ष' (Antithesis) है; किन्तु शेलिंग के अनुसार जगत् जीव का प्रतिपक्ष न होकर उसका 'पूर्वरूप' (Preliminary Stage) है।

अब शेलिंग की 'प्रकृति' का निरूपण करना चाहिए। शेलिंग के अनुसार यह जो अचेतन प्रकृति प्रतीत होती है वह वस्तुतः अचेतन नहीं है। उसमें व्यवस्था, नियम-परायणता और संगति है, वैसी ही जैसी बुद्धि में प्रतीत होती है। अतः जीव और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत एक ही परम तत्व है। प्रकृति में प्राणशक्ति और चैतन्य अन्तर्निहित है। जो जड प्रतीत होता है वह वस्तुतः सुप्त चैतन्य है। प्रकृति में चेतनता विकसित नहीं हो पाई है; यह विकास जीव में सम्भव हुआ है। प्रकृति पहले 'जडवत्' प्रतीत होती है; फिर इसमें वनस्पतिरूप में प्राणशक्ति का विकास होता है; फिर पशु-जगत् में चेतनता का विकास होता है और अन्त में मनुष्य में जाकर यह चेतनता स्व-चेतन बन जाती है। ये विभिन्न स्तर चैतन्य के विकास के सोपान मात्र हैं। प्रकृति और आत्मा दोनों एकरूप हैं। इस विकास का कारण मूल प्रकृति की संकल्प-शक्ति है। यह संकल्प-शक्ति अपरिमित और अगाध है। मूल-प्रकृति, अपनी इस संकल्प-शक्ति के कारण, अपने ही चैतन्य को आवृत करके जड जगत् या बाह्य प्रकृति के रूप में प्रतीत होती है। फिर क्रमशः वनस्पति-जगत् और पशु-जगत् में प्राण-शक्ति और संवेदन-शक्ति के रूप में प्रकट होकर मानव जीवात्मा में स्वसंवेदन या स्व-चेतन (Self-conscious) के रूप में प्रकट होती है। किन्तु अभी भी यह पूर्णतया स्व-चेतन नहीं हो पाती क्योंकि जीव और जगत् का भेद या विरोध बना रहता है। तब यह परमात्मा (World-Soul) के रूप में समन्वयात्मक स्व-चेतन प्रकृति बन कर अपना स्वयं का ज्ञान करती है और जीव-जगत् के भेद को पार कर जाती है। यह परम तत्व 'समन्वयात्मक या स्व-चेतन प्रकृति' है; जीव 'चेतन प्रकृति' है; और जगत् 'अचेतन प्रकृति' है।

अपने दार्शनिक विकास के द्वितीय काल में शेलिंग ने जीव और जगत् के मूल स्रोत परमतत्व की एकता पर विशेष बल दिया है। जीव और जगत्, चेतन और अचेतन वस्तुतः एक हैं क्योंकि एक ही परम तत्व के परिणाम हैं। यह परम तत्व पूर्णतया समन्वयात्मक और स्व-चेतन है। यह प्रकृति और आत्मा का अधिष्ठान है। यह चित्-शक्ति या संकल्प-शक्ति रूप है। इसी को हम ईश्वर या पर ब्रह्म कह सकते हैं। स्पिनोज़ा से प्रभावित होकर शेलिंग ने भी ज्ञान के दो स्तर माने हैं—एक तो विशुद्ध पारमार्थिक प्रज्ञा और दूसरा, व्यावहारिक इन्द्रिय-संवेदन-मूलक ज्ञान। व्यवहार में अनेकता, द्वैत, भेद, विरोध, अपूर्णता की प्रतीति होती है। जीव और जगत् का भेद प्रतीत होता है। परमार्थ में अद्वैत, अभेद, समन्वय और

पूर्णता है; जीव और जगत् का कोई भेद नहीं। ईश्वर में सब कुछ पूर्ण और एक-सा है। पर ब्रह्म में सब कुछ निरपेक्ष, नित्य और पूर्ण है; वहाँ किसी प्रकार के द्वैत-प्रपञ्च को स्थान नहीं। समस्त व्यवहार इस परमार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है। स्पिनोज़ा और शेलिंग में यह महत्वपूर्ण भेद है कि स्पिनोज़ा के दर्शन में विकासवाद को विशेष स्थान नहीं दिया गया, किन्तु शेलिंग के दर्शन में विकासवाद का स्थान विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। समस्त सृष्टि मूल-प्रकृति की संकल्पशक्ति का विकास है। समस्त पदार्थ इस विकास के सोपान हैं। प्लोटाइनस से प्रभावित होकर शेलिंग ने निरपेक्ष परम तत्व को 'पूर्ण अद्वैत', ईश्वर या 'पिता' को द्वैत विशिष्ट अद्वैत, संकल्प-शक्ति या 'पुत्र' को अद्वैत में द्वैत और जीवात्मा को अद्वैतोन्मुख द्वैत भी कहा है। प्रकृति द्वैतोन्मुख अद्वैत है और आत्मा अद्वैतोन्मुख द्वैत है। प्रकृति और आत्मा दोनों में त्रिकनियम पाया जाता है। प्रकृति में क्रमशः जिन रूपों का विकास होता है, वे ये हैं--आकर्षण, विकर्षण और गुरुत्वाकर्षण; चुम्बक, विद्युत् और रासायनिकता; संवेदन, प्रतिवेदन और प्रजनन। आत्मा में विकास के सोपान हैं--इन्द्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष और बुद्धिविकल्प। ये तीनों हैं जीव की बुद्धि या चित्-शक्ति के धर्म। किन्तु बुद्धि का परिपाक होता है संकल्प में; चित्-शक्ति को संकल्प-शक्ति में परिणत होना पड़ता है; बौद्धिक जीवन को नैतिक जीवन में उठना होता है। स्व-चेतन होने पर बुद्धि संकल्प का रूप ले लेती है। परम-तत्व स्व-चेतन है, अतः परम-तत्व की अनुभूति के लिए बुद्धि को संकल्प बनना पड़ता है। नैतिक जीवन में परम तत्व की अनुभूति होती है।

शेलिंग के दर्शन का तृतीय काल रहस्यवाद का काल है। इसमें शेलिंग ने यह बताया है कि सविकल्प बुद्धि के द्वारा परम तत्व का ग्रहण शक्य नहीं। यह कलात्मक अनुभूति से हो सकता है क्योंकि कला में द्वैत का विलय हो जाता है। धार्मिक अनुभूति, ईश्वर का उत्कट प्रेम, कला की सर्वोत्तम अभिव्यञ्जना है और इसी रहस्य में परम तत्व की ज्योति का साक्षात् होता है। परम तत्व आदि-संकल्प रूप है। इस संकल्प के द्वारा ईश्वर अपनी अभिव्यक्ति जीव-जगत् के रूप में करके स्वयं को पूर्ण करते हैं। जगत् में जो अमंगल और अशुभ प्रतीत होता है, वह भी मंगल और शुभ के लिए ही है। मानव समाज के इतिहास की प्रगति ईश्वर को उत्तरोत्तर अभिव्यक्त कर रही है। धार्मिक अनुभूति के द्वारा जीव और जगत् के द्वैत से ऊपर उठकर समन्वयात्मक ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगल (George Wilhelm Friedrich Hegel) (१७७०–१८३१) :–

हेगल का जन्म जर्मनी के स्टटगार्ट नगर के एक मध्यमवर्ग के शिक्षित परिवार में हुआ था। ग्रीक काव्य और कला के प्रति उनका अनुराग था

और प्रत्येक विज्ञान में उनकी अभिरुचि थी। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में वे शेलिंग के सहपाठी थे। हेगल उदार, सामाजिक, गम्भीर और संयमी थे। अध्ययन-समाप्ति के बाद कुछ वर्षों तक हेगल गृह-शिक्षक का कार्य करते रहे, बाद में जेना में शिक्षक होकर शेलिंग के सहायक हुए। शेलिंग के जेना से चले जाने के बाद वे वहाँ अध्यापक नियुक्त हुए। इस समय उन्होंने अपने दर्शन का निर्माण किया। जेना में युद्ध के कारण राजनीतिक हेरफेर होने से उनको अध्यापक-पद छोड़ देना पड़ा। कुछ वर्षों तक वे एक पत्र का सम्पादन करते रहे, बाद में एक विद्यालय के प्रधान शिक्षक बने। इन सब असुविधाओं में भी उनकी दार्शनिक प्रगति बन्द नहीं हुई। फिर वे हाइडेलबर्ग में दर्शनाध्यापक हुये। दो वर्ष बाद फ़िश्टे की मृत्यु के कारण बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शनाध्यक्ष का पद रिक्त हुआ और वहाँ हेगल की नियुक्ति हो गई। इस समय से लेकर मृत्युपर्यन्त हेगल जर्मनी के दार्शनिक जगत् के नेता बने रहे। सन् १८३१ में हैज़े के कारण उनका देहावसान हो गया। उनकी रचनाओं का संग्रह अट्ठारह भागों में प्रकाशित हुआ है। उनकी 'आत्म-तत्व की अभि-व्यक्ति' (Phenomenology of Spirit) और 'तर्कशास्त्र' (Logic) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

हेगल की गणना विश्व के महत्तम दार्शनिकों में है। हेगल के पूर्व किसी दार्शनिक ने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का इतना मार्मिक और गम्भीर अध्ययन नहीं किया था। हेगल ने दार्शनिक इतिहास को एक नये रूप में रक्खा। मानव-समाज के इतिहास की भाँति, साम्राज्यों और जातियों के उत्थान-पतन की भाँति, संस्कृति के विविध रूपों की प्रगति की भाँति, दार्शनिक विचारों की प्रगति का भी इतिहास महत्वपूर्ण है। दर्शन का कार्य भूत, वर्तमान और भविष्य में व्यापक तथा प्रगतिशील सत्ता का निरूपण करना है। हेगल के अनुसार प्रत्येक दर्शन-पद्धति में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश रहता है और प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक "तुतलानेवाला हेगल" है। हेगल पर प्लेटो, एरिस्टॉटल, लाइबनित्ज़, कान्ट, फ़िश्टे और शेलिंग का विशेष प्रभाव पड़ा है। हेगल के परवर्ती सभी पाश्चात्य दार्शनिक किसी-न-किसी रूप में हेगल से अवश्य प्रभावित हुये हैं।

हेगल कान्ट के इन विचारों से, कि दर्शन आलोचनात्मक विज्ञानवाद है, कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, कि बुद्धि में ज्योति तथा शक्ति विशुद्ध आत्म-तत्व से आती है, कि विशुद्ध आत्मतत्व ज्ञान रूपी गुण का आधारभूत द्रव्य न होकर वस्तुतः ज्ञान-स्वरूप ज्ञाता है, सहमत हैं। किन्तु वे कान्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद के घोर विरोधी हैं और उन्होंने कान्ट के बुद्धि-विकल्पों और कान्ट की प्रज्ञा का भी संशोधन किया है। कान्ट का व्यवहार और परमार्थ का द्वैत हेगल को स्वीकार नहीं है। कान्ट का इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प का द्वैत भी हेगल को स्वीकार नहीं है। कान्ट के 'अज्ञेय बाह्य परमार्थ' हेगल को स्वीकार

नहीं हैं। हेगल का अटल विश्वास है कि तत्व विज्ञानरूप और विज्ञान-गम्य है। जिस प्रकार नेपोलियन ने कोश में से 'असम्भव' शब्द को निकाल दिया था, उसी प्रकार हेगल ने कोश में से 'अज्ञेय' शब्द को निकाल दिया। जो कुछ है, वह विज्ञान-गम्य है। 'अज्ञेय' शब्द वदतोव्याघात है। यदि परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय है, तो उसके विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अज्ञेय है। कान्ट ने भी अपने 'अज्ञेय परमार्थों' को 'सत्ता', 'द्रव्य' और 'कार्यकारणभाव' के बुद्धि-विकल्पों में जकड़ रक्खा है। कान्ट को अपने **'अज्ञेय'** परमार्थों का कम-से-कम इतना तो **निश्चित ज्ञान** है कि वे **हैं** और **अज्ञेय हैं** और सम्वेदनों के **उत्पादक कारण हैं**। ज्ञान अपना गला स्वयं नहीं घोट सकता। बुद्धि आत्मघात नहीं कर सकती। समस्त खण्डन या निषेध ज्ञान के अन्तर्गत होंगे; ज्ञान अपना खण्डन नहीं कर सकता। अतः कोई वस्तु 'अज्ञेय' नहीं हो सकती। पुनश्च, सम्वेदन भी ज्ञान के ही क्षीण प्रकाश हैं। बाह्य-जगत् भी आत्म-तत्व की ही अभिव्यक्ति है। और, कान्ट ने बुद्धि-विकल्प तथा प्रज्ञा का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं बताया है। कान्ट के बुद्धि-विकल्प खोखले साँचे हैं जो सम्वेदन-सामग्री से भरे जाते हैं। किन्तु हमारी धारणायें रंगीन चश्मे नहीं हैं जो वस्तु-जगत् को विकृतरूप में उपस्थित करती हों। हमारे बुद्धि-विकल्प काल्पनिक या आत्मगत नहीं हैं। ये खोखले साँचे नहीं हैं। ये वस्तु-गत हैं। ये वस्तु-जगत् में भी व्याप्त हैं। जगत् ज्ञान-तत्व का ही बाह्य प्रकाश है। जो ज्ञान-तत्व मानव-बुद्धि के नियमों के रूप में प्रतीत हो रहा है, वही ज्ञान-तत्व बाह्य-जगत् की व्यवस्था, नियम-परायणता और विश्व-रूपता में प्रतीत हो रहा है। प्रकृति में भी ज्ञान व्याप्त है। प्रकृति बुद्धि-गम्य है, इस वाक्य का अर्थ है कि प्रकृति में भी बुद्धि है। हमारा ज्ञान वस्तु-जगत् का सत्य ज्ञान है। हमारे बुद्धि-विकल्प ज्ञान के विकास के वास्तविक सोपान हैं और ज्ञान ही वस्तु-जगत् है, अतः ये वस्तु-जगत् के भी वास्तविक सोपान हैं। ज्ञान-तत्व एक है और उसकी विभिन्न धारणायें या विकल्प उसकी अपूर्ण अभि-व्यक्तियाँ या छबियाँ हैं। कान्ट के बुद्धि-विकल्पों के समान हेगल के बुद्धि-विकल्प कुंजियाँ नहीं हैं जिनको लगाकर अनुभव-जगत् के दरवाज़ों के ताले खोल लिये जावें; न ये खोखले साँचे हैं जिनमें आकर सम्वेदनरूपी कच्चा माल ढलकर ज्ञान का रूप ले; न ये रंगीन चश्मे हैं जो वस्तु-जगत् की विकृत व्यावहारिक प्रतीति करायें। ज्ञान ही एक मात्र तत्व है और उसके विकल्प उसकी अभिव्यक्ति के वास्तविक सोपान हैं। अतः इनकी संख्या भी कान्ट के अनुसार बारह नहीं है। कान्ट के बुद्धि-विकल्प परस्पर-सम्बद्ध नहीं हैं, किन्तु हेगल के बुद्धि-विकल्प ज्ञान के विकास में सोपानवत् क्रमबद्ध हैं। कान्ट की 'प्रज्ञा' केवल नियामक है, उपादान-रूप नहीं; हेगल के अनुसार प्रज्ञा नियामक और उपादान-रूप दोनों है।

फ़िश्टे के स्वप्रकाश परमात्म-तत्व को; उनके तादात्म्य, विरोध और पर्याप्त

कारण को; उनके सत्ता, निषेध और परिच्छेद को; उनको पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय की त्रयी को; उनके परमात्मा, जीवात्मा और अनात्मा-आदि सिद्धान्तों को हेगल ने किसी-न-किसी रूप में अपना लिया है। किन्तु फ़िश्टे के संकल्प-शक्ति के प्राधान्य को, उनके नैतिक जीवन के महत्व को, उनके इस सिद्धान्त को कि अनात्मजगत् बाधारूप है और इसकी सृष्टि इसका अतिक्रमण करके इस पर विजय पाने के लिये होती है, हेगल ने स्वीकार नहीं किया।

शेलिंग से हेगल इस बात में सहमत हैं कि दर्शन का लक्ष्य परमतत्व के विकास का अध्ययन करना है। हेगल ने शेलिंग के विकासवाद को अपना लिया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत परमतत्व है, कि यह परमतत्व जीव और जगत् का समन्वय-रूप है। किन्तु शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व न आत्म-रूप है और न अनात्म-रूप; हेगल के अनुसार यह आत्म-रूप है। शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व सृष्टि के ऊपर है, 'पर' है; हेगल के अनुसार यह सृष्टि में ही है, 'अन्तर्यामी' है। शेलिंग के अनुसार यह परमतत्व 'अद्वैत रूप' है; हेगल के अनुसार यह 'विशिष्टाद्वैतरूप' है। हेगल ने स्पिनोज़ा के परमतत्व को "सिंह की गुहा" और शेलिंग के परमतत्व को "वह काल-रात्रि जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं" कहा है, क्योंकि स्पिनोज़ा और शेलिंग दोनों के परमतत्व में किसी प्रकार का भेद-प्रपंच नहीं रहता, और हेगल को परमतत्व में भी भेद-प्रपंच की गौण सत्ता मान्य है। शेलिंग और फ़िश्टे ने चित्-शक्ति को संकल्प-शक्तिरूप मानकर संकल्प को प्राधान्य दिया था; हेगल ने चित्-शक्ति को ही प्राधान्य दिया और संकल्प को चैतन्य का ही विकार माना। फ़िश्टे ने नैतिक जीवन की और शेलिंग ने कलात्मक धार्मिक अनुभूति की शरण ली; हेगल ने एक मात्र विज्ञान की ही शरण ली। हेगल रहस्यानुभूति के घोर विरोधी हैं। जो कुछ है, विज्ञान का ही परिणाम है और इसलिये विज्ञान-गम्य है। रहस्यवादी साधना ज्ञान का विकृत अंग है और इसे ज्ञान के ऊपर कदापि नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार कान्ट, फ़िश्टे और शेलिंग की बहुत-सी बातें अपनाकर और बहुत-सी बातों का खण्डन करके हेगल ने अपने निरपेक्ष विज्ञानवाद की स्थापना की।

हेगल के अनुसार दर्शनशास्त्र का लक्ष्य परमतत्व के विकास की समुचित व्याख्या करना है। तर्कशास्त्र का कार्य भी यही है। अतः हेगल के अनुसार तर्कशास्त्र (Logic) और दर्शनशास्त्र (Metaphysis) दोनों एक ही हैं। परमतत्व निरपेक्ष विज्ञानरूप या शुद्ध चैतन्यरूप है। इस तत्व की वैज्ञानिक आलोचना दर्शनशास्त्र का विषय है। अतः दर्शन सब विज्ञानों का विज्ञान है। तर्कशास्त्र का विषय भी निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विविध सोपानों की क्रमबद्ध व्याख्या ही है। अब तक तर्कशास्त्र बुद्धि-विकल्पों को अमूर्त विज्ञान (Abstract

Ideas) मानकर केवल शुष्क अनुमान-प्रक्रिया का विश्लेषण किया करता था। उसके तादात्म्य और विरोध आदि नियम केवल हमारे अमूर्त विचारों तक ही सीमित माने जाते थे। किन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। जिसे हम वस्तु-जगत् कहते हैं, वह भी विज्ञान का ही परिणाम है। विज्ञान मूर्त और वास्तविक (Concrete and Real) है। विज्ञानों के नियम वस्तु-जगत् पर भी लागू होते हैं। कान्ट ने अपने इस कथन से कि हमारी बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, एक युग-प्रवर्तक विचारधारा स्थापित की। किन्तु कान्ट स्वयं इस कथन का पूर्ण आशय नहीं समझ सके और उनके बुद्धि-विकल्प खोखले साँचे मात्र रह गये, जिनको अपनी सामग्री के लिये इन्द्रिय-सम्वेदनों पर निर्भर रहना पड़ा। इसीलिये कान्ट ने प्रज्ञा को भी नियामक ही माना, उपादन-रूप नहीं। यह कान्ट की भारी भूल थी। वस्तुतः इन्द्रिय-सम्वेदन भी प्रज्ञा के ही क्षीण रूप हैं। जो कुछ है सब चैतन्य या विज्ञान का ही विकास है। बुद्धि-विकल्प इस विज्ञान के विकास के मूर्त सोपान हैं। विज्ञानव्यतिरिक्त कोई सत्ता नहीं। विज्ञानों के नियम वस्तु-जगत् के नियम हैं। अतः तर्कशास्त्र या ज्ञान-मीमांसा और दर्शनशास्त्र या तत्व-मीमांसा दोनों एक ही हैं, क्योंकि ज्ञान ही एकमात्र तत्व है।

हेगल के अनुसार एकमात्र तत्व निरपेक्ष या पूर्ण विज्ञान (Absolute Idea) है। सम्पूर्ण विश्व इसी का परिणाम है। इन्द्रिय-सम्वेदन, भावना, इच्छा, संकल्प आदि सब विज्ञान के ही विविध रूप हैं। विज्ञान की ही नित्य सत्ता है। विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध विज्ञाता में कोई अन्तर नहीं। विज्ञाता द्रव्य रूप नहीं है और न विज्ञान उसका आगन्तुक धर्म या गुण है। विज्ञाता विज्ञान-स्वरूप ही है। विज्ञाता का कभी निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि निराकरण में भी निराकर्ता की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है। निराकरण और स्वीकरण, खण्डन और मण्डन, असिद्धि और सिद्धि, निषेध और विधान—सब विज्ञाता के कारण सम्भव हैं। विज्ञान-स्वरूप होने के कारण, विज्ञाता और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं है; चित्-शक्ति और चित्-शक्तिमान् में कोई भेद नहीं। इस चैतन्य या विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है। अखिल विश्व इसी का परिणाम है। हेगल की प्रसिद्ध उक्ति है—"**जो चित् है वही सत् है और जो सत् है वही चित् है अथवा बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है।**" समस्त विश्व में जिन पदार्थों की सत्ता प्रतीत होती है, वे सब पदार्थ विज्ञान के ही विविध रूप हैं। उनकी सत्ता इसीलिये है कि वे विज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान के विकास के विविध स्तर हैं। चित् में और सत् में, बोध में और सत्ता में, ज्ञान में और तत्व में, आत्मा में और प्रकृति में, विज्ञान में और वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। जो कुछ है, वह सब विज्ञान के विकास का परिणाम है। विज्ञान केवल अमूर्त विचार

नहीं है जिसकी सत्ता हमारे मस्तिष्क में है; वह मूर्त वस्तु है; केवल वही 'सत्' कहलाने का पात्र है। विज्ञान चित्-शक्ति है जो स्वयं को इस विश्व के रूप में अभिव्यक्त करती है।

हेगल ने 'विज्ञान' शब्द को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया है, जिसे स्पष्ट समझ लेना चाहिये। विज्ञान शब्द का प्रचलित अर्थ है हमारे मस्तिष्क का अमूर्त विचार या सामान्य। किन्तु हेगल के अनुसार विज्ञान मूर्त सामान्य है। हेगल के निरपेक्ष विज्ञान का स्वरूप पहले ही समझ लेना अच्छा होगा। इसके लिये हेगल ने कई शब्दों का प्रयोग किया है जिनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। हेगल के अनुसार केवल भेद या द्वैत और केवल अभेद या अद्वैत, दोनों ही, कल्पनामात्र हैं, वास्तविक नहीं। अभेद और भेद दोनों एक दूसरे में घुले मिले हैं। इनमें अभेद प्रधान है और भेद गौण है। भेद अभेद के आश्रय पर ही टिकता है और बिना अभेद के नहीं रह सकता। किन्तु अभेद की कल्पना भी बिना भेद के नहीं हो सकती। अभेद सदा भेद से विशिष्ट रहता है। भेद विशेषण है; अभेद विशेष्य है। भेद गौण है; अभेद मुख्य है। किन्तु रहते दोनों साथ-साथ हैं। बिना विशेषणों के विशेष्य की कल्पना नहीं हो सकती; बिना गुणों के द्रव्य की कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार बिना विशेष्य के विशेषण टिक नहीं सकते; द्रव्य के आधार के बिना गुणों की सत्ता नहीं हो सकती। अतः कोई वस्तु निर्विशेष नहीं हो सकती। निर्विशेष का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये तत्व सदा भेदविशिष्टअभेदरूप या विशिष्टाद्वैतरूप होता है। इस विषय में हेगल का रामानुजाचार्य से पूर्ण मतैक्य है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है द्वैतविशिष्ट अद्वैत अर्थात् अनेकता में अनुस्यूत एकता (Unity-in-difference) या भेद में अन्तर्यामी अभेद। हेगल का विज्ञान विशिष्टाद्वैतरूप है अर्थात् अनेकता में अनुस्यूत एकता है। विशिष्टाद्वैत विज्ञान स्व-चेतन (Self-conscious) होता है। हेगल के शुद्ध विज्ञान या शुद्ध चैतन्य का अर्थ सदा स्व-चेतन या स्व-सम्वेदन से है अमूर्त चैतन्य (Pure Consciousness) से नहीं। विज्ञान मूर्त सामान्य (Concrete Universal or Notion) है, अमूर्त सामान्य (Abstract Universal) नहीं। यह समष्टिरूप (System) है। यह अवयवी या अङ्गी (Whole) है। यह व्यक्तित्वरूप (Individual) है। इसके विशेषण-रूप भेद इसके अवयव या अङ्ग हैं। निरपेक्ष विज्ञान अपने अवयवों या अङ्गों (Parts or Members) में अनुस्यूत अभेद है। यह अपने अवयवों में अन्तर्यामी (Immanent) रूप से रहता है। इसकी सत्ता अवयवों में ही प्रतीत होती है; यह अवयवों से पृथक् और नितान्त भिन्न नहीं है। फिर भी, इसके अवयव इसकी सत्ता को सीमित नहीं कर सकते। यह अवयवों का समूह मात्र नहीं है। यह उनसे विशिष्ट और उनमें अनुस्यूत अभेद है। अनेकता में भी इसकी एकता अक्षुण्ण है। भेद में

भी इस अभेद की क्षति नहीं होती। समस्त भेद या अवयव इसी से अनुप्राणित होते हैं। प्रत्येक भेद या अवयव इस निरपेक्ष विज्ञान की एक धारणा या इसका एक विकल्प (Category) है जो इसे अपने रूप में अभिव्यक्त करता है। निरपेक्ष विज्ञान व्यष्टियों में अन्तर्यामी समष्टि है। प्रत्येक धारणा इस समष्टि के व्यक्तित्व को न्यूनाधिक रूप में अभिव्यक्त करती है। इसीलिये इस निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विभिन्न स्तरों में तारतम्य है। ये सब अवयव सोपानवत् क्रमबद्ध हैं और निरपेक्ष विज्ञान के प्रकाश से ही प्राणवान् हैं। अवयवों और अवयवी में जीवित सम्बन्ध (Organic Relation) है। यों तो प्रत्येक समष्टि में व्यवस्था, नियमपरायणता और एकरूपता रहती है, किन्तु जीवित समष्टि में यह और अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये, एक मकान को भी हम ईंट, पत्थर, चूना, सीमेन्ट आदि का समूह मात्र नहीं कह सकते, क्योंकि सुव्यवस्थित बनकर ही वे मकान का रूप ले सकते हैं; अतः ईंट, पत्थर, चूना आदि से निर्मित होने पर भी मकान उनका समूह मात्र नहीं है, उसकी अपनी एक विशेषता है। इसी प्रकार एक घड़ी भी अपने पुर्ज़ों का समूह मात्र नहीं है; उसमें भी एक व्यवस्था और सामंजस्य है। प्रत्येक पुर्ज़ा अपना कार्य व्यवस्थित रूप से करता है और अन्य पुर्ज़ों से सम्बद्ध है। यदि एक पुर्ज़े में खराबी आ जाय तो सारी घड़ी ही चलना बन्द कर देगी। एक पुर्ज़े की खराबी का प्रभाव अन्य सब पुर्ज़ों पर और पूरी घड़ी पर पड़ता है। इसी प्रकार किसी जीवित शरीर को ले लीजिये। शरीर विभिन्न अवयवों से बना है। प्रत्येक अवयव में प्राण हैं और प्रत्येक अवयव का अपना विशिष्ट कार्य है। प्रत्येक अवयव अन्य अवयवों से और अवयवी से सम्बद्ध है। अवयवों में गति है, प्रगति है, क्रिया है, जीवन है, वृद्धि है, विकास है। एक अवयव के विकार का प्रभाव अन्य सब अवयवों पर और अवयवी पर पड़ता है। शरीर अवयवों का समुदाय है और आत्मा उसका अवयवी है जो प्रत्येक अवयव में अन्तर्यामी होकर उसको अनुप्राणित करता है। अवयव और अवयवी का सम्बन्ध जीवित सम्बन्ध है। अवयवी अवयवों से भिन्न नहीं है क्योंकि उन्हीं में अन्तर्यामी है; फिर भी, अवयवी को अवयवों का समूहमात्र नहीं कह सकते, उसकी अपनी विशिष्ट सत्ता भी है। अवयव भिन्न-भिन्न हैं; अवयवी इन भेदों में व्याप्त अभेद है। इसीलिये अवयवी को व्यक्ति या समष्टि या मूर्त सामान्य या विशिष्टाद्वैत तत्व कहा जाता है। निरपेक्ष विज्ञान का और विश्व के समस्त पदार्थों का सम्बन्ध, अवयवी और उसके अवयवों का जीवित सम्बन्ध है। निरपेक्ष विज्ञान, जो हेगल का एकमात्र परमतत्व है, समस्त विश्व में अन्तर्यामी अवयवी है। प्रत्येक पदार्थ उसी की सत्ता से अनुप्राणित है और अपने सीमित रूप में उसी की अभिव्यक्ति करता है। अतः इस निरपेक्ष विज्ञानरूप परमतत्व के लिये हेगल ने समष्टि, व्यक्ति, मूर्त सामान्य या विज्ञान,

विशिष्टाद्वैत तत्व, स्व-चेतन, अवयवी, अङ्गी, अन्तर्यामी, आत्मा आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिनका हम स्पष्टीकरण कर चुके हैं।

यह निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान (Abstract or Logical Idea) के रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान शुद्ध विषयी के के रूप में होता है। यह अपने आप में ही प्रतिष्ठित शुद्ध अभेदरूप है (Idea-in-itself) और इसलिये यह अपूर्ण है। विषयी को सदा विषय की अपेक्षा होती है, ज्ञाता को सदा ज्ञेय की अपेक्षा होती है। अतः विज्ञान फिर विषय या जड जगत् या प्रकृति के रूप में प्रतीत होता है। यह विज्ञान का बाह्यरूप (Idea-outside-itself) है। यह शुद्ध भेदरूप है। चैतन्य यहाँ सुप्त प्रतीत होता है। यह सुप्त चैतन्य फिर अपने विकास के लिये उन्मुख होता है। जड-जगत् से वनस्पति-जगत् में यह प्राण-रूप हो जाता है और फिर पशु-जगत् में चेतन बन जाता है। मानव-आत्मा में जाकर यह स्व-चेतन बनता है। स्व-चेतन में विषयी और विषय का द्वैत विरोध रूप में नहीं रहता; उसका समन्वय हो जाता है। अब यह विज्ञान न केवल अभेद है और न केवल भेद; अब यह भेद विशिष्ट अभेद बन गया है। अमूर्त विज्ञान बाह्य-विज्ञान से संवलित होकर अब मूर्त विज्ञान (Idea-in-and-for-itself) बन गया है। अब इसने अपने निरपेक्षत्व और पूर्णत्व को पा लिया है। अमूर्त विज्ञान का विकास बाह्य विज्ञान द्वारा मूर्तविज्ञान के रूप में हो, यही सृष्टि का प्रयोजन है। विश्व के समस्त पदार्थ इस विकास के विभिन्न स्तर हैं और इस विकास की पूर्णता के लिये गतिशील हैं। जिसको हम वस्तु-जगत् कहते हैं वह विज्ञान का ही बाह्यरूप है। वह पहले भी विज्ञानरूप था और बाद में भी विज्ञानरूप रहता है। अमूर्त विज्ञान प्रकृति के रूप में इसीलिये परिणत होता है कि उसके द्वारा वह मूर्त विज्ञान बनकर अपने असली स्वरूप का लाभ करे। इस विकास के पीछे वस्तुतः निरपेक्ष विज्ञान की ही सत्ता है जिसको प्राप्त करने के लिये ही यह विकास होता है, किन्तु यह विकास निषेध या विरोध के द्वारा होता है जिसका हेगल के दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अतः अब हम इस निषेध का विवेचन करेंगे।

हेगल का दर्शन विज्ञान का विकासवाद है। जिस शक्ति के कारण विकास सम्भव होता है उसका नाम है—निषेध (Negation) या विरोध (Contradiction)। लोग निषेध या विरोध से घबराते हैं; किन्तु हेगल के अनुसार इसमें भय की कोई बात नहीं। निषेध या विरोध के कारण ही गति, प्रगति, जीवन, वृद्धि, विकास आदि सम्भव होते हैं। निषेध या विरोध प्राण-स्पन्दन है; इसका अभाव मृत्यु है। वस्तुतः निषेध या विरोध 'दुःखशमनी शून्यता' या 'अभय पद' है; लोग इससे व्यर्थ ही घबराते हैं, अभय में भय की कल्पना करते हैं।[1]

---

१. 'शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ?'
'अभय भयदर्शिनः।'

इस निरर्थक भय का कारण निषेध या विरोध के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान है। हेगल के अनुसार पूर्ववर्ती पाश्चात्य दार्शनिकों ने इसके स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझा। हेगल ने लिखा है—"अभी तक यह तर्कशास्त्र का एक गहरा अन्ध-विश्वास और जन-साधारण में प्रचलित धारणा है कि विरोध तत्व के लिये उतना आवश्यक नहीं जितना तादात्म्य; किन्तु वस्तुतः विरोध के आगे तादात्म्य एक निर्जीव वस्तु प्रतीत होता है। विरोध समस्त गति और जीवन का स्रोत है; किसी वस्तु की गति, शक्ति या कार्यरूप में परिणति, तभी संभव हो सकती है जब उसमें विरोध हो।" हेगल के अनुसार निषेध "अखिल विश्व का प्राण" है। किसी वस्तु की अनिवार्य सत्ता के प्रतिपादन के लिये उसके निषेध के निषेध से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। यदि किसी वस्तु के 'निषेध का निषेध' या 'विरोध का विरोध' सिद्ध हो जाय, तो उस वस्तु की सत्ता अनिवार्यतया सिद्ध हो जाती है। अब तक तर्कशास्त्र का विषय अमूर्त विज्ञानों का विवेचन रहा है। ये अमूर्त विज्ञान हमारी कल्पनामात्र हैं और तर्कशास्त्र का कार्य अपने स्वतःसिद्ध 'तादात्म्य-नियम', 'विरोध-नियम' और 'मध्यम-योग-परिहार-नियम' द्वारा इन काल्पनिक विज्ञानों के परस्पर सम्बन्धों को सिद्ध या असिद्ध करना रहा है। तादात्म्यनियम के अनुसार 'क सदा क है' अर्थात् प्रत्येक वस्तु सदा एक-रूप रहती है; वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। किन्तु यह सिद्धान्त पुनरुक्तिमात्र है। और फिर इस परिवर्तनशील जगत् में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सदा एक-रूप रह सके? यह सत्य है कि नित्य अधिष्ठान के बिना परिवर्तन संभव नहीं होता; किन्तु इस सत्य को उपर्युक्त तादात्म्यनियम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। विरोध-नियम के अनुसार 'क, ख और अ-ख दोनों नहीं हो सकता' अर्थात् कोई भी वस्तु एक साथ सत् और असत् दोनों नहीं हो सकती; एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक वास्तविक पदार्थ में विरोधी धर्मों का रहना अनिवार्य है। प्रत्येक वस्तु में यह शक्ति होती है कि वह अपने विरोधी को जन्म दे। मध्यम-योग-परिहार-नियम के अनुसार 'क या तो ख है या अ-ख है' अर्थात् प्रत्येक वस्तु या तो सत् है या असत् है; सदसदनिर्वचनीय की कल्पना असंभव है; प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी धर्मों में से एक धर्म का रहना अनिवार्य है। यह नियम भी विरोध-नियम का ही दूसरा रूप है और उसी के समान यह भी असंभव है, क्योंकि प्रत्येक वास्तविक पदार्थ में दोनों विरोधी धर्म रहते हैं। हेगल के अनुसार तर्कशास्त्र के ये नियम तर्कशास्त्रियों की कल्पनामात्र हैं। ये नियम तर्कशास्त्र के काल्पनिक अमूर्त विज्ञानों पर भले ही लागू होते हों, किन्तु वस्तु-जगत् में ये लागू नहीं हो सकते। वास्तविक पदार्थ इन नियमों के नियन्त्रण में नहीं रहते। हेगल के अनुसार विज्ञान ही तत्व है और विज्ञान अमूर्त न होकर मूर्त सामान्य रूप है। इन वास्तविक विज्ञानों पर ये नियम लागू नहीं हो सकते।

पूर्वोक्त तीनों नियमों का आधारभूत नियम 'विरोध-नियम' है। विरोध को तर्कशास्त्रियों ने ग़लत समझा है। उनके अनुसार सच्चा विरोध 'आत्यन्तिक विरोध' होता है। वैसे तो तर्कशास्त्रियों ने चार प्रकार के विरोध माने हैं--समावेश (Subalternation), विरोध (Contrariety), उप-विरोध (Sub-contrariety) और आत्यन्तिक विरोध (Contradiction)। इनमें समावेश तो विरोध है ही नहीं और उप-विरोध विरोध के अन्तर्गत आ जाता है। अतः विरोध दो प्रकार का रह जाता है--विरोध और आत्यन्तिक विरोध। इन दोनों में भी असली विरोध, इन तर्कशास्त्रियों के अनुसार, आत्यन्तिक विरोध ही है। 'विरोध-नियम' में विरोध से तात्पर्य आत्यन्तिक विरोध से ही है। किसी वस्तु में दो आत्यन्तिक विरोधी धर्म नहीं रह सकते। हेगल इस नियम को मिथ्या सिद्ध नहीं करते। कई लोगों ने हेगल पर यह आक्षेप किया है कि हेगल ने विरोध-नियम की अवहेलना करके उसको मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह आक्षेप ग़लत है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यही कह देना पर्याप्त है कि हेगल ने न तो विरोध-नियम को मिथ्या सिद्ध किया है (यह असम्भव है) और न इसकी अवहेलना की है (यह भी असम्भव है)। हेगल ने विरोध-नियम को उस रूप में स्वीकार नहीं किया जिस रूप में वह तर्कशास्त्रियों को मान्य रहा है। हेगल का मत है कि आत्यन्तिक विरोध असम्भव है। विरोध सदा भेद-रूप (Difference) होता है। यह भेद तर्कशास्त्रियों का 'केवल विरोध' (Contrariety) है, 'आत्यन्तिक विरोध' (Contradiction) नहीं। जब आत्यन्तिक विरोध की वस्तु-जगत् में सत्ता ही नहीं, तो यह कहना कि ('किसी भी वस्तु में दो आत्यन्तिक विरोधी धर्म नहीं रह सकते' व्यर्थ है। श्वेत और अ-श्वेत में आत्यन्तिक विरोध माना जाता है तथा श्वेत और कृष्ण में केवल विरोध। वस्तुतः देखा जाय तो श्वेत रंग और 'अ-श्वेत' में क्या विरोध हो सकता है? 'अ-श्वेत' के अन्तर्गत श्वेतरंग को छोड़ कर संसार के सभी पदार्थ आ जाते हैं। ईश्वर, कर्तव्य, विश्वविद्यालय आदि भी 'अ-श्वेत' हैं। यदि कोई कहे, 'श्वेत रंग ईश्वर नहीं है' या 'श्वेत रंग विश्वविद्यालय नहीं है', तो कितना हास्यास्पद होगा! विरोध वहीं हो सकता है जहाँ अभेद-मूलक भेद हो। अभेद-मूलक भेद 'केवल विरोध' (Contraries) में सम्भव है, अतः असली विरोध भी यही है। उदाहरणार्थ, श्वेत और कृष्ण। दोनों में भेद है, किन्तु दोनों में अभेद भी है क्योंकि दोनों रंग हैं। यह कथन कि 'श्वेत रंग कृष्ण रंग नहीं है' उचित प्रतीत होता है। श्वेत रंग कृष्ण रंग से भिन्न है, किन्तु दोनों में 'रंग' की एकता अनुगत है। यह विरोध अपरिहार्य भी नहीं है, क्योंकि श्वेत और कृष्ण के सम्मिश्रण से एक नया रंग बनाया जा सकता है। अतः हेगल के अनुसार विरोध कभी आत्यन्तिक विरोध नहीं हो सकता; विरोध का असली अर्थ है भेद। और भेद

सदा अभेद-मूलक होता है। बिना अभेद के भेद टिक नहीं सकता। भेद गौण है और अभेद का विशेषण है। किन्तु विशेषण रूप से भेदा सदा अभेद के साथ लगा रहता है। 'निर्विशेष' नामक कोई वस्तु नहीं। प्रत्येक वस्तु, यदि वह सत् है तो, सदा विशिष्टाद्वैतरूप होगी। प्रत्येक वस्तु में यह शक्ति है कि वह भेद को उत्पन्न करे और फिर उस भेद को अपना विशेषण बना कर अपने स्वरूप में सम्मिलित कर ले।

हेगल के अनुसार निषेध या विरोध का अर्थ स्पष्ट करके अब हम उनके सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। हेगल के अनुसार जो कुछ है वह सब निरपेक्ष विज्ञान का विकासमात्र है। यह विकास निषेध या विरोध के कारण संभव होता है। निषेध या विरोध शक्ति है, जीवन है, प्राण है, गति है, प्रगति है, वृद्धि है, विकास है। विज्ञान का विकास त्रिक-रूप (Triadic) में होता है। ये तीन रूप हैं—पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Anti-thesis) और समन्वय (Synthesis)। हेगल के इस सु-प्रसिद्ध सिद्धान्त का नाम है 'द्वन्द्व-मूलक समन्वय' (Dialectic) जिसे हमें 'भेद विशिष्ट अभेद' या संक्षेप में 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त कह सकते हैं। सत् और असत्, विधि और निषेध, अभेद और भेद, सत्ता और विरोध, पक्ष और प्रतिपक्ष, दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। दोनों अपूर्ण हैं। इस अपूर्ण को पूर्ण मानते ही उसमें से, उसकी अपूर्णता को सूचित करता हुआ, उसका विरोधी निकल पड़ता है। पक्ष में से प्रतिपक्ष का निकल पड़ना स्वाभाविक है। प्रत्येक अपूर्ण विज्ञान अपने विरोधी विज्ञान को उत्पन्न करता है। इस विरोध-शक्ति से ही उसका विकास होता है। किन्तु तत्व का स्वभाव विरोध नहीं हो सकता, अतः इस विरोध का शमन भी आवश्यक हो जाता है। विरोध भेद-रूप है और भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। अतः इस विरोध या भेद में अनुगत अभेद को खोजने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता के कारण पक्ष और प्रतिपक्ष का, अभेद और भेद का, सामञ्जस्य करना पड़ता है। यह सामञ्जस्य 'समन्वय' में होता है। यह समन्वय भेद विशिष्ट अभेद या विशिष्टाद्वैत है। किन्तु यह समन्वय भी अपूर्ण है और इसीलिये यह स्वयं एक पक्ष बन जाता है। पक्ष बनते ही इसमें से फिर इसका प्रतिपक्ष निकल पड़ता है। और फिर इन पक्ष और प्रतिपक्ष के समन्वय की आवश्यकता होती है। यह समन्वय भी फिर पक्ष बन जाता है और फिर यही त्रिक-क्रम चलता रहता है। जब तक अपूर्णता है तब तक यह क्रम चलता रहेगा। यह क्रम तभी समाप्त होगा जब हम निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान पर पहुँच जायँगे। पूर्ण विज्ञान पूर्ण समन्वय है। यह पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि पक्ष वही बनता है जो अपूर्ण हो। समस्त विश्व इस पूर्ण विज्ञान का भेद है और यह पूर्ण विज्ञान उसमें अनुगत अभेद है। यह पूर्ण विशिष्टाद्वैतरूप है। समस्त विश्व इसका विशेषण है और यह विश्व में

अन्तर्यामी है। विश्व के समस्त पदार्थ इसके अवयव हैं और यह उनका अवयवी है। विश्व इसका शरीर है, यह विश्व की आत्मा है। इस विश्वात्मा को पाने के लिये ही सृष्टि का विकास होता है। समस्त भेद, निषेध या विरोध के पीछे इसकी ही शक्ति है। प्रत्येक वस्तु इसको पाने के लिये विकासोन्मुख है। यह अभेद भेद-बाह्य नहीं है। यह पूर्ण विज्ञान विश्व के पार नहीं है। यह विश्व में ही अनुस्यूत है। प्रत्यक वस्तु इसी से अनुप्राणित है और न्यूनाधिकरूप में इसकी अभिव्यक्ति करती है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। अतः समन्वय को 'निषेध का निषेध' या 'विरोध का विरोध' कहते हैं। वस्तुतः सत्ता समन्वय की ही है। पूर्ण विज्ञान पूर्ण समन्वय है। अतः पूर्णविज्ञान की निरपेक्ष और पूर्ण सत्ता है--'चित् ही सत् है', 'बोध ही सत्ता है।' अन्य सब विज्ञान अपूर्ण समन्वय हैं। अतः उनकी अपूर्ण सत्ता है। अन्य सब विज्ञान पूर्ण विज्ञान की विविध अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं। इन विज्ञानों में तारतम्य है। जिस विज्ञान में समन्वय की मात्रा जितनी अधिक है, वह उतना हो कम अपूर्ण है, वह पूर्णता की ओर उतना ही अधिक अग्रसर है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध ही दूर होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष का विनाश नहीं होता। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों परस्पर अविरुद्ध होकर समन्वय के विशेषण या अंग बन जाते हैं। इस कारण इस विकास में कोई वस्तु पीछे नहीं छूटती, किसी वस्तु का नाश नहीं होता, किसी वस्तु का निराकरण या अपलाप नहीं होता। पक्ष और प्रतिपक्ष में जो विरोध रूपी दोष था, उस दोष का ही निराकरण होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष, अपना स्वरूप छोड़ कर और समन्वय के विशेषण बन कर उसके उन्नत स्वरूप के अङ्ग बन जाते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष के समस्त गुण समन्वय के गुणों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार इस विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। पूर्ण विज्ञान में समस्त विश्व के गुण विद्यमान हैं। यह "अशेषकल्याणगुणसम्पन्न" है।

दर्शनशास्त्र विज्ञान की इस यात्रा का इतिहास है। विज्ञान की प्रगति 'रिक्त सत्' (Bare Affirmation) से प्रारम्भ होकर 'असत्' (Negation) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, सदसत् में व्याप्त रहते हुये भी सदसद्विलक्षण 'पूर्ण सत्' (Reaffirmation) की ओर होती है; 'मण्डन' (Construction) से प्रारम्भ होकर 'खण्डन' (Destruction) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, मण्डन-खण्डन में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण 'पुनर्मण्डन' (Reconstruction) की ओर होती है; 'अमूर्त सामान्य' (Abstract Universal) से प्रारम्भ होकर 'विशेषों' (Particular) में होती हुई और उन्हें भी अपने साथ लेती हुई, सामान्य-विशेष में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण 'मूर्त सामान्य' (Concrete Universal) या 'पूर्ण व्यक्तित्व' (Individual) की ओर होती है; 'अपरोक्ष इन्द्रियानुभूति' (Immediacy) से

प्रारम्भ होकर 'बुद्धि-विकल्पों' (Mediacy) में होती हुई और उन्हें भी अपने साथ लेती हुई, दोनों में व्याप्त और दोनों से विलक्षण 'स्वानुभूति' (Self-Mediation) की ओर होती है; 'अभेद या अद्वैत '(Unity) से प्रारम्भ होकर 'भेद या द्वैत' (Difference) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, भेदाभेद या द्वैताद्वैत में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण भेदान्तर्यामी अभेद या विशिष्टाद्वैत (Unity-in-difference) की ओर होती है। स्पष्ट है कि विज्ञान की प्रगति पक्ष से प्रारम्भ होकर प्रतिपक्ष में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में व्याप्त रहते हुये भी दोनों से विलक्षण एक अद्वितीय समन्वय की ओर होती है। विरोध, निषेध या भेद कोई भयानक या अवाच्छनीय वस्तु नहीं है। यह तो विश्व का प्राण है। किन्तु विरोध तत्व का स्वरूप नहीं है। अतः इसका समाधान भी अवश्य होना चाहिये। यह समाधान होता है समन्वय में। समन्वय विरोध का ही बाध करता है, पक्ष और प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं करता। और न समन्वय, पक्ष और प्रतिपक्ष का योगमात्र है; वह दोनों से विलक्षण नई वस्तु है। उदाहरण के लिये, अंडे से पक्षी उत्पन्न होता है और एक शिशु बालक होकर युवक बनता है। अंडा पक्ष है; अंडे के भीतरी भाग का धीरे-धीरे लोप होना प्रतिपक्ष है; अंडे में से पक्षी निकलना समन्वय है। शैशव पक्ष है; बाल्यावस्था प्रतिपक्ष है; युवावस्था समन्वय है। अब क्या यह कथन सत्य होगा कि पक्षी ने अंडे और उसके भीतरी भाग का नाश कर दिया या युवावस्था ने शैशव और बाल्यावस्था का नाश कर दिया? क्या पक्षी में अंडा और उसका भीतरी भाग तथा युवावस्था में शैशव और बाल्यावस्था प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान नहीं है? और क्या अंडे और उसके भीतरी भाग में पक्षी तथा शैशव और बाल्यावस्था में युवावस्था गुप्त और निकृष्ट रूप में विद्यमान नहीं हैं? विज्ञान के विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। वह उत्कृष्ट वस्तु का अंग बनती है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष अपने विरोध को छोड़ कर प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहते हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों मिल कर समन्वय के रूप में विकसित होते हैं। और यह विकास तभी संभव हो सकता है जब समन्वय, पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में अन्तर्निहित हो। अतः समन्वय भी पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में गुप्त रूप से अनुगत रहता है। विकास का अर्थ है इस गुप्त शक्ति को प्रकट रूप देना। यह प्रकट रूप 'विरोध' और फिर 'विरोध के विरोध' द्वारा संभव होता है। समस्त विश्व में निरपेक्ष विज्ञान गुप्त रूप से अन्तर्निहित है। विश्व के विकास का अर्थ इस गुप्त रूप को प्रकट करना, इस सुप्त शक्ति को जाग्रत् करना, अपने विस्मृत स्वरूप को प्राप्त करना है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि हेगल ने तर्क के 'विरोध-नियम' को तिलाञ्जलि दे दी है। किन्तु यह आक्षेप मिथ्या है। यह सत्य है, जैसा हम ऊपर बता चुके

हैं कि हेगल को 'विरोध-नियम' उस रूप में स्वीकार नहीं है जिस रूप में तर्क-शास्त्री उसे मानते चले आ रहे थे। हेगल का तर्क अमूर्त विज्ञानों का तर्क नहीं है; वह मूर्त विज्ञानों का तर्क है। हेगल के अनुसार वस्तु-जगत् में आत्यन्तिक विरोध असम्भव है। विरोध का असली अर्थ है भेद। भेद सदा अभेद पर आश्रित रहता है। भेद गौण है और अभेद के विशेषण के रूप में ही उसकी सत्ता है। अतः विरोध भी गौण है। वह केवल साधन रूप है। साध्य है विशिष्टाद्वैतरूप समन्वय। विरोध-नियम को मानने के कारण ही हेगल के दर्शन में समन्वय की आवश्यकता होती है। विज्ञान इतना अशक्त नहीं कि वह विरोध-जाल से स्वयं को मुक्त न कर सके। विरोध प्रगति का आवश्यक साधन है, किन्तु है साधन ही, साध्य नहीं। तत्व का स्वरूप विरोध नहीं है। अतः इस विरोध का अतिक्रमण करने की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति समन्वय करता है। समन्वय 'विरोध का विरोध' या' 'निषेध का निषेध' या 'भेद विशिष्ट अभेद' है। विरोध रहता अवश्य है, किन्तु उसका विषैला डंक निकाल दिया जाता है। भेद की सत्ता अवश्य है, किन्तु वह अभेद के विशेषण के रूप में ही। द्वितीय, यह भी स्मरणीय है कि इस विरोध में शक्ति निरपेक्ष विज्ञान से ही आती है। निरपेक्ष विज्ञान समस्त विश्व में गुप्त रूप से अन्तर्निहित है। विकास का अर्थ इस गुप्त स्वरूप को प्रकट करना है। निरपेक्ष विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब विज्ञान अपूर्ण हैं। यह अपूर्णता ही भेद का मूल है। जब अपूर्ण विज्ञान को भ्रमवश पूर्ण मान लिया जाता है, तो उसकी अपूर्णता बलात् फट पड़ती है और उसमें से ही उसका विरोधी उपस्थित हो जाता है। अतः अपूर्णता-निष्ठ विरोध में शक्ति पूर्ण-विज्ञान से ही आती है; विरोध में स्वयं शक्ति नहीं है। तृतीय, इस विरोध के कारण किसी वस्तु का निराकरण या अपलाप नहीं होता। विकास में कोई वस्तु परित्यक्त नहीं होती। उसको उत्कृष्ट बनाकर समन्वय में संगृहीत कर लिया जाता है। प्रत्येक वस्तु में यह शक्ति है कि वह अपने विरोधी को उत्पन्न करके फिर उसे आत्म-सात् कर ले। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों विशेषण रूप से विद्यमान रहते हैं। विरोध विकास का आवश्यक साधन है। अतः यह कथन कि हेगल को विरोध-नियम मान्य नहीं, दुःसाहस मात्र है।

हेगल के अनुसार निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त विज्ञान के रूप में प्रतीत होता है, फिर बाह्य विज्ञान या प्रकृति के रूप में और फिर समन्वयात्मक मूर्त विज्ञान या आत्म-तत्व के रूप में। इन तीनों अर्थात् अमूर्त विज्ञान, बाह्य विज्ञान और मूर्त विज्ञान के आधार पर हेगल के दर्शन के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड 'तर्क शास्त्र' (Logic) है जो अमूर्त विज्ञान का अध्ययन करता है। द्वितीय खण्ड 'प्रकृति-विज्ञान' (Philosophy of Nature) है जो बाह्य विज्ञान का अध्ययन

करता है। तृतीय खण्ड 'आत्म-विज्ञान' (Philosophy of Spirit) है जो मूर्त-विज्ञान का अध्ययन करता है। अब हम इन तीनों खण्डों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

तर्कशास्त्र का विषय है अमूर्त विज्ञान। अमूर्त विज्ञान से तात्पर्य है सृष्टि के पूर्व निरपेक्ष विज्ञान की स्थिति से। विज्ञान और वस्तु में, चित् और सत् में, बोध और सत्ता में कोई अन्तर नहीं। अतः विज्ञान का अध्ययन वस्तु-जगत् का अध्ययन है, क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं। हेगल का त्रिक-नियम सर्वत्र चलता है। अमूर्त विज्ञान (Logical Idea) के तीन मुख्य रूप हैं—सत्ता (Being), स्वरूप (Essence) और विज्ञान (Notion)। सत्ता पक्ष है; स्वरूप प्रतिपक्ष है; विज्ञान समन्वय है। सत्ता के भी तीन रूप हैं—गुण (Quality), परिमाण (Quantity) और मात्रा (Measure), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। स्वरूप के भी तीन रूप हैं—अधिष्ठान (Ground), प्रतीति (Appearence) और वास्तविकता (Actuality)। वास्तविकता के भी तीन रूप हैं।—द्रव्य-गुण-भाव, कार्य-कारण-भाव और अन्योन्य-भाव। विज्ञान के भी तीन रूप हैं—आत्म-गत विज्ञान (Subjective Notion), विषय-गत विज्ञान (Objective Notion) और निरपेक्ष विज्ञान (Idea), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय रूप हैं।

हेगल के विज्ञानों से निर्मित इस विशाल दार्शनिक प्रासाद के सूक्ष्म निरीक्षण के चक्कर में न पड़ कर हम मुख्य विषयों का ही वर्णन करेंगे। हेगल के त्रिक-नियम की सार्वपथीनता अबाध है। विज्ञान की यात्रा में यह सर्वत्र लागू होता है, क्योंकि विकास का आधार यह द्वन्द्व-मूलक समन्वय ही है। उदाहरण के लिये 'सत्ता' को ले लें। सत्ता की धारणा से ही हमारे ज्ञान का आरम्भ होता है। यह अत्यन्त व्यापक धारणा है। इससे कोई वस्तु नहीं बचती। जिस वस्तु का भी हम विचार करते हैं। उसकी सत्ता कम से कम हमारे ज्ञान में तो है ही। 'असत्' की भी, कम से कम विचार के रूप में ही, सत्ता है। सत्ता की धारणा सबसे व्यापक सामान्य है। सत्ता परम अमूर्त विज्ञान है। किन्तु साथ ही 'शुद्ध सत्ता' से कोई अर्थ भी नहीं निकलता। शुद्ध सत्ता निर्विशेष है और निर्विशेष का ज्ञान नहीं होता। अतः केवल सत्ता से हमें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। 'अमुक वस्तु है'—इस कथनमात्र से उस वस्तु के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता। किसी वस्तु के धर्म या गुण या विशेष जाने बिना उस वस्तु का ज्ञान संभव नहीं। अतः 'अस्ति' में से 'नास्ति' निकल आता है। किसी वस्तु के लिये केवल 'अस्ति' शब्द का प्रयोग, उस वस्तु के ज्ञान की दृष्टि से, उतना ही निरर्थक है जितना उसके लिये 'नास्ति' शब्द का प्रयोग। हेगल की प्रसिद्ध उक्ति है—'शुद्ध सत् शुद्ध असत् है' अर्थात् शुद्ध सत्ता और शुद्ध शून्य में कोई भेद नहीं क्योंकि दोनों

निर्विशेष हैं।[1] 'अस्ति' (Being) पक्ष है; 'नास्ति' (Non-Being) प्रति-है। दोनों अपूर्ण हैं। दोनों का विरोध मिटाने के लिये इनका समन्वय आवश्यक है। यह समन्वय है--'परिणति' (Becoming)। परिणति या परिणाम में अस्ति और नास्ति दोनों का समावेश हो जाता है। परिणाम के लिये एक अपरिणामी अधिष्ठान की आवश्यकता है; यह अधिष्ठान 'सत्' या 'अस्ति', रूप है। किन्तु विश्व में कोई वस्तु स्थिर नहीं; सब परिवर्तन-शील हैं। यह परिवर्तन होता है धर्मों या गुणों में या पर्यायों में। अतः पर्याय रूप में वस्तु 'नास्ति'-रूप या 'असत्' है।[2] इस प्रकार 'परिणति', 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों का समन्वय है। दोनों इसमें विकसित हुये हैं। हेगल के दर्शन का यह प्रथम त्रिक है। अन्तिम त्रिक है—आत्म-गत विज्ञान या जीव (पक्ष); विषय-गत विज्ञान या प्रकृति (प्रतिपक्ष) और निरपेक्ष विज्ञान या विशुद्ध आत्म-तत्व (समन्वय)। यह निरपेक्ष विज्ञान कभी पक्ष नहीं बनता, क्योंकि यह पूर्ण है। 'शुद्ध सत्' से लेकर इस 'निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान' तक जितने भी विज्ञान हैं वे सब सृष्टि के वास्तविक पदार्थ हैं और इस पूर्ण विज्ञान को पाने के लिये निरन्तर विकासोन्मुख हैं। इन विज्ञानों (Categories) में उत्कर्षायकर्ष का तारतम्य है क्योंकि ये सब समन्वयात्मक पूर्ण विज्ञान (Absolute) को विविध रूपों में अभिव्यक्त करते हैं।

हेगल ने हमारे ज्ञान के तीन स्तर माने हैं। प्रथम स्तर है साधारण ज्ञान का, जिसमें हम विश्व की वस्तुओं को अलग अलग देखते हैं। यह इन्द्रिय-सम्वेदन-जन्य ज्ञान का स्तर है। द्वितीय स्तर है वैज्ञानिक ज्ञान का, जिसमें हम वस्तुओं के व्यापक नियमों की खोज करते हैं। यह स्तर सविकल्प बुद्धि का है। तृतीय और सर्वोच्च स्तर है दार्शनिक ज्ञान का, जिसमें वस्तुओं को विज्ञानों के रूप में अर्थात् अन्तर्यामी समन्वयात्मक पूर्ण विज्ञान की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में देखा जाता है। यह प्रज्ञा का स्तर है। यह परमतत्व के दर्शन का स्तर है।

हेगल के दर्शन का द्वितीय खण्ड है प्रकृति-विज्ञान। प्रकृति वस्तुतः विज्ञान से भिन्न नहीं है। वह विज्ञान का ही बाह्य रूप है। विज्ञान बाह्य रूप में क्यों प्रतीत होता है? इस प्रश्न का उत्तर है--मूर्त विज्ञान या समन्वयात्मक आत्म-तत्व बनने के लिये। विज्ञान इतना अशक्त नहीं कि वह अपने अमूर्त रूप में ही रहे। वह बाह्य प्रकृति का रूप भी लेता है ताकि वह विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत से ऊपर उठ कर अपने समन्वयात्मक आत्म-रूप का साक्षात्

१. सविशेषब्रह्मवादी वेदान्तियों ने भी निर्विशेष ब्रह्म और निर्विशेष शून्य को एक सा बताया है।

२. जैनों का स्याद्वाद। वस्तु द्रव्यरूप में सत् और पर्यायरूप में असत् है।

कर सके। अमूर्त विज्ञान इसलिये बाह्य विज्ञान बनता है कि उसके द्वारा वह मूर्त विज्ञान बन सके। विज्ञान इसलिये बाहर जाता है कि वह उत्कृष्ट होकर भीतर लौटे। जो व्यक्ति विदेश घूम आता है वह अपने देश को और अच्छी तरह से जान लेता है।

प्रकृति में भी द्वन्द्व-मूलक समन्वय है। प्रकृति के तीन रूप हैं--जडरूप, रासायनिकरूप और प्राणरूप, जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय है। जडरूप सन्मात्र है। उससे गति उत्पन्न होती है, जैसे सत्ता से परिणाम होता है। जडरूप में यान्त्रिकता का साम्राज्य है। इस रूप में चैतन्य पूर्णतया सुप्त है। धीरे धीरे चैतन्य या विज्ञान का स्फुरण होने लगता है और जडरूप रासायनिक-रूप में विकसित होता है। इस रूप में गुण-गत भेद उत्पन्न होते हैं। इससे पहले जडरूप में केवल परिमाण भेद थे। अब प्रकाश, ताप, विद्युत् आदि शक्तियों का आविर्भाव होता है। जडरूप और रासायनिकरूप का समन्वय होता है प्राण-रूप में। अब वनस्पति-सृष्टि का विकास होता है। फिर वनस्पति-सृष्टि से पशु-सृष्टि का विकास होता है। पशु-जगत् में प्राण के साथ-साथ सम्वेदन शक्ति का भी आविर्भाव होता है और विज्ञान के आविर्भाव का मार्ग तैयार हो जाता है। पशु-जगत् का सर्वोच्च रूप मानव-शरीर है। यहाँ प्रकृति का विकास पूर्ण हो जाता है और चित्-शक्ति का विकास प्रारम्भ होता है।

अब हम हेगल के दर्शन के तृतीय खण्ड पर आते हैं। यह है आत्म-विज्ञान। यह चित्-शक्ति का जगत् है। चित्-शक्ति के तीन रूप हैं--विषयि-विज्ञान, विषय-विज्ञान और निरपेक्ष विज्ञान। चित्-शक्ति का विकास मानव-जीवन के विकास का इतिहास है। अमूर्तविज्ञान प्रकृति-विज्ञान को साथ लेकर मूर्तविज्ञान के रूप में विकसित होता है। आत्मा मानव-शरीर में अधिष्ठित रह कर किस प्रकार निरपेक्ष विज्ञान की ओर विकसित होती है, यह इस आत्म-विज्ञान का विषय है। यह मानव की संस्कृति और सभ्यता का क्रमिक विकास है।

पहले विषयि-विज्ञान (Subjective Spitit) पर विचार करें। यह विज्ञान का जीव-निष्ठ रूप है। मानव के व्यक्तित्व में चेतना और स्वतन्त्रता अर्थात् ज्ञान और संकल्प मुख्य हैं। जीव ज्ञाता है और संकल्प-सृष्टि में स्वतन्त्र है। वह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता है। अपने संकल्प के अनुरूप सृष्टि का निर्माण करने का उसमें सामर्थ्य है। किन्तु सृष्टि के आदि काल में मानव की चित्-शक्ति और संकल्प-शक्ति विकसित नहीं थी। उस समय सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) और मनोवेग (Emotions) मानव पर शासन करते थे। फलतः व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधा मानव का एकमात्र लक्ष्य थी। जैसे जैसे चित्-शक्ति का विकास होता गया, वैसे वैसे ही मानव ने अन्य

व्यक्तियों की चेतना और स्वतन्त्रता स्वीकार की। इस प्रकार व्यक्ति-चैतन्य से समाज-चैतन्य का विकास हुआ।

विषय-विज्ञान (Objective Spirit) का अर्थ है समाज-चैतन्य या समष्टि-चैतन्य। इस चैतन्य के कारण अधिकार और कर्तव्य की धारणाओं का विकास हुआ। इन धारणाओं पर सामाजिक नियम आश्रित हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अधिकार है। इस अधिकार से मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। समष्टि-चैतन्य के तीन रूप ये हैं--अधिकार (Right), नैतिक चेतना (Morality) और सामाजिक संस्थायें (Social Institutions), जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय हैं। अधिकार की भावना से सम्पत्ति-रक्षा और उसका आदान-प्रदान तथा अपराधों के लिये दण्डनीति का प्रादुर्भाव होता है। अधिकार-भावना के बाद सदसद्विवेकबुद्धि का उदय होता है और उसके कारण नैतिक चेतना जाग्रत् होती है। इस नैतिक चेतना के कारण व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व का समन्वय होता है। किन्तु नैतिक चेतना का पूर्ण विकास तब होता है जब उसके अनुरूप सामाजिक संस्थाओं का भी विकास हो। ये संस्थायें हैं--परिवार, नागरिक-समाज और राज्य-तन्त्र। विवाह-निर्मित परिवार के बिना समाज और समाज के बिना राज्य-तन्त्र संभव नहीं। परिवार की स्थिति समाज के लिये और समाज की स्थिति राज्य के लिये है। समाज का लक्ष्य व्यक्तियों का सुख है और राज्य का लक्ष्य निरपेक्षविज्ञान का आत्म-लाभ। इस आदर्श के लिये राज्य व्यक्तिगत लाभ का बलिदान कर सकता है। प्रजातन्त्र की अपेक्षा राज-तन्त्र अधिक उत्तम है। उन्नत समाजों और उन्नत राज्यों को अधिकार है कि वे कम उन्नत समाजों और राज्यों को अपने अधिकार में ले लें।

मानव-जाति का इतिहास असम्बद्ध घटनाओं का समूह नहीं है। वह सभ्यता और संस्कृति के क्रमिक विकास का इतिहास है। इतिहास में भी द्वन्द्व-नियम का शासन है। इतिहास का विकास आदर्श परिवार, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की ओर है। आदर्श राज्य, आदर्श होने के कारण, सर्वत्र है और कहीं नहीं है। विभिन्न ऐतिहासिक राज्य इस आदर्श राज्य की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति हैं। परवर्ती सभ्यता और संस्कृति पूर्ववर्ती सभ्यता और संस्कृति से अधिक उन्नत होती है। सभ्यता और संस्कृति का नेतृत्व अवनत जातियों से उन्नत जातियों के हाथों में जाता रहता है। विभिन्न राज्यों के संघर्ष और युद्ध वस्तुतः विचारों या आदर्शों के संघर्ष हैं। तोपों के पीछे विचारों का युद्ध रहता है। हेगल अपने समय के जर्मन राज्य को सबसे अधिक विकसित राज्य मानते थे। एशिया के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े क्षुद्र थे।

चित्-शक्ति का विकास आदर्श राज्य में जाकर समाप्त नहीं हो जाता। आदर्श राज्य में भी नियन्त्रण रहता ही है। पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति निरपेक्ष

विज्ञान (Absolute Spirit) में होती है। इस निरपेक्ष विज्ञान के तीन रूप हैं——कला, धर्म और दर्शन। कला निरपेक्ष विज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है। कलाओं में वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत और काव्य आते हैं। ये ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला वस्तु-निष्ठ हैं और संगीत तथा काव्य आत्म-निष्ठ। वस्तु-निष्ठ कला पक्ष है; संगीत प्रतिपक्ष; और और काव्य समन्वय। काव्य कला का सर्वोच्च रूप है। काव्य का बाल्यकाल महाकाव्य में, वयःसन्धि गीति-काव्य में और यौवन नाटक में अभिव्यक्त होता है। नाटक काव्य का सर्वोच्च रूप है।[1]

कला के ऊपर धर्म का स्थान है। कलात्मक अनुभूति का सर्वोच्च रूप धार्मिक अनुभूति है। धर्म के मुख्य तत्व हैं——ईश्वर, जीव और उनका सम्बन्ध। पूर्वी धर्मों में ईश्वर का प्राधान्य है; यूनानी धर्म में जीव का प्राधान्य है; ईसाई धर्म में ईश्वर और जीव का समन्वय ईसा मसीह के रूप में हुआ है। अतः ईसाई धर्म सर्वोत्तम है।

धर्म के ऊपर दर्शन का स्थान है। धर्म रूढ़िवाद से ग्रस्त हो जाता है। दर्शन में चेतना के स्वातन्त्र्य का पूर्ण विकास होता है। कला और धर्म में कल्पना प्रधान रहती है; दर्शन में विज्ञान का प्राधान्य है। कला पक्ष है; धर्म प्रतिपक्ष है; दर्शन समन्वय है। दर्शन के विकास में भी द्वन्द्व-नियम लागू रहा है। दर्शन का उत्तरोत्तर विकास होता गया है और हेगल के अनुसार उनके दर्शन में परम तत्व को पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

हेगल का यह निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान समन्वय की चरम सीमा है। यह स्वयं पक्ष नहीं बनता क्योंकि यह पूर्ण है। यह पूर्ण स्व-चेतन है। इसमें विषयी और विषय का, ज्ञाता और ज्ञेय का, जीव और जगत् का द्वैत परस्पर-विरोध के रूप में नहीं रहता। यह द्वैत इसके स्वरूप-भूत अद्वैत का विशेषण बन कर रहता है। यह पूर्ण विशिष्टाद्वैतरूप है। विश्व के समस्त पदार्थों में यह अन्तर्यामी है। समस्त विश्व इसका शरीर है; यह विश्व की आत्मा है। यह अवयवी, अङ्गी, मूर्त-सामान्य , समष्टि, पूर्ण व्यक्ति, पूर्ण स्व-चेतन, पूर्ण विशिष्टाद्वैत है। विश्व के समस्त पदार्थ इसके जीवित अवयव या अङ्ग हैं और न्यूनाधिक रूप में इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान के विकास के विविध स्तर हैं और सोपानवत् क्रमबद्ध हैं। निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों में अन्तर्यामी है। यह उनको अनुप्राणित करता है। यह उनकी गति, प्रगति, क्रिया, जीवन, वृद्धि, विकास का कारण है। निरपेक्ष विज्ञान स्वयं विश्व-विकास-रूप है। यह स्थिर और अगतिशील नहीं है। यह जीवित तत्व है। स्वयं प्रगतिरूप होते हुये

---

१ काव्येषु नाटकं रम्यम्।

भी यह समस्त प्रगति का मूल स्रोत है। यह सब विज्ञानों का समुदायमात्र नहीं है। ऐसा होता तो यह भी सापेक्ष हो जाता। यह पूर्ण और निरपेक्ष है और सब विज्ञानों का अन्तर्यामी आत्मा है। यह सब विज्ञानों का आदर्श है। प्रत्येक विज्ञान इसकी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। यह विज्ञानों में ही है; विज्ञानों से ऊपर या भिन्न नहीं है। जीव और जगत् रूपी समस्त विश्व इस पूर्ण विज्ञान के अन्तर्गत है। कोई वस्तु इससे भिन्न या पृथक् नहीं। समस्त विज्ञान इसके विशेषण या अंग हैं। सापेक्ष विज्ञानों में और इस निरपेक्ष विज्ञान में जीवित सम्बन्ध है। समस्त विज्ञान इससे पृथक् सिद्ध नहीं होते; अतः वे अपृथक्-सिद्ध कहलाते हैं। उनकी सत्ता निरपेक्ष विज्ञान के कारण ही है, उससे पृथक् नहीं। जीव और जगत् का द्वैत स्वचेतन की पूर्णता में समाविष्ट हो जाता है। समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान में प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान हैं; और यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों में गुप्त रूप से अनुस्यूत है। विकास का अर्थ इस गुप्त स्वरूप को प्रकट रूप में प्राप्त करना है। समस्त भेद इस निरपेक्ष विज्ञान के अन्तर्गत हैं, इससे बाह्य नहीं। स्वचेतन में ज्ञाता और ज्ञेय का, विषयी और विषय का, जीव और जगत् का पूर्ण ऐक्य हो जाता है। फिर भी भेद नष्ट नहीं होता, क्योंकि इस विकास में कोई वस्तु पीछे नहीं छूटती। भेद विशेषण रूप से विद्यमान रह कर इस अभेद को ही पुष्ट करता है। जो स्वरूप विभिन्न विज्ञानों में अपूर्ण रूप से विद्यमान है, वही स्वरूप इस निरपेक्ष विज्ञान में अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। अतः यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विश्व का आत्म-लाभ है। विश्व के प्रत्येक अणु अणु में इसकी ज्योति प्रकाशित हो रही है। यह स्वप्रकाश है और समस्त विश्व को प्रकाशित करता है। किसी भी अपूर्ण वस्तु को पूर्ण मानते ही उसकी अपूर्णता फट पड़ती है और उसमें से उसका विरोधी निकल पड़ता है। पक्ष और प्रतिपक्ष के विरोध को शान्त करने के लिये समन्वय की आवश्यकता होती है। किन्तु यह समन्वय भी अपूर्ण होने के कारण फिर पक्ष बन जाता है और अपने प्रतिपक्ष को जन्म देता है। फिर समन्वय की आवश्यकता होती है और इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम निरपेक्ष विज्ञान पर नहीं पहुँच जाते। निरपेक्ष विज्ञान पूर्ण समन्वयात्मक होने के कारण फिर पक्ष नहीं बनता।

पार्मेनाइडीज का परम तत्व सन्मात्र होने के कारण शून्यवत् था। वह स्थिर और प्रगतिरहित स्थाणुवत् था। हेरेक्लाइटस ने केवल परिवर्तन और भेद को स्वीकार किया। वे यह भूल गये कि परिवर्तन और भेद के लिये अपरिणामी तत्व और अभेद की अपेक्षा रहती है। प्लेटो और एरिस्टॉटल ने 'भेद में अनुस्यूत अभेद' की कल्पना तो की, किन्तु वे इसका सफल प्रतिपादन नहीं कर सके। प्लेटो का परमार्थ 'पर' हो गया और एरिस्टॉटल का दर्शन द्वैतवाद में फँस गया।

स्पिनोज़ा का निर्विशेष परम तत्व 'सिंह की गुहा के समान है जिसमें पशुओं के अन्दर जाने के पद-चिन्ह तो दिखाई देते हैं, किन्तु बाहर आने के नहीं।' यह परम तत्व समस्त विश्व का भक्षण कर जाता है। इसमें भेद और प्रपञ्च को कोई स्थान प्राप्त नहीं। लाइबनित्ज़ ने विकासशील विज्ञानवाद को तो अपनाया, किन्तु परमार्थ को खण्डशः करके बिखेर दिया। प्रत्येक चिदणु अपनी सीमा में ही पूर्ण मान लिया गया और गुण-गत भेद का निराकरण करने से चिदणुओं की अपनी कोई विशेषता न रह सकी। इनके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक विवेचन नहीं हो सका। लॉक, बर्कले और ह्यूम के इन्द्रियानुभववाद ने विज्ञान को प्रतिबिम्ब मात्र मान कर क्रमशः अज्ञेयवाद, दृष्टिसृष्टिवाद और सन्देहवाद की शरण ली। कान्ट ने बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के संघर्ष को तो मिटा दिया, किन्तु वे स्वयं द्वैतवाद और अज्ञेयवाद के पंजे में फँस गये। प्रज्ञा को उन्होंने नियामक मात्र मान कर इन्द्रिय-सम्वेदनों से बाँध दिया। सम्वेदन भी वस्तुतः विज्ञान के ही क्षीण रूप हैं। प्रज्ञा द्वन्द्वात्मक विरोधों को जन्म देती है, किन्तु प्रज्ञा में इन विरोधों का समन्वय करने की भी शक्ति है। कान्ट इस समन्वय-शक्ति को भूल गये। उनके बुद्धि-विकल्प खोखले साँचे ही रह गये, जब कि वास्तव में वे विज्ञान-विकास के विविध स्तर हैं। फ़िश्टे अपने नैतिकवाद में ही मस्त रहे और प्रकृति को बाधा मान कर उस पर विजय प्राप्त करना ही मानव की संकल्प-शक्ति का ध्येय मान लिया गया। शेलिंग का निर्विशेष परम तत्व "उस काल-रात्रि के समान है जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं।" इसमें भेद को कोई स्थान नहीं। हेगल के अनुसार उनका दर्शन इन सब कमियों को दूर करता है और इन सब विरोधिमतों का पूर्ण समन्वय है।

निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त विज्ञान के रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान (Idea-in-itself) ज्ञाता जीव का समष्टिरूप है। यह अपूर्ण है और ज्ञेय विषय की ओर इंगित करता है। तब यह बाह्य प्रकृति का रूप लेता है (Idea-outside-itself) जो विषय-जगत् का समष्टिरूप है । पहले इसकी प्रतीति जड के रूप में होती है। फिर वनस्पति-जगत् के रूप में इसमें प्राणशक्ति का स्फुरण होता है। और पशु-जगत् में प्राणशक्ति सम्वेदन-शक्ति का रूप लेती है तथा विज्ञान के किनारे तक पहुँच जाती है। तब अमूर्तविज्ञान और बाह्यविज्ञान का समन्वय स्व-चेतन विज्ञान या मूर्त विज्ञान या आत्म-तत्व (Idea-in-and-for-itself) के रूप में प्रारम्भ होता है। इस समय चेतना और स्वतन्त्रता का विकास होता है। यह विकास मानव सभ्यता और संस्कृति में प्रतिफलित होता है। विज्ञान का द्वन्द्व-मूलक समन्वय इतिहास में भी लागू होता है। विज्ञान का प्रतिभास अधिकार-रक्षा, नैतिक चेतना और सामाजिक संस्थाओं के रूप में होता है। सामाजिक संस्थायें परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में

विकसित होती हैं। फिर कला, धर्म और दर्शन का विकास होता है। दर्शन इस निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। दर्शन आत्म-विज्ञान है और आत्मा, जीव तथा प्रकृति का समन्वय है। प्रकृति में इतनी शक्ति नहीं कि वह विज्ञान के विकास को रोक सके; उसे विज्ञान के आगे आत्म-समर्पण करना पड़ता है और विज्ञान-भोग्या बन कर वह कृतार्थ होती है। जब विज्ञान प्रकृति का आलिङ्गन करके अपने समन्वयात्मक स्वरूप की ओर लौटता है, तो वह मूर्त विज्ञान बन जाता है। यह वह अमूर्त विज्ञान नहीं रहता जिसने इस विकास-यात्रा के लिये प्रस्थान किया था। यह अब समन्वयात्मक स्व-चेतन विज्ञान है। इसने आत्म-लाभ कर लिया है। यह निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान है। अमूर्त विज्ञान बालक के समान था। मूर्त विज्ञान वयो-वृद्ध और ज्ञान-वृद्ध पुरुष के समान है। यदि बालक और वृद्ध एक ही सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करें, तो भी उस प्रतिपादन में भारी अन्तर है। बालक उस सत्य का उच्चारण मात्र करता है। उसने उस सत्य के वास्तविक अर्थ को अनुभूत नहीं किया है। किन्तु जब वृद्ध उस सत्य का प्रतिपादन करता है तो उसके पीछे उसके जीवन भर का अनुभव अन्तर्निहित है। इसी प्रकार समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान की अपने तुतले शब्दों में अपूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं, और यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

यह हेगल के दर्शन का सार है। हेगल का प्रभाव प्रत्येक परवर्ती पाश्चात्य दार्शनिक पर किसी न किसी रूप में पड़ा है। हेगल के बाद का पाश्चात्य दर्शन हेगल का खण्डन या मण्डन किये बिना आगे नहीं सरक पाया है। इस प्रभाव को बताने के लिये सारे समसामयिक पाश्चात्य दर्शन का वर्णन करना होगा, जो यहाँ शक्य नहीं। सम-सामयिक पाश्चात्य दर्शन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।

हेगल का प्रभाव पाश्चात्य दर्शन के ज्ञाता कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा भारतीय दर्शन में भी घसीट लिया गया है। हेगल के निरपेक्ष विज्ञान की तुलना शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य के ब्रह्म से प्रायः की जाती है। अतः इस विषय का स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो गया है। यह सत्य है कि शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य के कुछ सिद्धान्तों से हेगल सहमत हैं, किन्तु इनमें मार्मिक मतभेद भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं हेगल को भारतीय दर्शन का कोई ज्ञान नहीं था। एशिया भर की सभ्यता, संस्कृति और कला, धर्म एवं दर्शन को हेगल हीन दृष्टि से देखते थे और इस विषय में उनके विचार क्षुद्र ही नहीं, हास्यास्पद भी हैं। शाङ्कर वेदान्त, रामानुजवेदान्त और हैगलिक दर्शन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की समानता और विभिन्नता का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाता है।

हेगल परम तत्व को निरपेक्षपूर्णविज्ञानरूप मानने में और जीव-जगत् रूपी समस्त विश्व को इस पूर्ण विज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र मानने में शङ्कराचार्य से सहमत हैं। किन्तु इस अभिव्यक्ति को हेगल विवर्त मात्र नहीं मानते। विश्व

अविद्या या माया का प्रपञ्चमात्र नहीं है। हेगल रामानुजाचार्य से इस विषय में सहमत हैं कि अविद्या परमतत्व के विकास की असली शक्ति है, कि परम तत्व निर्विशेष नहीं है, कि निर्विशेष का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, कि सन्मात्र शून्यवत् है, कि जीव-जगत्-रूप या चिदचिद्रूप अखिल विश्व परम तत्व का विशेषण है, कि भेद अभेद के आश्रय पर टिकता है, कि भेद गौण होता है और अभेद मुख्य, कि परम तत्व पूर्ण विशिष्टाद्वैतरूप और अशेषकल्याणगुणराशि है, कि परम तत्व अखिल विश्व में अन्तर्यामी है, कि विश्व शरीर है, अवयव है, अंग है और परमतत्व शरीरी, अवयवी, अंगी या आत्मा है। किन्तु हेगल रामानुजाचार्य के धार्मिक सिद्धान्तों से बिलकुल सहमत नहीं। हेगल परमतत्व को कभी 'पर' या 'पुरुषोत्तम' नहीं मान सकते। ईश्वर के प्रसाद या करुणा का महत्व ,भक्ति-मार्ग का प्राधान्य, आत्म-निक्षेप का माहात्म्य, परा भक्ति का निर्विकल्प ज्ञान में परिणत होकर मोक्ष का कारण बनना, जगत् को बन्धनस्वरूप मानना, चित् और अचित् में सर्वथा पार्थक्य मानना, अचित् को चित् से भिन्न तत्व मानना, नित्यविभूति और लीलाविभूति का भेद, जीवों में परस्परभेद आदि सिद्धान्त हेगल को सर्वथा अमान्य होते। शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों श्रुति को सर्वोच्च प्रमाण और निर्विकल्प अनुभूति को परम तत्व मानते हैं। हेगल मानव-ज्ञान को छोड़कर और कोई प्रमाण नहीं मान सकते। निर्विकल्प अनुभूति के हेगल परम शत्रु हैं। उनके अनुसार "रहस्यमयी निर्विकल्प अनुभूति को स्वीकार करना मानवेतर बन कर मानवता की जड़ों को कुचल देना है।" उनके अनुसार जो दर्शन मानव-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य श्रुति आदि को प्रमाण मानता है वह अपनी अशक्ति को स्वीकार करता है। हेगल परम तत्व को कभी अनिर्वचनीय, अज्ञेय या अवाङमनोगोचर नहीं मान सकते। हेगल शङ्कराचार्य के परब्रह्म को भी पार्मेनाडीज़, स्पिनोज़ा या शेलिंग के परम तत्व के समान काल्पनिक बता कर उसका प्रबल खण्डन करते। शङ्कराचार्य के अनुसार हेगल का परम तत्व वास्तविक परमार्थ न होकर मानव-निर्मित या हेगल-कल्पित परमतत्व होता। बिना निर्विकल्प अनभूति को माने तत्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता। स्व-चेतन और समन्वयात्मक अनुभूति हमारी सविकल्प बुद्धि की सर्वोच्च अनुभूति है, किन्तु यह परम तत्व नहीं है। परम तत्व इसके भी परे है। वह विशुद्ध स्वानुभूति का, जिसमें किसी प्रकार के द्वैत-प्रपञ्च का लेशमात्र स्पर्श भी न हो, विषय है। यही वास्तविक आत्म-ज्ञान है। हेगल का 'आत्मा' अविद्या-संवलित जीव है जो विकास के चक्कर में फँस रहा है। इस अविद्या-चक्र से छुटकारा पाने पर ही तत्व का साक्षात् दर्शन हो सकता है। दर्शन इस स्वानुभूति का साधनमात्र है। हेगल इस स्वानुभूति की कल्पना तक नहीं कर सके।

परिशिष्ट : परिभाषिक शब्दावली

Absolute	...	निरपेक्ष
Abstract	...	अमूर्त; काल्पनिक
Abstract Idea	...	अमूर्त या काल्पनिक विज्ञान
Asthetics	...	सौन्दर्य शास्त्र
Affirmative	...	विधिरूप या विधानात्मक
Agnostic	...	अज्ञेयवादी
Agnosticism	...	अज्ञेयवाद
Analysis	...	विश्लेक्षण; वियोजन
Analytical	...	वियोजक; विश्लेषणात्मक
Anti-thesis	...	प्रतिपक्ष; विपक्ष
Antinomy	...	विरोध
A priori	....	अनुभव-निरपेक्ष; स्वतःसिद्ध
Atheism	...	अनीश्वरवाद
Atomism	...	परमाणुवाद
Attribute	...	गुण; धर्म
Appearance	...	विवर्त; आभास
Category	...	बुद्धि-विकल्प; धारणा
Categorical	...	विधि-रूप
Cause	...	कारण
Causality	...	कार्यकारणभाव
Change	...	परिवर्तन; परिणाम
Character	...	धर्म
Classification	...	वर्गीकरण
Concept	...	विकल्प; धारणा; विज्ञान; प्रत्यय
Conception	...	विज्ञान; प्रत्यय; धारणा; विकल्प
Conceptualism	...	सामान्य-विशिष्ट-व्यक्तिवाद
Conclusion	...	निष्कर्ष
Consciousness	...	चित्-शक्ति; चेतना; चैतन्य; विज्ञान
Conscious	...	चेतन
Contingent	...	अनिश्चित; सम्भावित
Continuity	...	प्रबाह; सन्तान; धारा

Contradiction ... विरोध
Contradictory ... आत्यन्तिक विरोधी
Cosmology ... सृष्टि-विज्ञान
Cosmological Argument ... कार्यकारणभावमूलक तर्क
Critical Philosophy ... आलोचनात्मक दर्शन
Critique ... परीक्षा
Coherence ... संगति; संवाद, अविसंवाद
Consistency ... संगति; अविरोध
Concrete ... मूर्त; सत्; वास्तविक
Deduction ... निगमन
Definition ... परिभाषा
Demonstrative ... परोक्षप्रमाणसिद्ध; उपपन्न
Determinism ... नियतवाद
Dialectic ... द्वन्द्वात्मक तर्क, द्वन्द्व-नियम
Dogmatism ... अन्ध-विश्वास
Dualism ... द्वैतवाद
Dynamic ... गत्यात्मक; चल
Degrees ... स्तर
Effect ... कार्य
Efficient Cause ... निमित्त कारण; शक्त कारण
Element ... तत्व
Emotion ... भावावेग; मनोवेग, भावना
Empirical ... इन्द्रियानुभवात्मक
Empiricism ... इन्द्रियानुभववाद
Epistemology ... ज्ञान-मीमांसा
Ethics ... आचार-शास्त्र; नीतिशास्त्र
Evolution ... विकास
Experience ... अनुभव
Existence ... सत्ता; स्वभाव; सत्
Extension ... विस्तार
Extreme ... आत्यन्तिक
Faith ... श्रद्धा; विश्वास
Feeling ... वेदना; सम्वेदन
Final Cause ... लक्ष्य-कारण

Finite	...	परिमित; परिच्छिन्न, सीमित; सापेक्ष
Force	...	शक्ति
Form	...	सामान्य; विज्ञान; स्वरूप
Gnosticism	...	ज्ञेयवाद
Good	...	श्रेय
Harmony	...	एकतन्त्रता; सामञ्जस्य; एकरूपता
Hedonism	...	सुख-वाद
Humanism	...	मानव-वाद
Hypothesis	...	विकल्प
Hypothetical	...	हेतुफलाश्रित
Idea	...	विज्ञान; सामान्य; विचार; प्रत्यय
Idea of the Good	...	विज्ञानस्वरूप शिवतत्व
Idealism	...	विज्ञानवाद
Identity	...	तादात्म्य; सारूप्य
Immanent	...	अन्तर्यामी
Impression	...	इन्द्रिय-संस्कार
Individual	...	व्यक्ति; विशेष
Induction	...	आगमन
Inference	...	अनुमान
Infinite	...	असीम; अपरिमित; अपरिच्छिन्न; भूमा
Innate	...	सहज
Instinct	...	मूलप्रवृत्ति
Intellect	...	बुद्धि; मति; युक्ति; तर्क; सविकल्प ज्ञान
Introspection	...	स्वसम्वेदन
Intuition	...	प्रज्ञा; अन्तर्बोध; स्वानुभूति; अपरोक्षानुभूति; ;प्रत्यक्ष
Internal Relation	...	अन्तरंग सम्बन्ध; आन्तरिक सम्बन्ध
Idols	...	अन्धविश्वास
Judgment	...	न्याय-वाक्य
Knowledge	...	ज्ञान
Logic	...	तर्कशास्त्र; न्यायशास्त्र
Materialism	...	भौतिकवाद; जडवाद
Matter	...	जडतत्व; अचित्; पुद्गल; विषय
Mechanical	...	यान्त्रिक

Metaphysics ... दर्शनशास्त्र; तत्व-शास्त्र
Method ... पद्धति; प्रणाली
Method of Doubt ... सन्देह-पद्धति
Mind ... आत्मा; जीव; बुद्धि
Mode ... पर्याय; प्रकार
Monad ... चिदणु
Monism ... अद्वैतवाद
Moral Sense ... नैतिक बुद्धि
Motion ... गति; परिणाम
Mysticism ... रहस्यवाद
Nature ... प्रकृति; जगत्; स्वभाव
Necessary ... अनिवार्य
Nominalism ... व्यक्तिवाद; नामवाद
Notion ... अन्तर्बोध; प्रज्ञा; निर्विकल्पानुभूति
Noumenon ... वस्तु; पदार्थ; सत्; परमार्थ; स्वलक्षण
Negation ... निषेध
Object ... विषय
Objective ... वास्तविक; बाह्य
Occasionalism ... निमित्तवाद
Ontology ... वस्तु-विज्ञान; तत्व-विज्ञान; तत्व-मीमांसा; दर्शन
Ontological Argument ... सत्तामूलक तर्क
Pantheism ... सर्वेश्वरवाद
Parallelism ... समानान्तरवाद
Particular ... व्यक्ति; विशेष
Percept ... सम्वेदन
Perception ... प्रत्यक्ष
Perceptual Knowledge ... प्रत्यक्ष-ज्ञान
Petito Principii ... सिद्धसाधनदोष; चक्रकदोष
Phenomenal ... दृश्य; विषय; व्यावहारिक
Phenomenon ... दृश्य जगत्; व्यवहार; प्रतीति-विषय; संवृति; परतन्त्र; सदसद्विलक्षण
Philosophy ... दर्शनशास्त्र; तत्वमीमांसा
Physics ... भौतिक-विज्ञान

Pluralism	...	प्रपञ्चवाद; भेदवाद
Positivism	...	इन्द्रियप्रत्यक्षवाद
Practical	...	व्यावहारिक
Practical Reason	...	आचारमूलक ज्ञान
Predicate	...	विधेय
Pre-established Harmony	...	पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य
Premise	...	आधार-वाक्य
Principle of Continuity	...	अविच्छिन्नता-सिद्धान्त
Primary Qualities	...	मूलगुण
Probable	...	सम्भावित
Problematic	...	सन्दिग्ध
Properties	...	धर्म; गुण
Proposition	...	न्याय-वाक्य
Psychological	...	मनोवैज्ञानिक
Pragmatism	...	उपयोगितावाद
Plane	...	भूमिका; भूमि
Personality	...	व्यक्तित्व
Pure Reason	...	शुद्ध ज्ञान
Quality	...	धर्म; गुण
Quantity	...	परिमाण
Rational	...	बौद्धिक; संगत; अविरुद्ध
Rationalism	...	बुद्धिवाद
Realism	...	वस्तु-वाद; यथार्थवाद
Reality	...	तत्व; वस्तु; सत्; परमार्थ
Reason	...	प्रज्ञा; ज्ञान; हेतु
Reasoning	...	तर्क
Reflection	...	स्वसम्वेदन; चिन्तन
Relative	...	सापेक्ष
Renaissance	...	सांस्कृतिक पुनर्जन्म
Rest	...	स्थिति

Sceptic ... सन्देहवादी
Scepticism ... सन्देहवाद; संशयवाद
Scholasticism ... शास्त्रीय विचारधारा
Secondary Qualities ... उपगुण
Self, Soul, Spirit ... आत्मा; जीव; जीवात्मा; चित्; चैतन्य
Sensation ... इन्द्रिय-सम्वेदन; सम्वेदन; वेदना
Sensibility ... सम्वेदना
Self-conscious ... स्व-चेतन
Sensationism ... सम्वेदनवाद
Sense Knowledge ... इन्द्रिय-ज्ञान; प्रत्यक्ष-ज्ञान
Solipsism ... सर्वाहंवाद
Space ... आकाश; देश
Sub-conscious ... उपचेतन
Subject ... विषयी; ज्ञाता
Subjectivism ... जीवात्मवाद
Subjective Idealism ... दृष्टिसृष्टिवाद; जीवसृष्टविज्ञानवाद
Sufficient Reason ... यथेष्ट हेतु
Supra-rational ... द्वन्द्वातीत; निर्विकल्प
Substance ... द्रव्य; तत्व; पदार्थ; सत्
Synthesis ... संश्लेषण; समन्वय; संयोजन
Synthetic ... संयोजक
System ... समष्टि; व्यक्ति; समन्वयात्मक तत्व
Teleology ... लक्ष्य; उद्देश्य; प्रयोजन
Telological Argument ... उद्देश्यमूलक तर्क
Theoritical ... काल्पनिक; मानसिक
Theory ... वाद; सिद्धान्त; मत
Thesis ... पक्ष
Thing-in-itself ... स्वलक्षण; वस्तु-सत्; परमार्थ
Transcendental ... पर; पार; परे; विकल्पातीत; इन्द्रियानुभवातीत

Transcendental Realism	...	सामान्यवाद
Truth	...	सत्य
Unconscious	...	अचेतन
Understandng	...	बुद्धि; मति; तर्क; सविकल्पक ज्ञान
Unique	...	विशिष्ट
Unity	...	एकरूपता; अद्वैत; अभेद
Universal	...	सार्वभौम; निश्चयात्मक; सामान्य
Validity	...	प्रामाणिकता
Whole	...	समष्टि; सम्पूर्ण
Will	...	इच्छा; संकल्प; कृति-शक्ति